हमारे शरीर की रचना

अध्याय १५

पोषण संस्थान (१)

जब सेलें कोई काम करती हैं तब उन के प्रोटोप्लाज़्म (जीवनमूल) में बड़ी ही विचित्र रसायनिक क्रियाएं होती हैं। इन क्रियाओंसे शक्ति उत्पन्न होती है जिस का अधिकांश कार्य के रूप में दिखाई दिया करता है। कार्य करने से सेलें घिसती और टूटती फूटती भी हैं। यदि सेलों को उन पदार्थों की जगह जिनका शक्ति उत्पन्न करने मे व्यय होता है नये पदार्थ न मिले और उनके टूटे फूटे भाग फिर ज्यों के त्यों न बन जावें तो शरीर का सब कारोबार क्षण भर में बंद हो जावे। परन्तु ऐसा नहीं है। जिस प्रकार अमीबा अपने शरीर के खर्च हुए पदार्थों की जगह उस जल में से जिस में वह रहता है नये पदार्थ ग्रहण करता रहता है उसी प्रकार हमारे शरीर की सेले भी उस लिम्फ (या लसीका) से जो उनके पास रहता है पोषणकारक और शक्ति उत्पादक पदार्थ ग्रहण करती रहती हैं। लिम्फ रक्तसे उत्पन्न होता है। रक्त में ये पदार्थ भोजन से आते हैं। जो भोजन हम खाते हैं उस पर शरीर में रसायनिक क्रियाएं होती हैं। इन क्रियाओं के पश्चात् उसमें से वे पदार्थ जिनकी शरीर में आवश्यकता होती है शरीर में रह जाते हैं; जिन चीजों की आवश्यकता

नही होती या जो चीज़े पच नही सकती वे मल (विष्ठा) रूप में शरीर से बाहर निकल जाती हैं।

शरीर का रसायनिक संघट्टन

रसायनिक परीक्षा से शरीर में दो प्रकार के पदार्थ मिलते हैं:—

१ **खनिज** या **निर्जीव** पदार्थ।

२. **सजीव** या **जान्तव** पदार्थ—ये पदार्थ सजीव इस कारण कहलाते हैं कि वे केवल सजीव सृष्टि (अर्थात् वनस्पतियों वा प्राणियों में) ही में पाए जाते हैं, निर्जीव सृष्टि (जैसे कंकर, पत्थर) में नही।

खनिज पदार्थ

ये ऐसे होते हैं जैसे जल, अमोनिया गैस, नमक का तेज़ाब (हाइड्रोक्लोरिक अम्ल); भांति भांति के लवण जैसे खटिक संयोजित, साधारण लवण, स्फुरित (फोस्फेट्स), गंधित (सल्फेट्स) इत्यादि।

सजीव पदार्थ

इन सभों में कर्बन अवश्य पाया जाता है। ये पदार्थ दो प्रकार के होते हैं:—

१ **नत्रजनीय**-इनमें कर्बन के अतिरिक्त नत्रजन भी अवश्य होती हैं जैसे कई प्रकार की प्रोटीनें। प्रोटीनों के अतिरिक्त और भी कई नत्रजनीय पदार्थ होते हैं जैसे यूरिया, यूरिक अम्ल।

२. **अनत्रजनीय** या **नत्रजनविहीन**-इनमें नत्रजन नही होती जैसे वसा (चरबी), शर्करा (शकर), श्वेतसार (मांड)।

गया है कि एक गांव में ऐसी समिति अच्छी तरह चल रही है। उन्होंने ७५) रु० मासिक पर एक मैनेजर रख लिया है। मैंने उनसे कहा कि जब तक उनका कारोबार अधिक न हो १०००) रु० वार्षिक खर्च उठाना उनके लिए कठिन होगा। मध्य प्रदेश में इन समितियों के संचालन का एक अच्छा ढंग निकाला गया है जिसमें सदस्य ही निःशुल्क सारा काम करते हैं। मान लीजिये किसी समिति के १०० सदस्य हैं। उनकी ४-४ की २५ टुकड़ियां बनायी जायं और हर टुकड़ी एक-एक सप्ताह प्रतिदिन २ घण्टे समिति की दूकान पर काम करे तो प्रत्येक टुकड़ी को दो साल में केवल दो बार काम करना पड़ेगा और संचालन में एक पैसा भी खर्च न होगा। मैंने गांव वालों को यह ढंग बताया तो उन्हें भी पसन्द आया और उन्होंने ऐसा ही करने का वचन दिया।

गांवों में चिकित्सा की सुविधाओं का दुःखद अभाव है। लोगों को डाक्टर के पास जाने के लिए १०-१२ मील तक चलना पड़ता है। इसका एक उपाय यह हो सकता है कि कुछ अच्छी दवाओं के बक्से गांवों में शिक्षकों आदि सामाजिक कार्यकर्त्ताओं के पास रख दिये जायें और वे दवायें बांटा करें। जो लोग दे सकते हैं वह १-२ आने डिब्बे में डालते रहें इस प्रकार दवाइओं का कुछ खर्च निकलता रहेगा। वैसे अच्छा यही है कि हमारे डाक्टर ही इस काम में गांव वालों की सहायता करें।

निःस्वार्थ कार्यकर्त्ता

भारत के डाक्टरों को मैं निःस्वार्थ जन-सेवक समझता हूँ। हम लोग नहीं जानते कि डाक्टर लोग अपने ग़रीब रोगियों की मुफ्त चिकित्सा में कितना समय लगाते हैं! मैं जानता हूं कि दिल्ली के बड़े-बड़े डाक्टर हर रोज़ अस्पतालों में जाकर मुफ्त काम करते हैं। अतः जब मैंने इन गांवों में विशेष कर बच्चों के लिये चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाओं का अभाव देखा तो मुझे एक विचार सूझा कि यदि सभी चिकित्सिक चाहे वे निजी प्रेक्टिस करते हों, अथवा सरकारी डाक्टर हों तथा जिले के अधिकारी आपस में मिल कर ग्रामवासियों के लिये चिकित्सा का प्रबन्ध करने के लिए प्रयत्न करें, तो कितना अच्छा हो। जिले के अधिकारी सप्ताह में एक या दो बार, ३-४ घण्टों के वास्ते डाक्टरों के गांवों में, आने जाने के लिये कोई सवारी का प्रबन्ध करदें, तो डाक्टर आसानी से आसपास के १०-१२ मील के

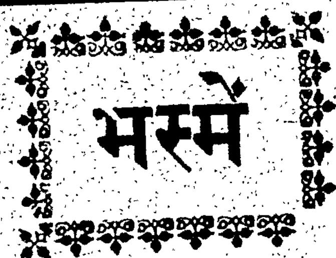
दायरे में स्थित गांवों में जाकर इलाज कर सकते हैं। तब डाक्टर नियमित रूप से निर्धारित समय और स्थान पर पहुंच सकते हैं, जहां आसपास के गांवों के निवासी उत्सुकता से उनकी प्रतीक्षा करेंगे और उनकी चिकित्सा का लाभ उठा सकेंगे। इस योजना का बहुत स्वागत किया गया है और हर्ष की बात है कि जिले के अधिकारियों ने आस पास के डाक्टरों के सहयोग से, इस योजना को अमल में लाने की तत्परता दिखाई।

पंचायत घर

पंजाब के ये गांव एक बात में बड़े सौभाग्यशाली हैं कि प्रत्येक गांव में एक अच्छी चौपाल या पंचायत घर मौजूद है, जो सदियों से गांवों के सामूहिक जीवन के केन्द्र रहे हैं। इन पंचायतघरों का अब अनेक प्रकार से विकास हो रहा है। पंचायतघरों में बहुत से समाचार पत्र आते हैं। लोग इन्हें पढ़ते हैं। ग्रामवासी अब न्याय पंचायतों तथा प्रशासनिक पंचायतों के लाभों को समझते हैं और वयस्क मताधिकार के कारण गांव के लोगों में अब जागृति फैल रही है। अब ग्रामवासियों में अपने मान, प्रतिष्ठा के भाव जगे हैं। पुराने जमाने में लोग स्त्रियों को दासी समझते थे। उनका काम गृहस्थी चलाना ही समझा जाता था। मुझे यह जान कर बड़ा अचरज हुआ कि सदियों पुरानी रूढ़ियों में स्त्रियों को चौपाल, पंचायतघर आदि स्थानों में जाना मना था। मेरे अनुरोध पर इन तीन गांवों के लोगों ने इस कुरीति को सदा के लिये छोड़ दिया, और वह दृश्य देखने लायक था जब गांवों की स्त्रियां जीवन में पहली बार ग्रामवासियों के साथ पंचायत घर में आकर बैठीं और भाषण सुने।

मैंने ग्रामवासियों से कहा कि हमारे देश की महिलाएं मर्दों से कई दृष्टियों से बहुत अच्छी हैं। वह कठिन परिश्रम करती हैं। परिवार में उनकी निःस्वार्थ निष्ठा की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है और मर्दों की तरह अदालत में सफेद झूठ तो महिलाएं कभी भी नहीं बोलतीं। इस आखिरी बात को सुन कर सभी लोग हंस पड़े।

बस एक सुझाव देकर मैं अब इस बात को खत्म करता हूँ। शहरों के रहने वाले जितनी बार हो सके, अपने परिवारों के साथ गांवों में जायं तब वे ग्रामीण भाइयों और बहनों के उत्कृष्ट उच्च चरित्र को समझ सकेंगे और उनके हार्दिक स्नेह को प्राप्त कर सकेंगे।



धातु अथवा उपधातुओं, रत्नों और उपरत्नों की भस्में बनाने अथवा उन्हें मारण करने का अर्थ है, उनके सूक्ष्म परमाणुओं को अत्यन्त सूक्ष्म, निरुत्थ और सेन्द्रिय घटक युक्त बनाना, ताकि सेवन करने पर वे शरीर में भली प्रकार सात्म्य होकर उपकारक हो सकें और कोई हानि उत्पन्न न करें। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि जड़ द्रव्यों की जड़ता को दूर कर उन में शरीरोपयोगी लघुत्व गुण को उत्पन्न करने के उद्देश्य से भस्में बनाई जाती हैं।

धातु-उपधातुओं की भस्म बनाने से उनका धातुत्व नष्ट हो जाता है ऐसा नहीं समझना चाहिये। धातुत्व नष्ट होना सम्भव ही नहीं है। भस्म चाहे जितनी ही सूक्ष्म बनाई जाय किन्तु वह धातु फिर भी अपना मूल स्वभाव (गुण विशिष्ट) नहीं छोड़ती ऐसा प्रयोगों से सिद्ध हो चुका है। निश्चय ही भस्म का अर्थ राख नहीं है; भस्म और राख में बहुत बड़ा अन्तर है। भस्में अति तेजस्वी, वीर्यवान और गतिवान होने से शीघ्र फलदायक हैं। वास्तव में भस्में तैयार करने में सेन्द्रिय क्षार का संयोग धातु के साथ इस प्रकार कराया जाता है। कि भस्में सेन्द्रिय बनकर शरीरोपयोगी हो जाती हैं।

सुवर्ण, रौप्य, लौह, वंग, यशद, मण्डूर, मुक्ता, मुक्ता शुक्ति, प्रवाल तथा अन्य रत्नोपरत्न स्वभाव से सौम्य हैं। ताम्र, संखिया, हरताल आदि उग्र हैं। हमारी फार्मेसी में धातु, उपधातुओं, रत्नों, उपरत्नों के शोधन पर विशेष ध्यान दिया जाता है। शास्त्रीय विधि के अनुसार ही पुट और भावना देकर भस्में तैयार की जाती हैं अतः हमारी भस्में पूर्ण रूप से निर्दोष और शीघ्र फल दिखाने वाली हैं।

अकीक भस्म—दिल की कमजोरी, नेत्ररोग, रक्तपित्त, विशेषतः थूक के साथ खून आने में अत्यन्त लाभ करती है। मात्रा—२ से ४ रत्ती तक।

अभ्रक भस्म—अभ्रक भस्म शुद्ध हिमालय के वज्राभृक से बनाई जाती है। यह रसौषधि न होते हुए भी संयोगवाही है। अनुपान और संयोग भेद से, ज्वर, खांसी, यक्ष्मा, श्वास, जीर्ण ज्वर, प्रमेह प्रदर, वातविकार, अम्लपित्त, संग्रहणी, पाण्डु, हृदय दौर्बल्य नपुंसकता आदि में लाभ करती है।

अभ्रकभस्म में जितने पुट ज्यादा दिये जायेंगे उतनी ही गुण वृद्धि होती है। साधारणतया २१ पुटी, ६० पुटी, १०० पुटी, ५०० पुटी, १००० पुटी अभ्रक भस्म तैयार की जाती है।

अभ्रक श्वेत भस्म (र. सु.)—विषम ज्वरों में तृषा शामक है। मात्रा २ से ४ र० तक

कपर्दिका भस्म (भा. पु.)—उदर शूल, परिणाम शूल, मन्दाग्नि और अम्लपित्त में अत्यन्त लाभ करती है। मात्रा—१ से २ र० तक

कहरवा भस्म (फा. मि.)—रक्तपित्त, रक्तप्रदर, नकसीर, अर्श तथा हृदय की दुर्बलता में बहुत अच्छा लाभ करती है। मात्रा—½ से २ र०

कान्त लौह भस्म (र. सु.)—पाण्डु, रक्ताल्पता, जिगर की खराबी, अर्श और अशक्ति में लाभ करती है। मात्रा १ से २ र० तक

कांस्य भस्म (आ. प्र.)—प्रमेह रक्तविकार, स्त्रियों के गर्भाशयदोष और उदरकृमि में अच्छा लाभ करती है। मात्रा १ से २ रत्ती तक।

कसीस भस्म (फा. वि.)—यकृत्वृद्धि, प्लीहा वृद्धि, पाण्डु, रक्ताल्पता ज्वर के बाद की कमजोरी में लाभदायक है। मात्रा—१॥ से २॥ र० तक

कुक्कुटाण्डत्वक भस्म (वै. मृ.)—स्वप्न दोष, प्रमेह प्रदर, नपुंसकता और शारीरिक निर्बलता में लाभदायक है। मात्रा २ से ४ र० तक।

खर्पर भस्म (यो. र.)—प्रमेह, यक्ष्मा, ज्वर, मधुमेह, कास आदि अनेक रोगों में लाभ करती है। मात्रा १ से २ र० तक

गोदन्ती हरताल भस्म (आ. प्र.)—विषमज्वर तथा मलेरिया में अपूर्व लाभदायक है। मात्रा ४ से ८ र० तक।

गोमेद भस्म (र. का.)—अपस्मार, उन्माद, पक्षाघात तथा अन्य वातरोगों में पूर्ण लाभदायक है।। मात्रा २ से ४ र०

ज़हर मोहरा (पिष्टी) भस्म (यू. वि.)—बच्चों के हरे पीले दस्त, दूध डालना तथा सूखा रोग में लाभ दायक है। मात्रा ४ से ८ र० तक।

ताम्र भस्म (र. मु.)—कफ और वायु के विकार, ज्वर, खांसी, श्वास और पाण्ड में अच्छा लाभ करती है। मात्रा १ से २ र० तक।

तीक्ष्ण लौह भस्म (फा. वि.)—यह फौलादी भस्म फार्मेसी में खास तौर पर तैयार की जाती है। नपुंसकता, प्रमेह, कमज़ोरी और पाण्डु रोग में दिव्य प्रभाव प्रभाव करती है। मात्रा १ से २ र० तक

तुत्थ भस्म (र. रा. सु.)—रक्त विकार, मोसमी फोड़े, फुन्सी, चम्बल तथा सूजाक में अत्यन्त लाभ करती है। १/४ से १/२ र० तक।

नाग भस्म पीली (र. यो)—रक्तविकार, अपची, कण्ठमाला, धातुक्षीणता, प्रमेह, प्रदर और अशक्ति में लाभकारी है। मात्रा १ से ३ र० तक।

नाग भस्म (काली) (र. क.)— यह विशेष रूप से बाजीकर और कामोद्दीपक है। मात्रा १ से २ र० तक।

नीलम भस्म (र. का.)—हिस्टीरिया, हृदय दौर्बल्य, स्नायु दुर्बलता, यक्ष्मा तथा शारीरिक अशक्ति में परम लाभदायक है। मात्रा १/२ से १ र० तक

नीलांजन भस्म (फा. वि.)—(काले सुरमे की भस्म) यह कफ को पतला करके निकालती है और फुफ्फुसावरण के शोथ को दूर करने में बहुत अच्छा काम करती हैं।

पन्ना भस्म (यू. वि.)—हृदय की गति को नियन्त्रित करती है। त्रिदोष नाशक, बलवर्द्धक, कास, श्वास, और यक्ष्मा को दूर करती है। मात्रा १/२ से १ र० तक।

पारद भस्म श्वेत (र.त. स.)—उपदंश तथा उसके उपद्रवों का नाश करती है। मात्रा १/२ से १ र० तक।

प्रवाल भस्म (अग्निपुटी) (आ. प्र.)—कास, श्वास यक्ष्मा प्रदर और प्रमेह में चमत्कार पूर्ण लाभ दिखाती है। मात्रा १ से ३ र० तक

पुष्पराज (पुखराज) भस्म (र.क.)—शारीरिक निर्बलता, मन्दाग्नि, क्षय तथा विष दोषों में खूब फायदा करती है। मात्रा—१ से २ र० तक।

प्रवाल भस्म (चन्द्रपुटी) (फा. वि.)—(प्रवाल पिष्टी)–यह अग्नि पुटी भस्म की अपेक्षा सौम्य है अतः पित्त दोष, रक्तपित्त, अम्ल पित्तादि में भी अच्छा

चित्र १ श्वेतसार के दाने।



आ=आलू के श्वेतसार के दाने ; ग=गेहूं ,
मट=मटर , म=मकी ; च=चावल ,
स=सागोदाना , अ=अरारूट

लवण

शरीर में कई प्रकार के खनिज पदार्थ पाए जाते हैं; ये सोडियम, पोटेशियम, मग्निसियम, खटिक इत्यादि के लवण

होते हैं। प्रत्येक सेल के प्रोटोप्लाज़्म (जीवनमूल) में किसी न किसी प्रकार के लवण अवश्य पाए जाते हैं। किसी किसी अंग में खनिज पदार्थ अधिक होते हैं जैसे अस्थि में।

जल

जल प्रत्येक सेल का अत्यावश्यक अवयव है; कोई सेल नहीं, कोई तंतु नहीं जहां जल का कुछ न कुछ अंश न हो। शरीर के भार के १०० भागों में ६४ भाग जल के होते हैं। जल ओषजन और उद्जन का संयोजित है; उद्जन के दो परमाणु और ओषजन के एक परमाणु के रसायनिक संयोग से जल का एक अणु बनता है। जल का रसायनिक संकेत अ$_2$ ओ है (उद्जन को अभिद्रवजन भी कहते हैं, ओषजन का संकेत 'ओ' और अभिद्रवजन का 'अ' है)।

शरीर में प्रोटीनों, वसा और कर्बोज के ओषजनीकरण से जल उत्पन्न हुआ करता है। रक्त और लिम्फ़ का अधिक भाग जल ही होता है।

उपरोक्त पदार्थ (प्रोटीन, वसा, कर्बोज, लवण, जल) सब के सब यौगिक हैं अर्थात् एक से अधिक मौलिकों से बनते हैं। अब हम उन मौलिकों को गिनाते हैं जिन से ये यौगिक बनते हैं।

शरीर में पाए जाने वाले मौलिक

जितने मौलिक वैज्ञानिकों को मालूम हैं उन में से हमारे शरीर में केवल १६ मौलिक पाए जाते हैं:—

१. कर्बन	२ नत्रजन
३. ओषजन	४. उद्जन

५	गन्धक	११	श्राव (लीथियम)
६	स्फुर	१२	प्लव (फ्लोरीन)
७	सोडियम	१३.	हरिन (क्लोरीन)
८-	पोटेशियम	१४	नैल (अयोडीन)
९	खटिक	१५.	शैल (सिलीकोन)
१०	मग्निसियम	१६	लोह

इन के अतिरिक्त कभी कभी बहुत ही सूक्ष्म मात्रा में ताम्र (ताम्बा), मंगनीस, और सीसा भी पाए जाते हैं।

अनुमान है कि यदि किसी जवान मनुष्य के शरीर का जिस का भार १ $\frac{१}{२}$ (डेढ़) मन हो विश्लेषण किया जावे तो उस में इतने इतने मौलिक मिलेंगेः—

मौलिक	सेर	छटांक	तोला
१ ओषजन	४२	९	
२ कर्बन	७	४	२$\frac{१}{२}$
३ उदजन	५	१३	२$\frac{१}{२}$
४ नत्रजन	१	१४	२
५ खटिक	१	४	
६ स्फुर	...	११	
७. गन्धक		३	
८ हरिन	..	१$\frac{१}{२}$	
९ सोडियम	...	१$\frac{१}{४}$	

मौलिक	सेर	छटांक	तोला
१० पोटेशियम	...	१$\frac{१}{४}$	
११. प्लव	..	१$\frac{१}{४}$	
१२. मग्नेसियम	...	$\frac{३}{४}$	
१३. लोहा			[$\frac{१}{६}$] ३२ ग्रेन

शेष मौलिक अंश मात्र ही होते हैं।

योगिक पदार्थ कितने कितने होते हैं

हम केवल उन पदार्थों को लिखते हैं जो अधिक पाए जाते हैं:-

योगिक	सेर	छटांक	शरीर के भाग के प्रति १०० भाग
१ जल	४२	८	५७
२. वसा	१	१२	
३. कणरञ्जक	०	६$\frac{१}{२}$	
४ खटिक स्फुरित	३	५$\frac{१}{२}$	४३
५ खटिक कर्बनित	०	६	
६ प्रोटीन	१०	१२	
७ अन्य लवण	०	११	
			१००

शरीर के १०० भागों में ५७ भाग जल के होते हैं, शेष ४३ भाग अन्य चीज़ों के।

खाद्य (भोजन)

जिन पदार्थों से शरीर बना है और जिन से शक्ति उत्पन्न होती है वे सब भोजन में मौजूद होते हैं। जो चीज़ें हम खाते हैं अर्थात् जिनसे भोजन बनता है वे खाद्य द्रव्य कहलाती है।

भोजन से लाभ

१ भोजन से शरीर की सेलें अपनी बढ़ोत के लिये सामग्री प्राप्त करती हैं। सेलों के बढ़ने और उनकी संख्या अधिक होने से शरीर का बर्धन होता है।

२ शक्ति उत्पन्न होने के लिये शरीर में मसाला पहुंचता है; शक्ति ही से सब काम होते हैं।

खाद्य के मुख्य (मूल) अवयव

ये वही चीजें हैं जो शरीर में पाई जाती हैं अर्थात् :-

१ प्रोटीन

२. वसा (स्नेह पदार्थ-घृत, तैल इत्यादि)

३ कर्बोज

४ लवण

५ जल

किसी खाद्य द्रव्य में प्रोटीन अधिक होती है, किसी में वसा और किसी में कर्बोज। किसी में अधिकांश जल और लवण ही होते हैं।

अच्छे भोजन के लक्षण

१. अच्छे भोजन में मूल अवयव उतने उतने होते हैं जितने की शरीर में आवश्यकता होती है।

२ भोजन जलवायु और मनुष्य के स्वभाव और प्रकृति के अनुकूल होना चाहिये। आयु, ऋतु, मनुष्य का भार, शारीरिक और मानसिक परिश्रम, स्वास्थ्य और अस्वास्थ्य-इन बातों का भी लिहाज़ रखना चाहिये।

३ भोजन ऐसा होना चाहिये कि वह अच्छी तरह और आसानी से पच सके। भोजन जहां तक हो सके स्थूल और महाप्रमाण न हो।

भोजन के मूल अवयव कितने कितने खाने चाहियें

मामूली मानसिक और शारीरिक परिश्रम करने वालो को जिनका भार १$\frac{१}{२}$ मन के लग भग हो मूल अवयव निम्न लिखित परिमाण में खाने चाहियें:-

प्रोटीन ७०-८५ माशे (ग्राम)
वसा (स्नेह) ८५ माशे (ग्राम)
कर्बोज २२०-२५० माशे (ग्राम)

लवण, जल—कोई विशेष परिमाण की आवश्यकता नहीं

प्रोटीन, वसा और कर्बोज-इन तीनों में से प्रोटीन सेलो के बनाने के लिए बहुत आवश्यक है। मांस प्रोटीन से बनता है; शरीर के भार का आधे से कुछ ही कम मांस है [४२%]; इस से समझ लेना चाहिये कि प्रोटीन कैसी आवश्यक चीज़ है। जिस भोजन में प्रोटीन कम होती है उस भोजन को

खाने वाले सदा निर्बल रहते हैं और उन की मांस पेशियां पतली, कमज़ोर और पिचपिची होती हैं। मस्तिष्क से अधिक काम लेने वालों को-जैसे विद्यार्थी, अध्यापक, वकील, डाक्टर-भी प्रोटीन की अधिक आवश्यकता है।

जैसे प्रोटीन सेलों के बनाने के लिये आवश्यक है वैसे ही वसा और कर्बोज शरीर में शक्ति उत्पन्न करने के लिये आवश्यक है। प्रोटीन से भी शक्ति उत्पन्न होती है परन्तु शरीर की सेलें इस पदार्थ को शक्ति पैदा करने के लिये इतनी काम में नहीं लाती जितनी वसा और कर्बोज को। मानसिक परिश्रम करने वालों की अपेक्षा शारीरिक परिश्रम करने वालों को (फ़ौज के सिपाही, मज़दूर, पहलवान इत्यादि) इन पदार्थों की अधिक आवश्यकता होती है। शीत ऋतु में शरीर का ताप स्थिर रखने के लिये इन उष्णता उत्पादक पदार्थों की ग्रीष्म ऋतु की अपेक्षा अधिक आवश्यकता होती है।

कर्बोज और वसा (घृत, तैलादि) एक दूसरे की जगह काम दे सकते हैं अर्थात् यदि भोजन में वसा कम हो और कर्बोज काफ़ी हो तो शरीर को कुछ हानि न होगी और स्वास्थ्य खराब न होगा। इसी तरह यदि कर्बोज कम हो और वसा कुछ अधिक तब भी काम चल जायगा; इतनी बात अवश्य है कि वसा कर्बोज की अपेक्षा देर में पचती है और उतनी नहीं खाई जा सकती जितनी कि शर्करादि कर्बोज। गरीब मनुष्यों को वसा (घृतादि) बहुत कम प्राप्त होती है उन का काम कर्बोज [श्वेतसार, शकर] जैसी सस्ती चीज खाने से चल जाता है।

प्रोटीन भोजन में अवश्य होनी चाहिये विशेषकर वर्धन काल में (२५ वर्ष की आयु तक)· यदि २५ वर्ष से पूर्व प्रोटीन कम मिले तो वर्धन अच्छा न होगा। जवान मनुष्य के भोजन में ४०-४५ माशे से कम प्रोटीन न होनी चाहिये। प्रोटीन का काम वसा और फर्वोज नहीं कर सकते। जो जातियां प्रोटीन कम खाती हैं वे कमजोर होती हैं।

जितनी उष्णता को एक ग्राम (एक घन शतांश मीटर) या माशा जल के ताप क्रम को एक दर्जा शतांश अधिक करने के लिये आवश्यकता है वह उष्णता की एक "इकाई" कहलाती है। परीक्षा से यह मालूम किया जा सकता है कि किसी चीज के जलने से या ओषजनीकरण से उष्णता की कितनी "इकाइयां" उत्पन्न हुई। अर्थात् वह उष्णता एक ग्राम जल का ताप कितना चढ़ा सकती है। एक ग्राम शर्करा के जलने से (ओषजनीकरण) मे उष्णता की ३९५० इकाइयां बनती हैं।

इसी तरह और चीजों की इकाइयां ये है।

वसा ९४००

श्वेतसार ४१००

प्रोटीन ४१००

इन अंको से विदित है कि जहां तक उष्णता का संबध है ४१ ग्राम वसा ९.४ ग्राम प्रोटीन के बराबर है (प्रोटीन से उष्णता कम बनती है) या यह कहो कि १ भाग वसा २.३ भाग प्रोटीन के बराबर है। यही निसवत कर्वोज और वसा की है। शीत ऋतु में घृत का अधिक सेवन इसी कारण बहुत उपयोगी है।

इन तीनों मूल अवयवों के अतिरिक्त हम को जल और भांति भांति के लवणों की भी आवश्यकता है। प्रत्येक सेल में किसी न किसी प्रकार के लवण पाए जाते है। अस्थियां लवणों बिना (खटिक संयोजित) मज़बूत नहीं बनतीं। रक्त के कणरञ्जक के लिये लोह संयोजित की आवश्यकता है। लवण और जल शक्ति उत्पन्न करने के काम में नहीं आते। खनिज

लवणों (साधारण लवण, खटिक स्फुरित और कर्बनित, लोह संयोजित) के अतिरिक्त शरीर को सजीव लवणों और अम्लों की (जो शाकों और फलों में पाये जाते हैं) भी बड़ी आवश्यकता है ; इनके बिना स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता ।

भोजन की कुछ और चीज़ें ।

मसाले, चाय, क़हवा, कोका—इनमें से कोई चीज़ भी जीवन के लिये आवश्यक नहीं है ; न इनसे सेलों की बढ़ोत होती है और न शक्ति उत्पन्न होती है । मसालों से भोजन स्वादिष्ट और रोचक बन जाता है ; स्वादिष्ट भोजन अस्वादिष्ट भोजन की अपेक्षा भली प्रकार और शीघ्र पचता है । अधिक मसाला अजीर्ण पैदा करके स्वास्थ्य को बिगाड़ता है ।

भारतवर्ष में चाय का रिवाज प्रति दिन बढ़ता जाता है । अच्छी बनी हुई चाय एक प्रकार का उत्तेजक है । थकान के बाद चाय पीने से थकान कम हो जाती है । बिना ज़रूरत उत्तेजक वस्तुओं का सेवन अच्छा नही । चाय को पानी में पकाना नही चाहिये, ऐसा करने से चाय के हानिकारक अवयव पानी में घुल जाते हैं । उबलते हुए जल में चाय को तीन चार मिनट भिगोकर छान लेना चाहिये , इस थोड़े से समय में उसके उत्तेजक अवयव तो पानी में घुल जाते हैं परन्तु हानिकारक अवयव बहुत कम घुल पाते हैं । ८ मिनट से ज़यादा भिगोने से चाय कड़वी हो जाती है और अजीर्ण पैदा करती है ।

चाय, कहवा और कोका आमाशयिक रस की क्रिया को मंद करते हैं इसलिये भोजन के साथ उनको न पीना चाहिये;

दुग्ध मिलाने से यह दोष कम हो जाता है। अधिक क़हवा पीने से अनिद्रा, शिर दर्द, मिर्गी, हृदय कंप इत्यादि रोग हो जाते हैं।

खाद्य का रसायनिक संघट्टन।

कुछ खाद्य वनस्पति वर्ग से मिलता है और कुछ अन्य प्राणियों से। दुग्ध को छोड़कर जो खाद्य और प्राणियों से मिलता है वह उनको मार कर लिया जाता है।

१—अन्नवर्ग।

नाम	प्रोटीन	स्नेह (वसा)	कर्बोज (श्वेतसार)	खनिज पदार्थ	जल
गेहूं (गोधूम)	११·४७	२·०४	७० ६०	३ १४	११·८३
जौ (यव)	८ ६२	१·६०	७६ १०	२–३	१२ ३
मकी (शस्य)	६·५२	४ ४४	६८ ६	३ ७५	११ ५०
चावल	६·६२	० ५०	८१ ०७	१·०४	११ ०५
बाजरा	८·७२	४ ७६	७३ ४०	१·५–२ ०	११–१२
जुआर	७ ६७	२·७७	६७ २६		
गेहूं का आटा (छना हुआ)	१०·७	१ १	७५ ४	० ५	
फूल मैदा	७·६	१ ४	७६ ४	० ५	
चोकर (गेहूं की)	१६ ४.	३ ५.	४३ ६	६·०	१२ ५

इन सभों में २-३% काष्ठोज होता है। चोकर में १८% काष्ठोज होता है। उपरोक्त तालिका से विदित है कि बिना छने गेहूं के आटे में (पहली पंक्ति) छने हुए आटे और फूल मैदा की अपेक्षा अधिक प्रोटीन होती है, गेहूं के छिलके (चोकर) में प्रोटीन और लवण दोनों बड़े परिमाण में होते हैं। इस से स्पष्ट है कि आटा बहुत बारीक छलनी में छानना अच्छा नहीं। अन्न वर्ग में कर्बोज श्वेतसार के रूप में पाया जाता है।

२. दाल वर्ग।

नाम	प्रोटीन	स्नेह (वसा)	कर्बोज
मूग	२३·६२	२ ६९	५३·४५
मसूर	२५ ४७	३ ००	५५ ०३
चना	१९ ९१	४ ३४	५८·२२
मटर	२२ ०१	१ ९६	५३ ९७
अरहर	२१ ७०	२·५०	५४ ०६
उड़द (माष)	२२ ३३	१ ९५	५५ २२

इन सभों में १०-१२% जल, ३-४% खनिज पदार्थ और शेष भाग काष्ठोज होता है।

छिलके उतरी हुई दाल छिलके दार की अपेक्षा जल्दी पचती है।

३. शाक वर्ग।

नाम	प्रोटीन	स्नेह (वसा)	कर्वोज	खनिज पदार्थ	जल
बंद गोभी (करमकल्ला) ...	१·८	०४	५·८	१·३	८९·६
फूल गोभी	२२	०४	४७	०८	९०७
टोमाटो ...	१३	०२	५०	०७	९१९
खीरा ...	०८	०२	२०	०४	९५९
आलू ..	२०	०२	१५·७–२०६	१०	७६८०
शलजम .	१२	०२	८·२	१·०	८९·४
गाजर ...	०५–११	०५	१०१	०·९	८६५
हरी मटर ...	४४	०५	१६१	०९	७८१
प्याज	१४	०३	१०·१	०६	८७६
मूली ...	१३	०७	१४५	१०	८२५
केला ..	१३	०६	२२०	०८	७५३
बैंगन (भाटा)	०८९	०९४	३४८	०२६	९३९८
भिन्डी ...	१९६	११	५७२	०८	९०४
मीठा कद्दु ..	०९०	१०	३·९६	०७	९३४०

इन सभों में थोड़ा बहुत काष्ठोज होता है। शाक पकाकर खाने चाहियें। बथुआ, मेथी, सोया इत्यादि हरे शाकों का संघट्टन ऐसा ही होता है; उनमें कई प्रकार के उड़न शील तैल भी होते हैं जिनकी वजह से उनमें गंध आया करती है। यद्यपि शाकों में पौष्टिक पदार्थ बहुत कम होते हैं तदपि वे

भोजन में अवश्य होने चाहियें। उनसे हमको कई प्रकार के लवण मिलते हैं जिनके न होने से स्वास्थ्य बिगड़ने का भय रहता है।

४. फल वर्ग।

नाम	प्रोटीन	स्नेह (वसा)	कर्बोज	लवण अम्ल	जल
सेब	०·४	० ५	१२ ५	१·४	८२ ५
नाशपाती ...	० ४	० ६	११·५	१·४	८३·९
आडू ...	० ५	० २	५ ८	१·३	८८ ८
बेर .	१·०		१४ ८	१·५	७८ ४
स्ट्राबेरी	१ ०	०·५	६ ३	१ ७	८९ १
रेस्पबेरी ..	१ ०		५ २	२ ०	८४ ४
शहतूत ..	० ३		११ ४	२·४	८४ ७
अंगूर ..	१ ०	१ ०	१५ ५	१·०	७९ ०
खरबूजा (गूदा)	० ७	० ३	७ ६	० ३	८९ ८
तरबूज (गूदा)	०·३	० १	६ ५	०·२	९२ ९
नारंगी	० ९	० ६	८·७	१·५	८६ ७
नीबू ...	१ ०	०·९	८ ३	० ५	८९ ३
अनन्नास ...	० ४	० ३	९ ७	० ३	८९·३
अनार	१ ५	१·६	१६·८	० ६	७६ ८
अंजीर (ताज़े)	१·५		१८ ८	० ६	७९·१
मुनक्का ...	१ २	३ ०	६४ ०	२ २	२७ ९
किशमिश ...	२ ५	४ ७	७४·०		१४ ०

मिष्ट फलों में कर्बोज अधिकतर शर्करा (द्राक्षौज) के रूप में पाया जाता है। सब फलों में २ से ५% काष्ठोज होता है। आधी छटांक नीबू के रस में २॥ माशे साइट्रिक अम्ल (नीबू का तेज़ाब) होता है; खट्टे फलों में किसी न किसी प्रकार के अम्ल होते हैं। आम में गैलिक अम्ल, साइट्रिक अम्ल, टारटारिक अम्ल (इमली का तेज़ाब), मेलिक अम्ल पाए जाते हैं।

५. शुष्क फल वर्ग।

नाम	प्रोटीन	स्नेह (वसा)	कर्बोज	खनिज पदार्थ	जल
चेस्टनट ताज़े	६ ६	८ ०	४५ २(क)	१ ७	३८ ५
,, सूखे	१० १	१० ०	७१ ८(क)	२ ७	५ ८
अखरोट	१५ ६	६२ ६	७ ४	१ ०	४ ६
बादाम (मीठा)	२४ ०	५५ ०	१० ०	३ ०	६ ०
पिस्ता	२१ ७	५१·०	१४ ०	३·२	७ ४
नारियल (गूदा)	५·	३५ ९	८ ४		४६ ६
गोला (सूखा)	६·०	५७ ४	३१·८(क)		३·५
नारियल का दूध	०·५		९ ०(क)		९० ३
मूंगफली	३१	५६		४ ०	१२

(क)=इसमें काष्ठोज शामिल है; शेष चीज़ों में ३–७% काष्ठोज होता है।

सागोदाना:—इसमें ८६ ७% कर्बोज (श्वेतसार के रूपमें) होता हैं; प्रोटीन अंशमात्र होती है; शेष भाग जल रहता है।

अरारूट:—इसमें ८२ ५% कर्बोज (श्वेतसार के रूप में) होता है; शेष भाग जल रहता है; प्रोटीन, लवण अंश मात्र होते हैं।

६. मसाले

हलदी, काली और लाल मिर्च, धनिया, ज़ीरा इत्यादिः—इन में किसी न किसी प्रकार के उड़नशील तेल होते हैं; इन्हीं के कारण इन में विशेष प्रकार की गंध आया करती है ; तेलों के अतिरिक्त उन में विशेष अवयव भी होते हैं जिन के कारण ये चीज़ें अपना अपना गुण और स्वाद रखती हैं।

राईः—१०० भागों में उड़नशील तेल ०·५ से २ तक, मामूली तेल १५ से २५ तक, नत्रजनीय पदार्थ ३५–४५ तक, काष्ठोज २ से ५ तक, खनिज पदार्थ ४ से ६ तक; श्वेतसार अंश मात्र होते हैं।

अदरकः—१ ५ से ३ % उड़नशील तेल; ३ % मामूली तेल, और श्वेतसार होते हैं।

लौंगः—१० % उड़नशील तेल होता है।

७. दुग्धवर्ग।

प्राणी	प्रोटीन	वसा	शर्करा	लवण	जल
यूरोपियन स्त्री	१ ५	३ ५	७·०	० २	८७ ८०
बंगाली स्त्री	१ २	२ ८०	५·९०	० २४	८९ ८६
गाय	३ ५	४ ०	३ ५	० ७५	८७ २५
घोड़ी	२ ०	१ २०	५·६५	० ३६	९० ७९
गधी	२·२५	१ ६५	६ ००	०·५०	८९·६०
बकरी	४·३	४ ७८	४·४६	० ७५	८५·७१
भैंस	६ ११	७ ४५	४ १७	० ८७	८१ ४०

माखनः—प्रोटीन २ ०० ; वसा ८५ ०० ; लवण १ ००; जल १२ ६५ %

घृतः—वसा १०० % (लग भग)

पनीरः—प्रोटीन १८.२१%, वसा २७.८३ , शर्करा २.५० ; लवण ४.८६; जल ३६ ६०

दहीः—प्रोटीन २४.०६%, वसा २.५ ; लवण १.१ जल शेष भाग ।

बालाई (शर)—प्रोटीन २.५% वसा २० से ६५% सामान्यतः ४५% शर्करा ४.५% लवण ० ५% शेष भाग जल ।

मलाईः—में प्रोटीन, खटिक संयोजित और थोड़ी सी वसा होती है ।

८. मांसवर्ग ।

प्राणी	प्रोटीन	वसा	शर्करा	लवण	जल
गाय, बैल	२००	१५	०·६	१·२	७६·७
सुअर	१६ ६	६ २	० ६	१ १	७२·६
घोड़ा	२१ ६	२ ५	० ६	१·०	७४ ३
मुर्गी	२२ ७	४ १	१ ३	१·१	७०·४
(पाइक) मछली	१८·३	० ७	०·६	० ८	७६·३
बकरा	१८ ०	५ ०		१ ०	७६ ०
हिरन	१६·७	१·६		१ १	७५ ७
खरगोश	२२ ३	१ १		१·१	७४·०

६. डिम्ब (अंडा)

मुर्गी	प्रोटीन	वसा	लवण	जल
साबूत अंडा (खोल सहित)	१३ ५०	११ ६०	१ २०	७३ ५०
अंडे का श्वेत भाग	१२·८७	०·२५	० ६३	८५ ५०
अंडे का पीला भाग	१६·१२	३१ ३६	१ ०८	५१.०३

खोल अधिकतर खटिक कर्वनित से बनता है। अंडे के १०० भागों में १० भाग खोल, ६० भाग सुफेदी, ३० भाग ज़र्दी के होते हैं।

भोजन पकाने के लाभ

१. पकाने से भोजन स्वादु हो जाता है और आसानी से चय और पच सकता है।

२ उष्णता के प्रभाव से रोग उत्पादक कीटाणु (बक्टेरिया) और कीट मर जाते हैं; पके हुए भोजन में हैज़ा, पेचिश इत्यादि रोगों के बकटेरिया के रहने की कम संभावना होती है।

३. पृष्ठ ७ पर लिख आये हैं कि श्वेतसार के दाने में काष्ठोज की कई तहें होती हैं; श्वेतसार के ज़र्रे इन काष्ठोज के खोल (घेरों) से ढके रहते हैं। काष्ठोज पर हमारे पाचक रसों का कोई असर नहीं होता, इसलिये कच्चा श्वेतसार हम अच्छी तरह से नहीं पचा सकते। पकाने से काष्ठोज के खोल या घेरे फट जाते हैं और श्वेतसार उनके बाहर आ जाता है और पाचक रस उस से भली प्रकार मिल कर उसको खूब पचा सकते हैं।

दुग्ध उबाल कर पीना चाहिये या ताज़ा बिना उबाला हुआ ? उत्तर यह है कि ताज़ा दुग्ध उबाले हुए की अपेक्षा कुछ जल्द पचता है। यदि स्वस्थ्य गाय का दुग्ध पवित्र स्थान में स्वस्थ्य मनुष्य विधि पूर्वक शुद्ध किये हुए हाथों से शुद्ध बासन में निकाले तब ऐसा दुग्ध बिना उबाले पीने में कोई हानि नही परन्तु जैसा दुग्ध आज कल मिलता है उस को बिना गरम किये कदापि न पीना चाहिये। उस में अनेक प्रकार के रोगों के कीटाणु रहते हैं, ये एक उबाल देने से मर जाते हैं। दुग्ध को बहुत देर तक नही पकाना चाहिये ऐसा करने से वह देर में पचता है।

७०° शतांश (१५८° फहरनहाइट्) के ताप से आध घन्टे में बहुत से बकटेरिया मर जाते हैं। दुग्ध खुले बरतन मे कभी न रखना चाहिये; खुले रखने से उस में धूल मिट्टी पड़ने और हवा से दूषित गैसों के आ जाने की संभावना रहती है।

कुछ भोजनों के नमूने।

(१)

भोजन (२४ घन्टे में)		मूल अवयव (लगभग)	
चावल	१० छटांक	प्रोटीन	५० माशे
दाल	२ छटांक	कर्बोज	५०० ,,
तैल	$\frac{१}{२}$ छटांक	वसा	३२ ,,
शाक	थोड़ा सा		

इस भोजन में प्रोटीन और वसा कम है, वसा का काम कर्बोज से चल जायगा। यह भोजन मज़दूरों के लायक़ है; विद्यार्थियों, अध्यापकों वा अन्य मानसिक परिश्रम करने वालों के लिये अच्छा नहीं है।

(२)

भोजन (२४ घन्टे में)			मूल अवयव	
चावल	८	छटांक	प्रोटीन	५२
दाल	१	,,	वसा	३८
दुग्ध	४	,,	कर्बोज	४२२
तैल या घृत	१/२	,,		
शाक				

यह भोजन वैसा ही है जैसा कि नं० १। यह भी मानसिक परिश्रम करने वालों के लिये अच्छा नही है।

(३)

भोजन (२४ घन्टे में)			मूल अवयव	
दाल	३	छटांक	प्रोटीन	५६
जुआर का आटा	१०	,,	वसा	५०
तैल या घृत	१/२	,,	कर्बोज	३६०
शाक				

यह भोजन भी शारीरिक परिश्रम करने वालों के लिये है।

(४)

भोजन (२४ घन्टे में)			मूल अवयव	
चावल	३	छटांक		
गेहूं का आटा	३	,,		
दाल	१	,,	प्रोटीन	६१
दुग्ध	८	,,	वसा	५०
घृत	$\frac{१}{२}$	,,	कर्बोज	३३०
शर्करा	१	,,		
शाक				

मामूली मानसिक और शारीरिक परिश्रम करने वालों के लिये अच्छा भोजन है। प्रोटीन और वसा इस में भी कुछ कम हैं।

(५)

भोजन (२४ घन्टे में)			मूल अवयव	
गेहूं का आटा	६	छटांक		
दाल	१$\frac{१}{२}$	,,	प्रोटीन	८४
दुग्ध	१२	,,	वसा	६२
घृत	१	,,	कर्बोज	३५१
शर्करा	$\frac{१}{२}$	,,		
शाक				

इस भोजन में प्रोटीन और वसा यथेष्ट परिमाण में हैं; कर्वोज कुछ अधिक है। मस्तिष्क से काम करने वालों के लिये अच्छा भोजन है।

(६)

भोजन (२४ घन्टे में)			मूल अवयव		
गेहूं का आटा	३	छटांक	प्रोटीन	८१	माशे
चने का आटा	२	,,	वसा	१२०	,,
दाल	१	,,	कर्वोज	३२०	,,
दुग्ध	१२	,,			
घृत	$१\frac{१}{२}$	,,			
शर्करा	१	,,			
शाक					

(७)

भोजन (२४ घन्टे में)			मूल अवयव		
गेहूं का आटा	४	छटांक	प्रोटीन	७६	माशे
दाल	१	,,	वसा	८२	,,
दुग्ध	८	,,	कर्वोज	२७४	,,
घृत	१	,,			
मांस	२	,,			
शर्करा	१	,,			
शाक					

(८)

भोजन (२४ घन्टे में)			मूल अवयव		
गेहूं का आटा	४	छटांक	प्रोटीन	८०	माशे
दुग्ध	२०	,,	वसा	१००	,,
दाल	१	,,	कर्बोज	२९०	,,
घृत	१	,,			
शर्करा	१	,,			
शाक					

(९)

भोजन (२४ घन्टे में)			मूल अवयव		
आटा	५	छटांक	प्रोटीन	७२	माशे
दाल	१	,,	वसा	८३	,,
मछली	२	,,	कर्बोज	३००	,,
अंडा	१	,,			
घृत या तैल	१	,,			
शाक					

६,७,८,९, ये सब अच्छे भोजनों के नमूने हैं। सब मूल अवयव यथेष्ट परिमाण प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि मनुष्य मासांहारी बने जैसा कि १,२,३,४,५,६,८,११ से विदित है।

(१०)

भोजन (२४ घन्टे में)			मूल अवयव (लग भग)		
आटा	६	छटांक			
चावल	४	,,			
दाल	१	,,	प्रोटीन	११०	माशे
दुग्ध	८	,,	वसा	५४	,,
मांस	२	,,	कर्बोज	४६०	,,
घृत	१/२	,,			

इस प्रकार का भोजन फ़ौज के सिपाहियों के लिये अच्छा है।

(११)

गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी के विद्यार्थियों का भोजन

भोजन (२४ घन्टे में)			मूल अवयव	
आटा	७	छटांक		
चावल	२	,,		
दाल	२	,,	प्रोटीन	१०५ माशे
घृत	१	,,	वसा	६६ ,,
दुग्ध	१२	,,	कर्बोज	५१४ ,,
शर्करा	१	,,		
शाक				

यह भोजन १८ से २५ वर्ष की आयु के विद्यार्थियों को जिनका भार १$\frac{१}{२}$ मन के लगभग होता है दिया जाता है। हमारी सम्मति में भोजन बहुत अच्छा है; कर्बोज का परिमाण कुछ अधिक है; आटा और चावल नौ छटांक की जगह ७ छटांक और घृत १ छटांक की जगह १$\frac{१}{४}$ छटांक दिया जावे तो बेजा न होगा।

पढ़ने लिखने वालों को दुग्ध, दही, मलाई, बालाई (शर) घृत इत्यादि का अधिक सेवन करना चाहिये; अधिक शारीरिक परिश्रम करने वालों को चावल, शर्करा जैसी चीज़ों का। जितनी शक्ति १ माशा वसा (घृत) से प्राप्त होती है उतनी २ ३ माशा कर्बोज से मिलेगी; इससे विदित है कि शक्ति का एक नियत परिमाण प्राप्त करने के लिये कर्बोज वसा के मुक़ाबले में बहुत खाने पड़ेंगे और आमाशय (पेट) पर अधिक भार पड़ेगा। इसी लिये दिमाग़ी मेहनत करने वालों को अधिक कर्बोज खा कर अपना पेट भारी न कर लेना चाहिये; कुछ कर्बोज की जगह घृत, मलाई बालाई बादाम इत्यादि खा सकते है।

अध्याय १६

पोषण संस्थान (२)

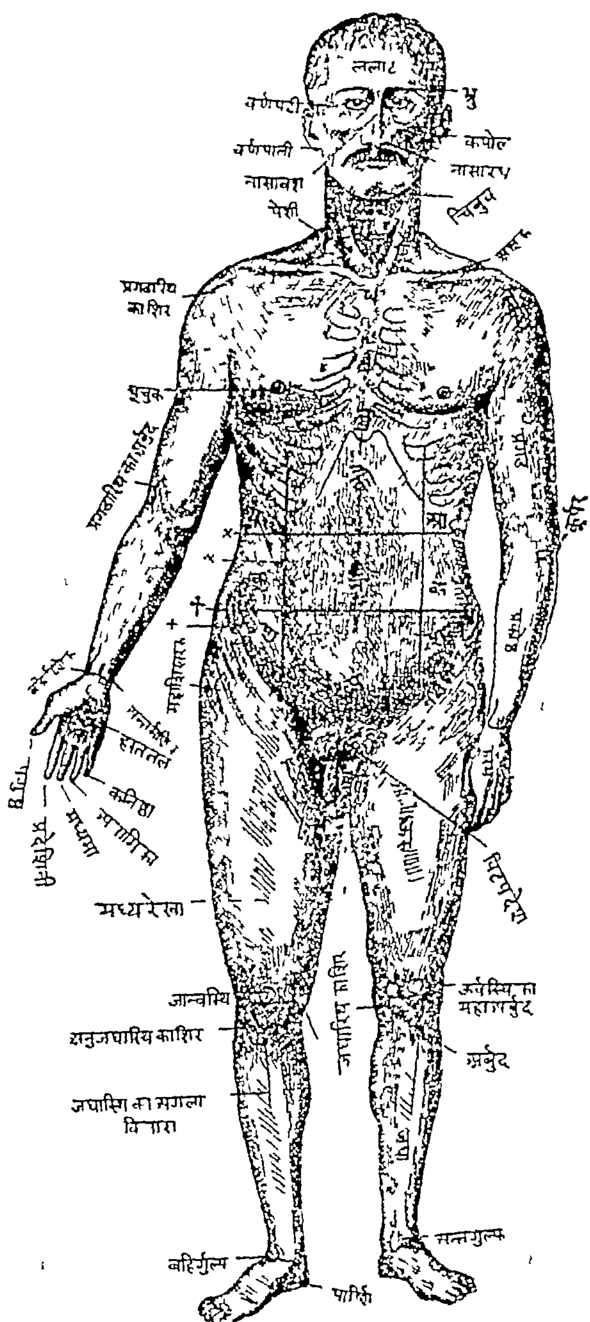
उदर

उदर का संक्षिप्त वर्णन इस पुस्तक के पहिले भागके पृष्ट २८ और २९ पर दिया गया है। चार कल्पित रेखाओं द्वारा व्यवच्छेदक उदर कोष्ट के नौ भाग कर लेते हैं ; ये भाग उदर के **प्रदेश** कहलाते हैं (देखो चित्र २)। दो रेखाएं खड़ी हैं और दो पड़ी। नितंबास्थि के ऊपर के किनारे के अगले नोकीले सिरे (चित्र २ में ×) और भग संधि (विटप देश का मध्य) के ठीक बीच में एक खड़ी रेखा ऊपर को वक्ष की ओर खींची जाती है [चित्र २ में +] ऐसी ही रेखा दूसरी ओर खीची जाती है ; ये दो खड़ी रेखाएं हुईं। अब दो पड़ी रेखाएं खींचते हैं ; एक रेखा एक ओर की दसवी पसली के नीचे के किनारे से दूसरी ओर की दसवीं पसली के नीचे के किनारे तक खींची जाती है [चित्र २ में ×] ; दूसरी पड़ी रेखा नितंबास्थियों के ऊपर के किनारों के उभारों के बीच में खीची जाती है: ये उभार स्पर्श किये जा सकते हैं [चित्र २ में†]

उदर के नौ प्रदेश (चित्र २ और २५)

इन चारों रेखाओं से उदर के नौ प्रदेश हो जाते हैं ; इन में से तीन दाहिनी ओर, तीन बीच में, और तीन बाईं ओर रहते हैं।

चित्र २—उदर के नौ प्रदेश



× पर्शुकाधो रेखा

✱ दाहिनी ऊर्ध्व रेखा

† अर्बुदांतरिक रेखा

+ नितंबास्थि के ऊपर के किनारे का अगला नोकीला सिरा (कूट)

१ चित्र २ मे य=दाहिनी ओर पर्शु काधो रेखा के ऊपर का देश **यकृत प्रदेश** कहलाता है : इस स्थान में यकृत रहता है ; यकृत के पीछे वृक्क होता है।

२ चित्र २ में कौ=यकृत प्रदेश के बाईं ओर **कौड़ी प्रदेश** है ; इस स्थान में यकृत का बायां भाग, आमाशय का कुछ अंश, वृहत् अंत्र का कुछ भाग रहते हैं।

३ चित्र २ में आ=कौड़ी प्रदेश के बाईं ओर **आमाशयिक प्रदेश** है ; यहां आमाशय का अधिक भाग रहता है, आमाशय के पीछे और बाईं ओर प्लीहा रहती है।

४. चित्र २ में क=यकृत प्रदेश के नीचे दाहिना **कटी प्रदेश** है [साधारण बोल चाल में कटी को कमर कहते हैं]। यहां उदगामी वृहदंत्र और क्षुद्रांत्र की कुछ गंडलियां रहती है; दाहिने वृक्क का भी थोड़ा सा भाग रहता है।

५. चित्र २ मे न=कौड़ी प्रदेश के नीचे **नाभि प्रदेश** है। यहां नाभि होती है ; उदर के इस भाग मे क्षुद्रांत्र और उसके पीछे महाधमनी और महा शिरा रहती हैं।

६ चित्र २ में क=आमाशयिक प्रदेश के नीचे बायां **कटी प्रदेश** है। यहां क्षुद्रांत्र और अधोगामी वृहत्अंत्र रहती हैं।

७. चित्र २ में श=दाहिने कटी प्रदेश के नीचे दाहिना **श्रोणि प्रदेश** है, यहां वृहत् अंत्र का प्रारभिक भाग रहता है।

८. चित्र २ में प=नाभि देशके नीचे पेड़ (या कुक्षि प्रदेश ?) होता है : यहां क्षुद्रांत्र रहती है ; नीचे के भाग में बस्ति या मूत्राशय रहता है : स्त्रियों में मूत्राशय के पीछे बस्तिगह्वर के अंदर गर्भाशय रहता है। गर्भस्थिति के पश्चात् जब गर्भाशय बढता है वह तब पहले पेड़ू देश ही को घेरता है।

९. चित्र २ में श=पेड़ के बाईं ओर बायां श्रोणि प्रदेश है - यहां क्षुद्रांत्र और अधो गामी वृहत् अंत्र रहती है।

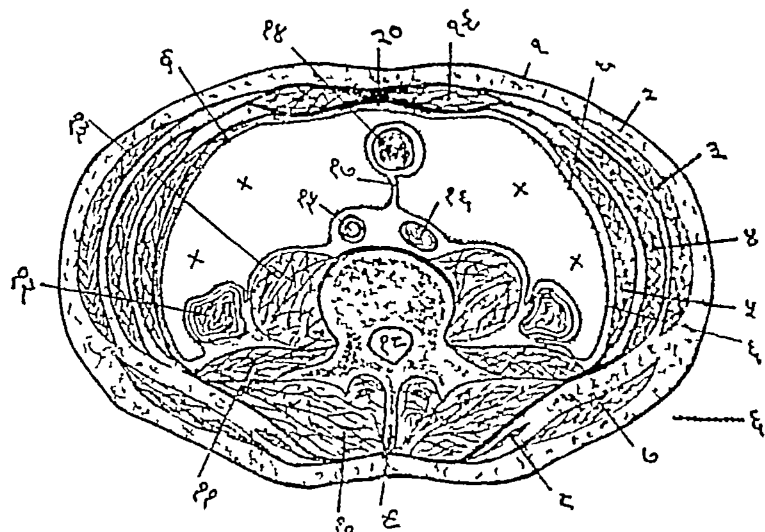
उदर की दीवारें

उदर की अगली और पार्श्विक दीवारें त्वचा, वसा और मांस से बनती हैं : पिछली दीवार में रीढ़ की अस्थियां होती हैं जिन के इधर उधर मोटी मोटी मांस पेशियां लगी रहती है। चित्र ३ में उदर का व्यत्यस्त काट दिखाया गया है अर्थात् उदर का कोष्ठ चौड़ाई के रुख काटा गया है ; गुणन चिह्न × वाले स्थान में क्षुद्रांत्र की गेंडलियां पड़ी रहती है। सामने की दीवार में दस पेशियां होती है जिन में से आठ पेशियों के कटे हुए भाग चित्र ३ में दिखाए गये हैं (चित्र ३ में ३,४,५, १६) दो पेशियां छोटी छोटी होती है और वे सरल पेशियों (चित्र ३ में १६) के सामने भग सन्धि के ठीक ऊपर रहती हैं।

उदर में हर जगह एक पतली झिल्ली (कला) बिछी रहती है; इस कला को **परिविस्तृत कला** कहते है (चित्र ३ में ६) ; इस कला से उदर के बहुत से अंग ढके भी रहते हैं; इसी कला द्वारा क्षुद्रांत्र उदर की पिछली दीवार से लटकी

रहती है ; कला के इस भाग को **अंत्रधारक** कला कहते हैं [चित्र ३ में १७]

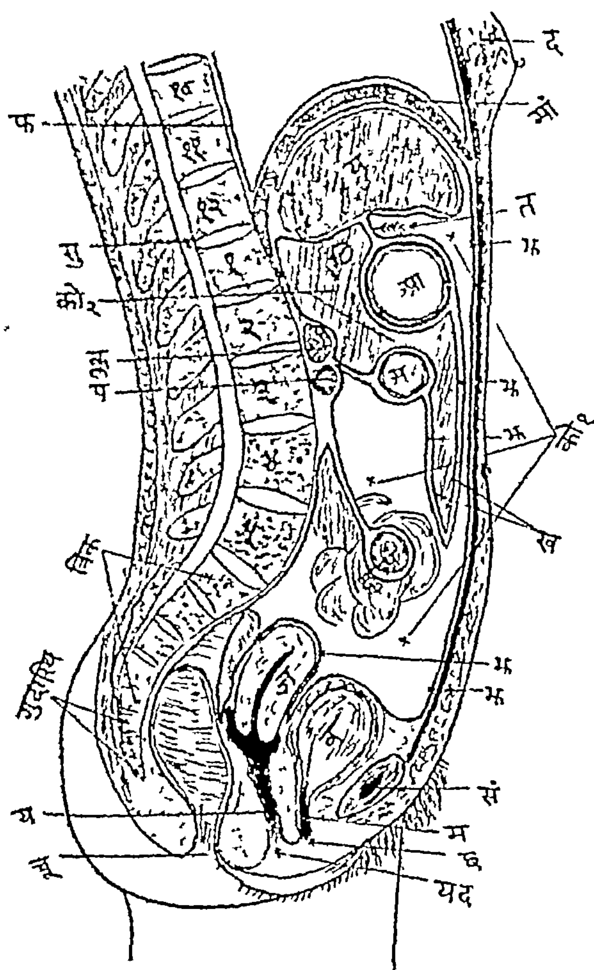
चित्र ३—उदर का व्यत्यस्त काट ।



व्याख्या —१. त्वचा, २ वसा ३. वहि तिर्यक पेशी (वाह्य उदरच्छदा पेशी) ४ व्यत्यस्त पेशी (मध्य उदरच्छदा पेशी) ५. अन्तीयतिर्यक पेशी (अन्तीय उदरच्छदा पेशी) ६ उदर की परिविस्तृत कला ७ कटि पार्श्वप्रच्छदा पेशी ८ एक छोटी पेशी ९ कशेरुकएटक १०. पृष्ठवंशधरा पेशी ११. कटी चतुरस्रा पेशी १२. वृहत् अन्त्र का कटा हुआ भाग १३. कटि लम्बिनी पेशी १४. क्षुद्रान्त्र (कटी हुई) १५ महा धमनी (कटी हुई) १६. महा शिरा १७. परिविस्तृत कला जिस के द्वारा क्षुद्रान्त्र उदर की पिछली दीवार से बधी और लटकी रहती है १८ कशेरुका का छिद्र जिसमें सुषुम्ना रहती है १९ सरल पेशी

चित्र ४ में स्त्री का उदर लम्बाई के रुख काटा गया है ; परिविस्तृत कला [भ] किस प्रकार उदर में बिछी हुई है यह इस चित्र में समझाया गया है ।

चित्र ४—लम्बाई के रुख कटा हुआ स्त्री का उदर।



व्याख्याः—द=दुग्ध ग्रन्थि, मा=वक्षउदरमध्यस्थ पेशी, य=यकृत, आ=आमाशय, अ=स्थूल अंत्र, क्षुअ=क्षुद्रांत्र, ज=जरायु या गर्भाशय, व=वस्ति या मूत्राशय, स=भगसंधि, म=मूत्रमार्ग, छ मूत्रमार्ग का छिद्र, यद=योनिद्वार, चू=चूति या मलद्वार; य=योनि, १ से ५ तक=कटी कशेरुका; १०, ११, १२=वक्ष के कशेरुका, फ=फुप्फुस वेष्ट या परिफुप्फुसीय

कला, सु = सुषुम्ना के रहने की नली, क्ल = क्लोम, प=पक्वाशय · क्ष = परिवि-स्तृत कला, ख = परिविस्तृतकलाकी चार तहें जो अत्र के ऊपर पड़ी रहती हैं और जिन से अत्र ढकी रहती है , स्थूल शरीरों में इन तहों मे वसा बहुत भर जाती है, सामान्यत भी थोडी सी वसा रहती है। परिविस्तृत कला से यकृत का अधिक भाग, आमाशय, अनुप्रस्त बृहद् अत्र, क्षुद्रात्र ढके हुए रहते हैं , यह कला वस्ति और जरायु के अधिक भागों पर भी लगी रहती है।

अन्नमार्ग या आहार पथ

हमारे शरीर में कई प्रकार की नलियां हैं, इनमें से कई का वर्णन इस पुस्तक के पहिले भाग में किया जा चुका है (रक्त, लसीका, मूत्र इत्यादि की नलियां) । जब हम भोजन करते हैं तो वह भी एक नली के भीतर चला जाता है और जब तक वह पच नहीं जाता नली के भीतर ही रहता है। यह नली बहुत लम्बी होती है । इसका आरम्भ मुख से होता है और इस का अन्त नीचे जाकर मलद्वार पर होता है। इस नली को **अन्नमार्ग या आहार पथ** कहते हैं। (देखो चित्र ५)

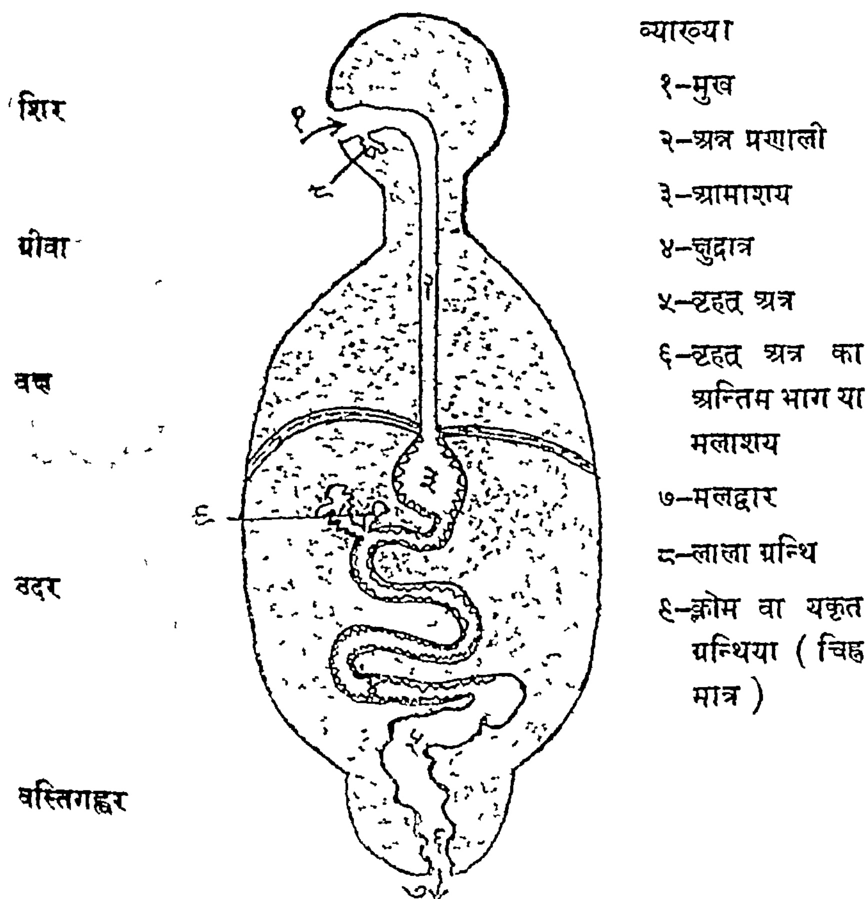
अन्नमार्ग का कुछ भाग ग्रीवा और वक्ष में रहता है; अधिक भाग उदर मे रहता है जैसा कि चित्र ५ से विदित है। प्रौढ़ मनुष्य में मुख से मलद्वार तक अन्नमार्ग की लम्बाई २८–२९ फुट (नौ दस गज़) के लगभग होती है। यह नली हर एक स्थान मे एक ही जैसी नहीं है; कहीं पतली और तंग होती है, कहीं चौड़ी और कहीं फूल कर थैली की समान हो गई है। नली के सब भाग एक ही काम भी नहीं करते।

अन्नमार्ग के भागों के नाम

१. सब से ऊपर मुंह या मुख है; यहां दंत और जिह्वा होते हैं। इस भाग में भोजन चबाया जाता है और थूक उस से खूब मिल जाता है (चित्र ५ में १)

२. मुंह के पिछले भाग को गला या कंठ कहते हैं। यहां

चित्र ५—अन्नमार्ग और उसके मुख्य भाग।



से एक नली का आरम्भ होता है जिस का नाम **अन्न प्रणाली** है। इसकी लम्बाई १० इञ्च के लगभग होती है; ग्रीवा और वक्ष में होती हुई यह उदर में पहुंचती है और अन्नमार्ग के तीसरे भाग से जा मिलती है।

३--तीसरा भाग थैली जैसा होता है, इस को **आमाशय** या पाकस्थली कहते हैं। इस थैली में भोजन कुछ समय ठहरा करता है। इस की लम्बाई १२ इंच के लगभग होती है (चित्र ५ में ३)

४--आमाशय से अन्त्र का आरंभ होता है; यह गेंडली मारे हुए उदर मे पड़ी रहती है। आमाशय के नीचे अन्नमार्ग का शेष भाग अन्त्र ही है; उदर का अधिक स्थान इसी से घिरा रहता है।

अन्त्र की लम्बाई २६-२७ फुट के लगभग होती है; उस का नीचे का ५ फुट लम्बा भाग ऊपर के शेप भाग से अधिक चौड़ा होता है। ऊपर का पतला (कम चौड़ा) भाग जो २१ २२ फुट लम्बा होता है **क्षुद्रांत्र** कहलाता है; नीचे के चौड़े भाग को **बृहत् अंत्र** कहते हैं (चित्र ५ में ४,५)।

उपरोक्त से विदित है कि अन्नमार्ग के दो सिरे हैं; ऊपर का सिरा मुख और नीचे का मलद्वार है। मुख से भोजन इस मार्ग में पहुंचता है, मलद्वार से भोजन का वह अंश जो पचा नहीं या जो पचने योग्य नहीं विष्टा [मल] रूप में शरीर से बाहर निकल जाता है।

पाचक ग्रन्थियां

भोजन को पचाने के लिये कई रसों की आवश्यकता है,

जिन अंगों या यंत्रों में ये रस बनते है वे पाचक ग्रन्थियां कह लाती हैं। कुछ पाचक ग्रन्थियां अतिसूक्ष्म [अणुवीक्ष्य] होती हैं; ये अन्न मार्ग की दीवार में (श्लैष्मिक कला में) रहती है। अन्नमार्ग से अलग भी कई ग्रन्थियां हैं। इन में से दो ग्रन्थियां उदर में रहती हैं; एक को यकृत या जिगर कहते हैं, दूसरी का नाम क्लोम या पैन्क्रयास * है। इन ग्रन्थियों के रस नलियों द्वारा क्षुद्रांत्र में पहुंचते हैं।

छः ग्रन्थियां मुख में है, तीन दाहिनी ओर और तीन बाईं ओर; इन में थूक या लाला बनता है, ये लाला ग्रन्थियां हैं।

दंत या दांत

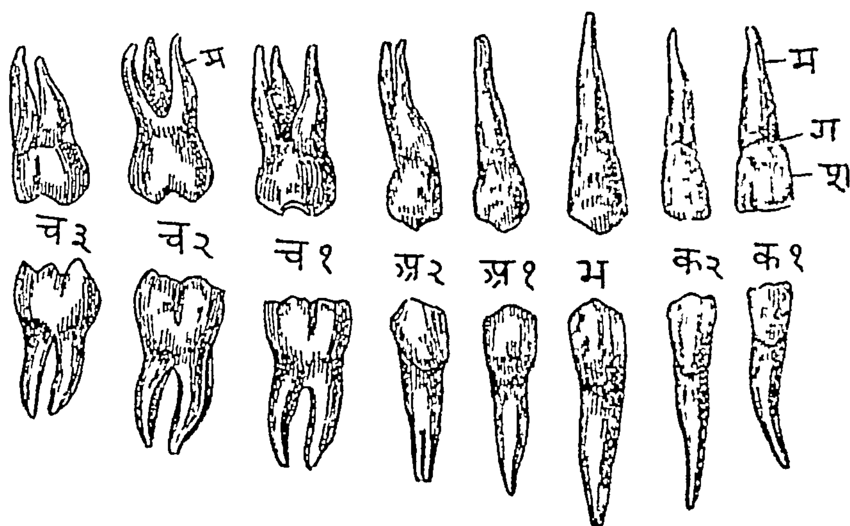
भोजन सब से पहिले मुंह मे जाता है, यहां दांत उस को चबाते हैं। चबाने से वह पिस जाता है और मुलायम हो जाता है।

२५-३० वर्ष की आयु मे हमारे दोनों जावड़ों में ३२ दांत होते हैं सोलह ऊपर सोलह नीचे। सब से आगे मध्य रेखा के इधर उधर दो दो चौड़े दांत होते हैं, ये भोजन कतरने के काम में आते हैं इस कारण इनको छेदक या कर्त्तनक दंत कहते हैं (चित्र ६ में क१ क२) चार छेदक दंत मे से बीच के दो मध्य छेदक और इनके इधर उधर वाले बाह्य छेदक कहलाते हैं। बाह्य छेदक दंत से कान की ओर चलें तो एक नोकीला दांत मिलता है, यह दांत कुत्ते, बिल्ली, शेर इत्यादि मांस फाड़ने वाले जानवरों में अधिक लम्बा और नोकीला होता है; यह दांत भोजन की चीज़ों में छेद करने अथवा उनको

* अंगरेजी भाषा का शब्द है।

फाड़ने के काम आता है; मनुष्य अपना भोजन पकाकर खाता है इस लिये उसे फाड़ने का काम कम करना पड़ता है; इसी कारण यह दांत भी छोटा होता है। यह दांत **भेदक** या **रदनक** दत कहलाता है। (चित्र ६ में भ)

चित्र ६—दाहिनी ओर के दात।



क १=दाहिना मध्य कर्त्तनक , क २=दाहिना बाह्य कर्त्तनक, भ=भेदक, अ १=प्रथम अग्र चर्वणक; अ२ द्वितीय अग्र चर्वणक, च १ प्रथम चर्वणक, च २ द्वितीय चर्वणक, च ३ तृतीय चर्वणक (बुद्धि दत), म=दत मूल, ग=दत ग्रीवा, श=दत शिखर

भेदक दंत के पीछे दो दांत होते हैं जिन का काम भोजन चबाने का है, ये **अग्र चर्वणक** कहलाते है (चित्र ६ में अ) इनके पीछे तीन जाड़ें होती है, ये भी भोजन चबाने के काम में आती है, ये सब से मोटे दांत हैं और **चर्वणक** दंत कह-

खाते हैं। इन की गिनती सामने से पीछे की ओर होती है— प्रथम, द्वितीय, तृतीय। तृतीय चर्वणक दंत को साधारण बोल चाल में "अक़ल जाड़ या बुद्धि दंत" कहते हैं कारण यह है कि यह बड़ी उमर में (१७ से २५ वर्षों के बीच में) निकलता है (चित्र ६ में च१ च२ च३)।

६—७ महीने की आयु से दांत निकलने आरंभ होते हैं। २½ वर्ष के बालक के मुंह में २० दांत होते हैं। छठे वर्ष में या इसके पीछे ये दांत धीरे धीरे उखड़ कर गिरने लगते हैं और इन की जगह नये दांत निकल आते हैं। ये नये दांत मनुष्य की शेष आयु भर रहते हैं। इनके गिरने के पश्चात् और दांत नहीं निकलते। जो दांत पहिले निकलते हैं वे **अस्थायी** या **पतनशील** दंत कहलाते हैं क्योंकि ये कुछ वर्षों पीछे गिर जाते हैं; जो दंत दूसरी बार निकलते हैं वे **स्थायी** दंत कहलाते हैं। अस्थायी दंत का वर्णन पुस्तक के किसी और अध्याय में किया जायगा।

दांतों की रचना

प्रत्येक दंत के तीन भाग होते हैं:—

१. दंत शिखर

२. दंत ग्रीवा

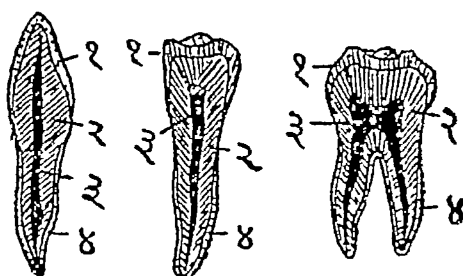
३ दंत मूल

दंत शिखर वह भाग है जो श्वेत और चमकदार होता है और मसूड़े से ऊपर निकला रहता है (चित्र ६ में श)। इस के नीचे जो दांत का दबा हुआ भाग रहता है उस को दंत

ग्रीवा कहते हैं (चित्र ६ में ग)। ग्रीवा के नीचे (ऊपर के दांतों में ग्रीवा के ऊपर) जो भाग है उस को दतमूल (दांत की जड़) कहते हैं (चित्र ६ में म)। दतमूल जावड़े की अस्थि के भीतर उस गड्हे में जिस को दतउलूखल कहते हैं रहती है। छेदक और भेदक दंत में केवल एक एक मूल रहती है ; भेदक दत की मूल छेदक से कुछ लम्बी होती है। अग्र-चर्वणक दत में बहुधा एक ही मूल होती है, कभी कभी दो मूले भी होती हैं या मूल पर दोनों ओर एक गहरी नाली होती है जो इस बात का चिह्न है कि यह मूल बीच में से फटते फटते रह गई।

हर एक चर्वणक दन्त में तीन मूलें होती हैं। अधो चर्वणक दंत में केवल दो मूले होती हैं।

चित्र ७—दातों की रचना।



१. दत वेष्ट या रुचक
२ रदिन
३ दत कोष्ठ
४. सघात

दांत भीतर से खोखले होते हैं जैसा कि चित्र ७ से विदित है; इस चित्र में दांत काट कर दिखाये गये हैं। काट से यह भी पता लगता है कि दांत कई चीज़ों से बना है। सब

से बाहर जो श्वेत भाग है (चित्र ७ में १) उसका रसायनिक संघट्टन अस्थि जैसा होता है।

१०० भाग में ६६ भाग खनिज पदार्थ के और शेष भाग सजीव पदार्थ के होते हैं :—

दंत वेष्ट के अवयव	जवान पुरुष	जवान स्त्री
खटिक स्फुरित तथा स्रविद	८६.८२	८१.६३
खटिक कर्बनित	४.३७	८.८८
मग्न स्फुरित	१.३४	२.५५
अन्य लवण	०.८८	०.६७
सजीव पदार्थ (वसा भी ज़रासी होती है)	३.५६	५.६७

सजीव पदार्थों को उबालने से जेलाटीन बन जाता है। शरीर में जितने तंतु हैं उन में वह सब से कठिन होता है। इस श्वेत भाग को **दंतवेष्ट** या **रूचक** कहते हैं।

दंत वेष्ट के नीचे जो चीज़ है (चित्र ७ में २) उसको **रदिन** कहते है। यह भी बहुत सख़्त होती है, रंग हलका पीलाहट लिये श्वेत होता है रदिन अर्धस्वच्छ होती है। मनुष्य की ताज़ी रदिन का रसायनिक संघट्टन इस प्रकार है :—

जल और सजीव पदार्थ	२८.००	१० भाग के लगभग जल होता है
सोडियम के लवण हरित, स्फुरित	१.५०	
मग्न स्फुरित	१.००	
खटिक स्फुरित	६२.००	
खटिक प्लविद्	२ ००	
खटिक कर्बनित	५ ५०	
	१०० ००	

हाथी के रदिन में (साधारण लोग इसको हाथी दांत कहते हैं) प्रतिशत ३४ भाग सजीव पदार्थ के होते हैं, खनिज पदार्थ ५७.५ भाग होते हैं।

दंत का खोखला भाग **दंतकोष्ठ** कहलाता है इसके भीतर एक मुलायम चीज़ भरी रहती है, इसमें सूक्ष्म सौत्रिक तंतु, कई प्रकार की सेलें, रक्त केशिकाएं और वात सूत्र (नाड़ी सूत्र) रहते हैं। इस मुलायम चीज़ को **दंत मज्जा** कह सकते हैं।

दंत मूल में रुचक नहीं होता —उसकी जगह एक और चीज़ होती है जिसको **संघात** कहते हैं (चित्र ७ में ४)। संघात की सूक्ष्म रचना और रसायनिक संघट्टन अस्थि से बहुत कुछ मिलते हैं।

हर एक दंत मूल की शिखर में एक छोटा छिद्र होता है; इसी छिद्र में से होकर रक्त वाहिनियां और नाड़ियां (वात सूत्र) दंत कोष्ठ में प्रवेश करती हैं।

अधिक गरम और अधिक ठंडी चीज़ें दांतों को खराब
करती हैं, बहुत गरम चीज़ के सेवन के पश्चात् बहुत ठंडी
चीज़ का सेवन दंत वेष्ट को हानि पहुंचाता है। दांतों को
साफ़ करने के लिये बहुत सख्त चीज़ें न मलनी चाहियें
(जैसे रेत), कोयला मला जावे तो मैदे की तरह बारीक
पिसा हो।

भोजन करके दांतो को हमेशा साफ कर लेना चाहिये
ऐसा न करने से दांतो के बीच में भोजन के ज़र्रे फंसे रह जाते
हैं जो सड़ने लगते हैं। इन चीज़ों के सड़ने से न केवल मुख
में दुर्गन्ध आती है प्रत्युत दांत खराब होते हैं और स्वास्थ्य
भी बिगड़ता है। यूरोपनिवासी भोजन के पश्चात् कुल्ला
नहीं करते, कुछ भारतवासी भी उनकी देखा देखी कुल्ला
करने को फ़ैशन के खिलाफ़ समझने लगे हैं, हमारी राय में
तो यह एक मलिन आदत है जिसको कभी भी ग्रहण न
करना चाहिये।

मसूड़े

ये घनी सौत्रिक तंतु से बने हैं और दंत ग्रीवा और
जावड़ों की अस्थि से लगे रहते हैं। सौत्रिक तंतु के ऊपर
चिकनी रक्तमय श्लैष्मिक कला लगी रहती है।

लाला ग्रन्थियां (चित्र ८)

लाला ग्रन्थियां ६ हैं तीन दाहिनी ओर तीन बाईं ओर †

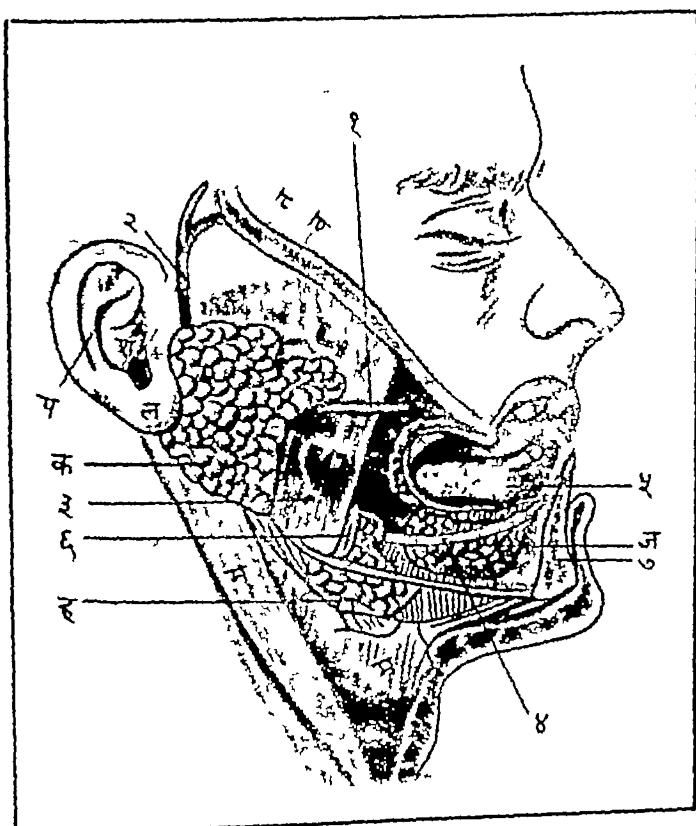
† निम्नओष्ठ और गाल की श्लैष्मिक कला में भी कई नन्हीं लाला
ग्रन्थिया रहती हैं।

एक ग्रन्थि कान के सामने और नीचे है इसको **कर्णाग्रवर्ती लाला ग्रन्थि** कहते हैं, दूसरी ग्रन्थि जिह्वा के नीचे रहती है यह **जिह्वाधोवर्ती लाला ग्रन्थि** कहलाती है, तीसरी निम्न हनु के नीचे और उससे ढकी रहती है, इस का नाम **हन्वधोवर्ती लाला ग्रन्थि** है।

१. कर्णाग्रवर्ती लाला ग्रन्थि (चित्र ८ में क):—यह तीनों में सब से बड़ी है। इसके ऊपर त्वचा और नीचे शंखास्थि और निम्न हन्वस्थि रहती हैं। ग्रन्थि का अगला भाग चर्वण पेशी से मिला रहता है। इसका भार १८ से २७ माशे तक होता है। 'हप्पू' इसी ग्रन्थि के प्रदाह को कहते हैं। ग्रन्थि के अगले भाग से एक नली निकलती है जिसके द्वारा लाला मुख में पहुचता है (चित्र ८ में १) इस नली का छिद्र गाल की श्लैष्मिक कला में ऊर्ध्वहनु के दूसरे चर्वणक दन्त के पास होता है।

२—जिह्वाधोवर्ती लाला ग्रन्थि (चित्र ८ में ज):—यह ग्रन्थि मुंह के फ़र्श में जिह्वा के नीचे रहती है। यदि आप मुंह खोलें और जिह्वा को भीतर करलें तो छेदक दांतों के पीछे मध्य रेखा के इधर उधर बादाम के बराबर दो उभार दिखाई देंगे (चित्र ९ में ८) ये उभार इन्ही ग्रन्थियों के हैं। ग्रन्थि श्लैष्मिक कला से ढकी रहती है। प्रत्येक ग्रन्थि का भार २ माशे के लगभग होता है। इस ग्रन्थि से कई सूक्ष्म सूक्ष्म नलियां निकलती हैं, इनमें से कुछ के छिद्र श्लैष्मिक कला में होते हैं, शेष नलियां तीसरी ग्रन्थि की नलीसे जुडी रहती है। यह ग्रन्थि तीनों में सब से छोटी है।

चित्र ८ लालाग्रन्थियां



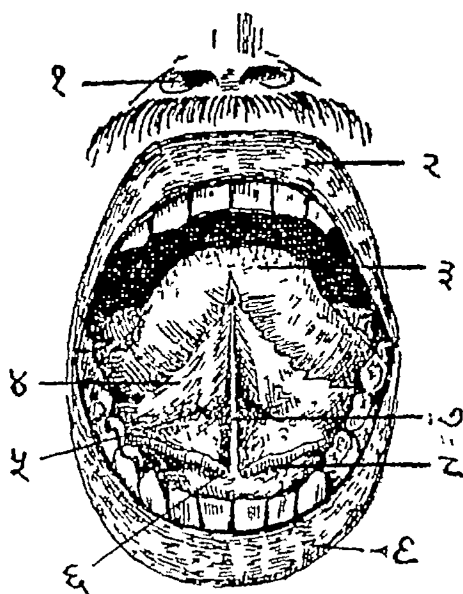
चित्र ८ प्लेट १ की व्याख्या —१. कर्णाग्रवर्ती लाला ग्रन्थि की नली (लाला स्रोत या प्रनाली) २. कर्णाग्रवर्ती धमनी ३. चर्वण पेशी ४. हन्वधोवर्ती लाला ग्रन्थि की नली ५. जिह्वा ६. कटी हुई निम्न हन्वस्थि ७. कटी हुई निम्न हन्वस्थि।

क = कर्णाग्रवर्ती लाला ग्रन्थि ; ह = हन्वधोवर्ती लाला ग्रन्थि ज = जिह्वाधोवर्ती लाला ग्रन्थि, प=कर्ण शष्कुली, ल=कर्ण पाली या लौर, श=कर्ण कुहर का आरम्भिक भाग ; म=मांस पेशी; त=त्वचा ; व=वसा'

चित्र ९—मुंह

व्याख्या—

१. नासारन्ध्र
२. ऊर्ध्वोष्ठ
३. जिह्वा ऊपर को उठी हुई है
४ श्लैष्मिक कला की झालर
५. यहां नीली धारी दिखाई दिया करती है, यह श्लैष्मिककला में से चमकती हुई जिह्वा की शिरा है
६. हन्वधोवर्ती लाला ग्रन्थि की नली का छिद्र
७. जिह्वा बधन या जबान की लगाम
८. जिह्वाधोवर्ती लाला ग्रन्थि का उभार
९. अधोओष्ठ।



३. हन्वधोवर्ती लाला ग्रन्थि (चित्र ८ में ह):—यह ग्रन्थि निम्न हनु के गात्र या समस्थ भाग के नीचे और उस से कुछ ढकी हुई रहती है। जिह्वाधोवर्ती ग्रन्थि इस के आगे और कर्णाग्रवर्ती ग्रन्थि इस के पीछे रहती है। इस का परिमाण

एक छोटे से अखरोट के बराबर होता है। प्रत्येक ग्रन्थि से एक नली निकलती है जिस की लम्बाई २ इंच के लगभग होती है (चित्र ८ में ४), इस नली का मुख मध्य छेदक दंत के ठीक पीछे जिह्वा के नीचे रहता है (चित्र ६ में ६)। यदि आप जिह्वा को भीतर करलें तो जिह्वा और छेदक दांतों के बीच में ठीक मध्य रेखा में एक डोरी लगी हुई दिखाई देगी (चित्र ६ में ७=जिह्वा बंधन), इस डोरी के अगले सिरे के इधर उधर एक छोटा सा उभार होता है; इस उभार की शिखर में जो छिद्र है वह इस ग्रन्थि की नली ही का मुख है। इस नली से जिह्वाधोवर्ती ग्रन्थि की कुछ नलियां भी जुड़ी रहती हैं।

लाला (थूक)

लाला ग्रन्थियों में जो रस बनता है उस को लाला या थूक कहते हैं। यह एक क्षारीय रस है· उस में श्लेष्म, ज़रासी प्रोटीन और कई प्रकार के लवण घुले रहते हैं। इन पदार्थों के अतिरिक्त उस में एक विशेष गुण वाला पदार्थ होता है जिस में श्वेतसार (मांड) से एक प्रकार की शर्करा बना देने की शक्ति होती है। भोजन के अन्य अवयवों पर (जैसे प्रोटीन और वसा) इस पदार्थ का कोई असर नही होता। यदि आप रोटी जैसा श्वेतसारीय चीज़ को देर तक चबाते रहें तो उस का स्वाद मीठा सा होने लगता है, इस का कारण श्वेत-सार का शकर में परिवर्त्तन होना ही है। लाला पहिला पाचक रस है जो भोजन से मिलता है; इस का काम भोजन को गीला और मुलायम करना और उसके श्वेतसार को शकर में परिवर्त्तन करना है। लाला का गुरुत्व १००२ से १००६ तक होता है।

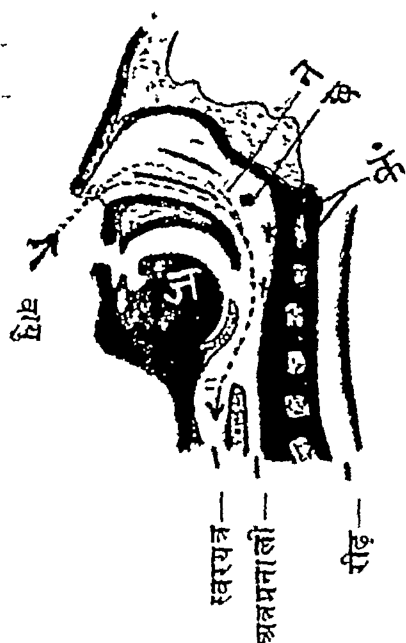
शिशुओं के थूक में ६ मास की आयु तक यह श्वेतसार परिवर्त्तक पदार्थ नहीं पाया जाता इस कारण ऐसे शिशु श्वेतसारीय भोजन (जैसे हलुआ, रोटी) को पचाने के असमर्थ होते हैं। अन्न प्राशन संस्कार ६ मास के पश्चात् ही होना चाहिये। लाला अपना काम ऐसे भोजन पर कर सकता है कि जिसकी प्रतिक्रिया क्षारीय हो या न क्षारीय हो न अम्ल। अम्लत्व से उस का श्वेतसार परिवर्त्तक पदार्थ शिथिल हो जाता है इस लिये भोजन के साथ (विशेषकर श्वेतसारीय भोजन) सिरका इत्यादि अम्ल चीज़ों का खाना अच्छा नहीं। जिह्वा अपनी विचित्र गतियों से दांतों द्वारा चबाये हुए लाला मिश्रित गीले भोजन से एक गोली सी बना लेती है जिस को 'गस्सा' या 'ग्रास' कहते हैं। अब यह गस्सा कंठ या गले में होता हुआ अन्नमार्ग के उस भाग में जाता है जिसे अन्न या आहार प्रनाली कहते हैं। भोजन के अन्नप्रनाली में पहुंचने को निगलना या '**गिलन**' कहते हैं।

जिह्वा की जड़ (जिह्वामूल) के ठीक पीछे स्वरयंत्र का ऊपर का भाग रहता है; स्वर यंत्र के पीछे अन्न प्रनाली का आरंभिक भाग होता है। अन्न प्रनाली स्वरयंत्र के पीछे है इस कारण भोजन के गस्से को अन्न प्रनाली में पहुंचने के लिये स्वरयंत्र के ऊपर होकर जाना पड़ता है। प्रश्न उठता है कि यह गस्सा स्वरयंत्र में क्यों नहीं गिर पड़ता? इस का उत्तर यह है कि स्वरयंत्र के छिद्र के ऊपर एक ढकना लगा रहता है जिसे **स्वरयंत्रच्छद** *कहते हैं (चित्र ११ में ढ);

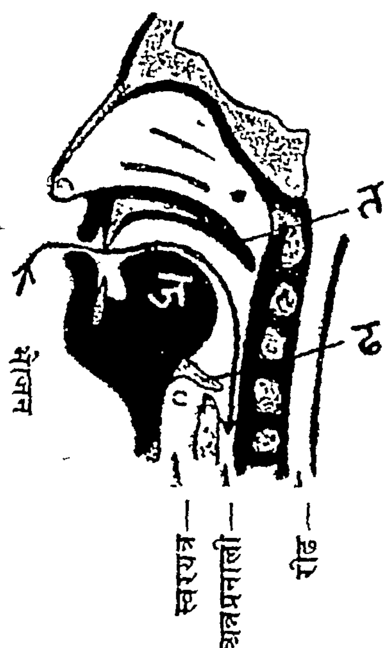
* उपजिह्वा भी कहते हैं।

जब हम श्वास लेते है तो यह ढकना स्वरयंत्र के ऊपर नहीं रहता ; स्वरयंत्र का छिद्र खुला रहता है और वायु नासिका में से होकर बिना रुकावट के स्वरयंत्र में पहुंचती है (चित्र १०)। परन्तु जब हम भोजन खाते है तो गस्से के पीछे सरकते ही ढकना स्वरयंत्र का छिद्र बंद कर लेता है (चित्र ११), यही नहीं प्रत्युत पेशियों के संकोच से संपूर्ण स्वरयंत्र कुछ आगे को जिह्वा मूल के नीचे सरक जाता है। ढकने के बद होने और स्वरयंत्र के आगे को सरकने से भोजन का स्वरयत्र में गिरना असंभव हो जाता है। कभी

चित्र १०



चित्र ११



व्याख्या —न = नासिका का पिछला छिद्र। छ = कर्ण से संबंध रखने वाला छिद्र। कं = कंठ। ज = जिह्वा। त = कोमल तालु। ढ = स्वरयन्त्रच्छद।

कभी रोगों के कारण यह प्रबंध बिगड़ जाता है तब भोजन का अंश स्वर यंत्र में गिर पड़ता है; इस से भयानक रोग उत्पन्न हो जाता है।

भोजन निगलने के समय स्वरयंत्र ऊपर को उठता और फिर पूर्व स्थान को प्राप्त होता हुआ दिखाई दिया करता है।

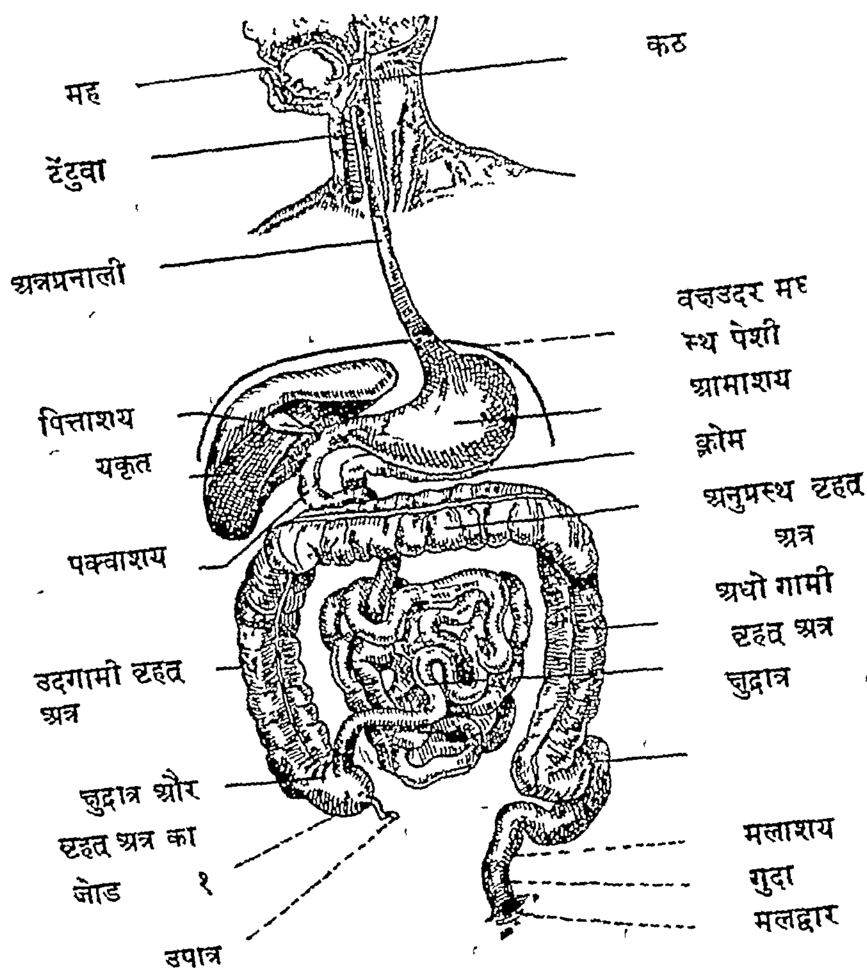
कंठ (गला) के ऊपर के भाग में नासिका के पिछले छिद्र (चित्र १० में न) होते हैं। ये छिद्र कोमल तालु (चित्र ११ में त) के ऊपर होते हैं, इसी कारण मुंह खोलने पर दिखाई नहीं देते। प्रश्न उठता है कि जब गस्सा गले में पहुंचता है तो नासिका के पिछले छिद्रों में घुस कर बाहर क्यों नहीं निकल आता? इस का उत्तर यह है कि ज्यों ही गस्सा गले में पहुंचता है त्योंही कोमल तालु (तालूत्तंसनी तथा तालूत्थापिका पेशियों के संकोच से) ऊपर को उठकर गले की पिछली दीवार के निकट जा पहुंचता है। इस क्रिया से नासिका के पिछले छिद्र जो तालुके ऊपर होते हैं ढक जाते हैं और गस्सा उन में नहीं जा सकता। कभी कभी रोगके कारण यह प्रबन्ध बिगड़ जाता है, तब पतली चीजें जैसे दुग्ध, पानी, नासिका से बाहर निकल आया करती हैं। (चित्र १० में कोमल तालु नीचे लटका हुआ है और नासिका का गले से सबंध है; चित्र ११ में कोमल तालु [त] ऊपर को उठकर गले की पिछली दीवार से जा लगा है, अब गले से कोई चीज़ नासिका में नहीं जा सकती)।

अन्न प्रनाली (चित्र १२)।

थूक से खूब मिल कर भोजन अन्न प्रनाली में पहुंचता है। इस नली का नीचे का सिरा एक थैली से जुड़ा रहता

है जिस को आमाशय कहते हैं। अन्न प्रनाली की लम्बाई १० इञ्च होती है; उस का कुछ भाग ग्रीवा में रहता है; ग्रीवा

चित्र १२ अन्न मार्ग



१=वृहत अन्त्र का प्रारम्भिक थली जैसा भाग

(From Warwick and Tunstall's First Aid)

में उसके सामने स्वरयंत्र वा टेंटुवा और उसके पीछे कशेरुका रहते हैं। ग्रीवा से यह नली वक्ष (छाती) में जाती है; यहां भी कुछ दूर तक टेंटुवा उसके सामने रहता है और रीढ़ उसके पीछे। जहां टेंटुवे का अन्त हो जाता है वहां से हृदय उसके सामने रहता है। वक्ष के दसवें या ग्यारहवें कशेरुका के सामने अन्न प्रनाली वक्षउदरमध्यस्थ पेशी के एक छिद्र में से होकर उदर में पहुंच जाती है और आमाशय से जा जुड़ती है। उदर में रहने वाले भाग की लम्बाई १ इंच से अधिक नहीं होती।

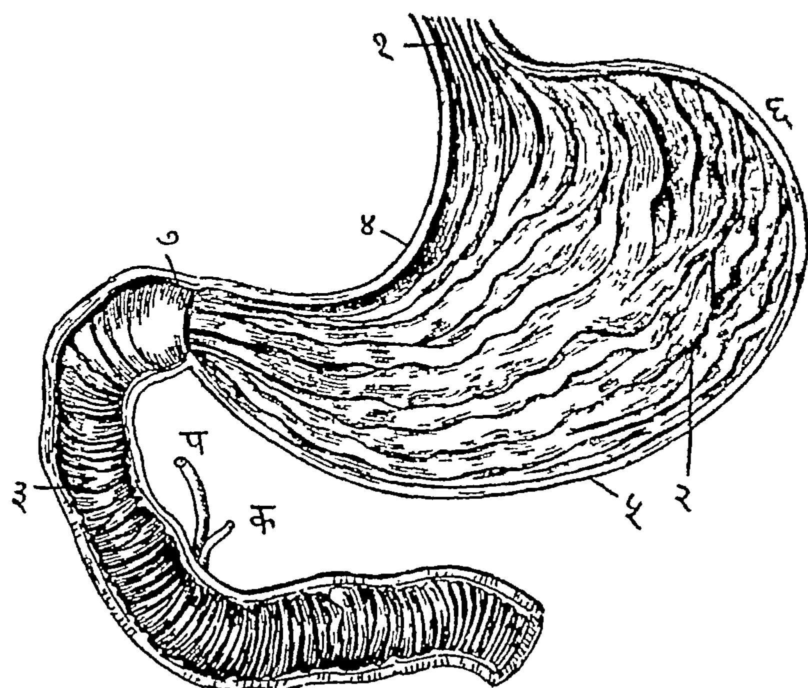
अन्न प्रनाली में किसी प्रकार का पाचक रस नहीं बनता इस नली का काम केवल भोजन को कंठ से आमाशय तक पहुंचाने का है। नली की दीवार मांस और सौत्रिक तंतु से बनी है, भीतरी पृष्ठ पर श्लैष्मिक कला बिछी रहती है। श्लैष्मिक कला में लम्बाई के रुख सलवटें पड़ी रहती हैं जैसा कि चित्र १३ में १ से विदित है। नली के ऊपर के भाग में ऐच्छिक मांस है और नीचे के भाग में अनैच्छिक मांस होता है।

आमाशय (चित्र १२, १३ वा १६)।

इस को पाकस्थली भी कहते हैं; साधारण बोल चाल में यह पेट कहलाता है। यह थैली उदर के बायें भाग में वक्ष-उदरमध्यस्थ पेशी के नीचे रहती है; पेशी के ऊपर वक्ष में बायां फुप्फुस और हृदय रहते हैं। आमाशय का बायां भाग दाहिने की अपेक्षा अधिक चौड़ा होता है। उसका आकार चमड़े की मशक से बहुत कुछ मिलता है; उस की लम्बाई, १२—१३ इञ्च और चौड़ाई चार इंच के लगभग

होती है। आमाशय के दो पृष्ठ होते हैं—एक सामने का जो कुछ ऊपर की ओर रहता है, दूसरा पीछे का जो कुछ नीचे

चित्र १३ आमाशय और पक्वाशय



इस चित्र में आमाशय और अंत्र काट कर दिखाए गये है।

१ अन्नप्रनाली का अन्तिम भाग, यह आमाशय का अन्न प्रनाली की ओर का द्वार है, हृदय के निकट रहने के कारण इसको हृदय द्वार भी कहते हैं। २. आमाशय की श्लैष्मिक कला की सलवटें। ३. पक्वाशय की श्लैष्मिक कला की सलवटें ४. आमाशय का दाहिना नतोदर किनारा ५. आमाशय का बाया उन्नतोदर किनारा ६. आमाशय का ऊर्ध्वांश ७. यहा पक्वाशय का आरम्भ होता है, यह आमाशय का पक्वाशयिक द्वार है प. पित्त प्रनाली क = क्लोम प्रनाली

की ओर रहता है। उसके दो किनारे होते हैं एक बायां नतोदर और छोटा, दूसरा दाहिना, उन्नतोदर और लम्बा (चित्र १३ में ४ और ५) आमाशय में दो छिद्र या द्वार भी होते हैं, एक छिद्र बाईं ओर हृदय के निकट होता है अन्न प्रणाली से भोजन इसी छिद्र या द्वार में होकर उसके भीतर आता है यह हृदय द्वार कहलाता है (चित्र १३ में १); दूसरा द्वार दाहिनी ओर होता है, इस में से होकर भोजन अंत्र में पहुंचता है यह पक्वाशयिक द्वार है (चित्र १३ में ७)।

आमाशय की समाई १½ सेर के लगभग होती है (७०-७५ घन इंच)।

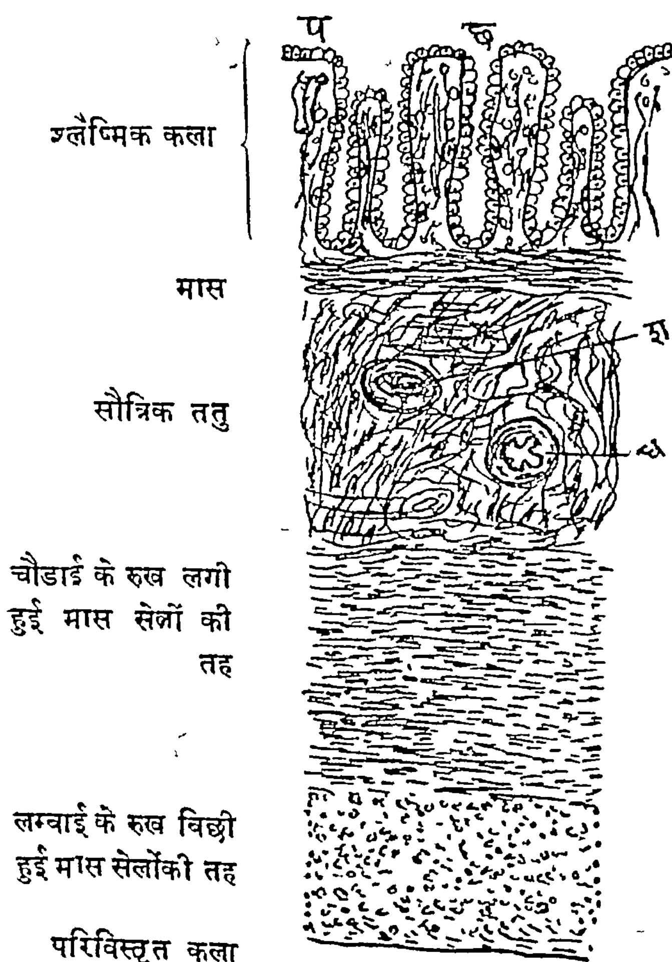
आमाशय की दीवार अनैच्छिक मांस और सौत्रिक तंतु की होती है। मांस सेलों की कई तहें होती हैं। भीतरी पृष्ठ पर श्लैष्मिक कला बिछी रहती है जिसमें अनेक सूक्ष्म सूक्ष्म नल्याकार ग्रन्थियां होती हैं। मांस के बाहर अर्थात् आमाशय के बाहरी पृष्ठ पर एक पतली झिल्ली चढ़ी रहती है—यह उदर की परिविस्तृत कला का भाग है (चित्र ४ में आ के चारों ओर झिल्ली चढ़ी है)।

यदि आमाशय की दीवार के एक छोटे से भाग के अनेक पतले पतले पन्ने काटे जावें और फिर ये पन्ने अणुवीक्षण द्वारा यथा विधि देखे जावें तो दीवार की बनावट ऐसी दिखाई देगी जैसी कि चित्र १४ में दर्शाई गई है।

पक्वाशयिक द्वार पर मांस की मोटी तह होती है। इस मांस के संकोच से यह द्वार बंद रहा करता है; जब भोजन आमाशय से अंत्र में जाने वाला होता है तब मांस के विसार

से यह द्वार खुल जाता है। इस द्वार पर लगे हुए मांस को पक्वाशयिकद्वार संकोचनी पेशी कहना अनुचित न होगा।

चित्र १४ आमाशयिक दीवार की सूक्ष्म रचना



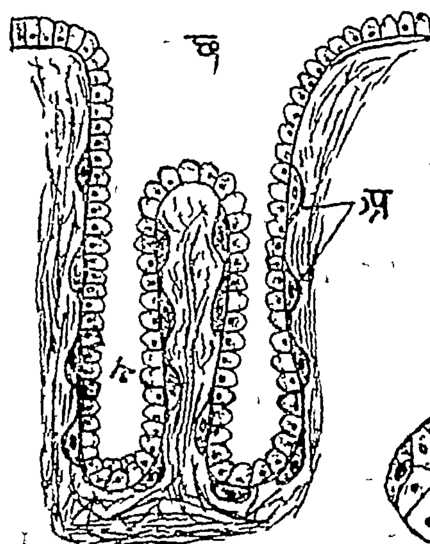
श = शिरा ध = धमनी छ = ग्रन्थि का मुख प = श्लैष्मिक कला का पृष्ठ

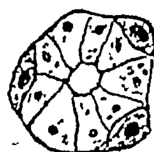
आमाशय की श्लैष्मिक कला (चित्र १४ वा १५)

श्लैष्मिक कला में लम्बाई के रुख सलवटें पड़ी रहती हैं जैसा कि चित्र १३ से विदित है। जब आमाशय खाली होता है तब कम रक्त रहने के कारण इस कला का रंग हलका पांडुर रहता है; जब उस में भोजन आता है तब अधिक रक्त के कारण रंग लाल सा हो जाता है और रस बनने लगता है।

श्लैष्मिक कला में बहुत सी नली जैसी ग्रन्थियां होती हैं (चित्र १५ में न एक नल्याकार ग्रन्थि है)।

चित्र १५ आमाशय की नल्याकार ग्रन्थिया





ग्रन्थि का व्यत्यस्तकाट

छ = ग्रन्थि स्रोत का छिद्र न = नल्याकार ग्रन्थि अ = अम्लोत्पादक सेलें

ग्रन्थि की दीवार में दो प्रकार की सेलें हैं जैसा कि चित्र १५से विदित है:—१. स्तंभाकार या घनाकार सेलें, २. बड़ी

और मोटी मींगी वाली सेले (चित्र १५ में अ); ये अम्लोत्पादक सेलें कहलाती हैं।

अम्लोत्पादक सेलें आमाशय के चौड़े भाग में (चित्र १३ में ६) बहुत होती हैं; पक्वाशय की ओर के भाग में कम।

आमाशयिक रस

आमाशय की ग्रन्थियों में जो रस बनता है वह आमाशयिक रस कहलाता है। इस रस की प्रतिक्रिया अम्ल होती है। जिस अम्ल के कारण इस की प्रतिक्रिया अम्ल होती है उस का नाम हाइड्रोक्लोरिक अम्ल † या नमक का तेजाब है। यह उदजन और हरिन दो गैसों का संयोजित है। इस अम्ल के अतिरिक्त इस रस में **पेप्सीन*** और **रेनेट*** नामक दो विशेष पदार्थ होते हैं; रस में कई प्रकार के लवण भी रहते हैं। आमाशयिक रस एक पतला और कुछ कुछ विवर्ण द्रव होता है; उसमें विशेष प्रकार की गंध आया करती है; उस का गुरुत्व १.००२ से १००३ तक होता है।

लाला मिश्रित गीला भोजन आमाशय के बायें चौड़े भाग में आकर इकट्ठा हुआ करता है। भोजन पहुंचने पर आमाशयिक रस बनना आरंभ होता है; रस तैय्यार होने में कोई आध घन्टा लगता है। जब तक यह अम्ल रस भोजन से नहीं मिलता उस समय तक लाला का श्वेतसार परिवर्त्तक पदार्थ भोजन के श्वेतसार पर अपना असर करता रहता है। ज्योंही

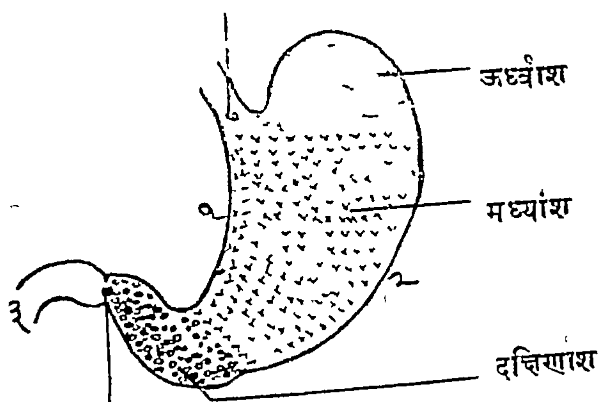
† हिन्दी नाम उज्जहरिक या अभिद्रव हरिक है

* अङ्गरेजी भाषा के शब्द हैं

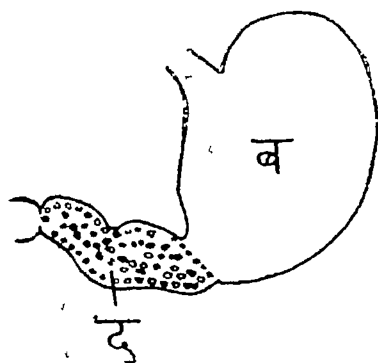
भोजन की प्रतिक्रिया आमाशयिक रस से मिलने के कारण अम्ल हो जाती है त्योंही लाला का असर बंद हो जाता है।

चौड़े भाग से भोजन थोड़ा थोड़ा क्रमशः बाये तंग भाग में पहुंचता है।

चित्र १६ आमाशय



(२)



चित्र व्याख्या

(१) १ = नतोदर किनारा २ = उन्नतोदर किनारा। ३ = पक्वाशय

(२) भोजन पचने के समय आमाशय की आकृति। द = दक्षिणांश मास के सकोच से लम्बा और नली जैसा हो जाता है; भोजन इसी भाग में मथता है।

व = आमाशय का शेष भाग। इस में भोजन इकट्ठा रहता है और धीरे धीरे दक्षिणांश में जाता है।

आमाशय को गतियां—(चित्र १६)

जहां तक गतियों का सम्बन्ध है हम आमाशयके पांच भाग मान सकते हैं:—

१ वह भाग जहां अन्न प्रनाली का अंत होता है ; यह हृदय द्वार है ; यहां मांस अधिक होता है · मांस के संकोच से यह द्वार बंद रहता है; उसके विसार से यह द्वार खुल जाता है। जब आमाशय खाली होता है तब यह द्वार बहुधा खुला रहता है परन्तु जब आमाशय में भोजन होता है तब यह द्वार बंद रहता है।

२ बाईं ओर का चौड़ा और स्थूल भाग इसको ऊर्ध्वांश कहते हैं

३ बीच का भाग—यह मध्यांश कहलाता है

४. दाहिनी ओर का तंग भाग यह दक्षिणांश है

५ पक्वाशयिक द्वार। यह द्वार संकोचनी पेशी के संकोच से सदा बंद रहता है; जब भोजन आमाशय से अंत्र में जाने योग्य बनता है तब यह द्वार खुलता है।

अम्ल रस अधिकतर मध्यांश में बनता है ; ऊर्ध्वांश और दक्षिणांश में अम्ल बनाने वाली ग्रन्थियां कम होती हैं ; दक्षिणांश में पक्वाशयिक द्वार के पास इस प्रकार की ग्रन्थियां होती ही नही।

भोजन आकर ऊर्ध्वांश और मध्यांश में इकट्ठा हो जाता है। आमाशय के बायें भाग में बहुत कम गतियां होती हैं; यह भाग भांडार का काम देता है जिस में भोजन जमा रहता है। मध्यांश में धीरे धीरे अम्ल रस बनने लगता है; आमाश-

यिक रस सब भोजन से एक दम नहीं मिल जाता इस कारण भोजन के उस भाग में (विशेषकर उस भाग में जो आमाशय के बीच में दीवारों से बचा हुआ है) जो अभी अम्ल रस से नहीं मिला लाला अपनी पाचक क्रिया करता रहता है।

अब मध्यांश में गतियां होने लगती हैं; मांस सिकुड़ता है और फैलता है जिस के कारण आमाशय की दीवारें कभी मोटी हो जाती है और कभी पतली; मांस के संकोच से इस भाग की समाई घट जाती है और भोजन पर दवाव पड़ता है; थोड़ा सा भोजन दक्षिणांश में चला जाता है। दक्षिणांश में मांस अधिक होता है; इस कारण यहां गतियां भी खूब होती है; गतियें की लहरें उठती हे जो मध्यांश से पक्काशयिक द्वार की ओर जाती हैं, मांस के संकोच से दक्षिणांश में जो भोजन है वह खूब मथ जाता है और आमाशयिक रस से मिलकर पतला हो जाता है। जब तक भोजन पतला नहीं बन जाता और उस के मोटे टुकड़े खूब पिस नहीं जाते तब तक दक्षिणांश में गतियां होती रहती हैं और पक्काशयिक द्वार भी बंद रहता है। मध्यांश से पक्काशयिक द्वार तक पहुंचने में एक लहर को २० सेकंड लगते हैं, एक लहर के बाद दूसरी दूसरी के बाद तीसरी इस प्रकार गतियां होती रहती हैं।

जब दक्षिणांश में आया हुआ भोजन अम्ल रस से खूब मिल कर पतला हो जाता है तब पक्काशयिक द्वार मांस के विसार से खुल जाता है और दक्षिणांश इस पतले भोजन को बड़े वेग से पक्काशय में ढकेलता है। अब मध्यांश से कुछ और भोजन आता है; यह भी उसी प्रकार मंथा जाता है और फिर पक्काशय में ढ़केल दिया जाता है। इस तरह सहज सहज सब भोजन पक्काशय में पहुंच जाता है।

सामान्य भोजन आमाशय में लग भग ४½ घन्टे ठहरता है।

जो भोजन दांतों द्वारा भली प्रकार नहा चबाया गया वह आमाशय में देर तक ठहरता है कारण यह है कि जहां नक होता है आमाशय किसी सख़्त चीज़ को अंत्र में नही जाने देता। दांतों का काम आमाशय जैसे कोमल अंग से कभी न लेना चाहिये, भोजन को खूब चबाकर खाना चाहिये। उपरोक्त मंथन क्रिया द्वारा भोजन से अम्ल प्रतिक्रिया वाले बने हुए द्रव को **आहार रस** कहते है। अंत्र में पहुंच कर आहार रस की प्रतिक्रिया क्षारीय हो जाती है।

आमाशयिक रस और दुग्ध

दुग्ध में दो प्रोटीनें होती हैं—दुग्धज और किलाटज-जनक। ये दोनों प्रोटीनें घुली रहती हैं। कई साधन ऐसे हैं जिनके द्वारा इन प्रोटीनों में से एक अनघुल बनाई जा सकती है। अम्लों के प्रभाव से किलाटजजनक अनघुल बन जाती है; नीबू का रस (इस में साइट्रिक अम्ल होता है) दूध में मिलाया जावे तो दूध फट जायगा और एक प्रकार का दही बन जायगा। इस में परिवर्त्तन यह होता है कि घुलनशील किलाटजजनक अब अनघुल बन गई है और पानी से अलग हो गई है। एक प्रकार के बकटे-रिया (सूक्ष्म वनस्पतियां) ऐसे होते हैं कि यदि वे दुग्ध में मिला दिये जावें तो दुग्ध से दही बन जायगा, ये बकटेरिया भी एक अम्ल बनाते हैं जो किलाटजजनक को अनघुल बना देता है; दही में यह बकटेरिया रहते हैं और उसका खटास इन बकटेरिया के बनाये हुए अम्ल के कारण होता

है। बकटेरिया अधिक उष्णता के प्रभाव से मर जाते हैं और अधिक शीत से उनकी बढ़ोत बंद हो जाती है। यह सब लोग जानते हैं कि यदि उबलते हुए दुग्ध में जामन दिया जावे (अर्थात् ज़रा सा दही मिलाया जावे) तो वह दुग्ध बहुधा नहीं जमता ; इसका कारण यह है कि अम्लोत्पादक बकटेरिया तो मर जाते हैं और ज़रा से दही में इतना अम्ल होता नहीं जो किलाटजजनक को अनघुल बना सके। अधिक शीत के कारण दुग्ध इस कारण नहीं जमता कि अम्लोत्पादक बकटेरिया की बढ़ोत बंद हो जाती है; ग्रीष्म ऋतु में दुग्ध बिना जामन दिये भी कभी कभी जम जाता है (या फट जाता है); इस का कारण यह है कि वायु से उसमें अम्लोत्पादक बकटेरिया आ जाते हैं।

जब दुग्ध आमाशय में पहुंचता है तब वहां अम्ल मिलता है, आमाशयिक रस में दुग्ध जमाने वाला "रेनेट" नामक पदार्थ भी होता है। रेनेट में यह गुण है कि वह उन खटिक संयोजित की सहायता से जो दुग्ध में रहते हैं किलाटजजनक को अनघुल बना कर दुग्ध से दही बना दे ; अम्ल की सहायता से यह क्रिया और भी जल्दी होती है। आमाशय में जो दही बनता है उस का थक्का इतना बड़ा और दृढ़ नहीं होता जैसा शरीर से बाहर जमे हुए दही का; इसके थक्के छोटे छोटे बनते हैं। जितने छोटे थक्के होते हैं उतनी ही अच्छी तरह से आमाशयिक रस का पाचक असर उन पर होता है।

दुग्ध का आमाशय में पहुंच कर जम जाना एक स्वाभाविक क्रिया है अस्वाभाविक नहीं जैसा कि कुछ लोगों का मिथ्या विचार है।

जमने के पश्चात् दही उसी प्रकार पचता है जैसे कि और भोजन।

आमाशयिक रस का भोजन की प्रोटीनों पर असर

भोजन की प्रोटीनें (चाहे वे मांस से प्राप्त हों और चाहे अन्न से) ऐसी होती हैं कि जब तक उनमें एक विशेष प्रकार का परिवर्त्तन न हो वे अन्न मार्ग की श्लैष्मिक कला में से हो कर रक्त में नही पहुंच सकतीं। जब तक भोजन की वस्तुएं हमारे शरीर के भीतर रक्त में न पहुंच जावें उस वक्त तक उनका खाना या न खाना बराबर है।

आमाशयिक रस में पेप्सीन नामक एक पदार्थ होता है। यह पदार्थ प्रोटीनविश्लेषक है अर्थात् वह प्रोटीनों का विश्लेषण कर के उनसे और नये पदार्थ बना सकता है। पेप्सीन के काम करने के लिए अम्ल का होना ज़रूरी है। बिना इस हाइड्रोल्कोरिक अम्ल के पेप्सीन अपना काम नही कर सकता। अम्लमिश्रित पेप्सीन की क्रिया से जो प्रोटीनों से नये पदार्थ बनते हैं वे अधिकतर घुलनशील होते हैं और उनमें से कुछ-तो ऐसे होते हैं कि श्लैष्मिक कला में से हो कर रक्त में पहुंच सकते हैं। परंतु सामान्यतः सब प्रोटीन का पूर्ण विश्लेषण आमाशय में नहीं होता इसलिये यह अधपची प्रोटीनें अंत्र में पहुंचती हैं और वहां जा कर और पाचक रसों की सहायता से जिन में पेप्सीन से अधिक प्रबल प्रोटीनविश्लेषक पदार्थ होता है पूरे तौर से पचती हैं तत् पश्चात् उन से बने हुए नये पदार्थ रक्त में पहुंचते हैं।

आमाशयिक रस का कर्बोज पर असर

आमाशयिक रस का श्वेतसार पर कोई असर नहीं होता,

जहां तक इस रस का संबंध है वह ज्यों का त्यों रहता है। हम पीछे बतला चुके हैं कि जब तक यह रस भोजन से अच्छी तरह नहीं मिलता तब तक लाला आमाशय में भी अपना असर श्वेतसार पर करता रहता है।

आमाशयिक अम्ल के प्रभाव से इक्षोज (गन्ने की शकर) से द्राक्षोज (अंगूरी शकर) वा एक और प्रकार की शकर बन जाती हैं।

आमाशयिक रस का वसा* और तैल पर असर

जमी हुई वसा (चर्वी, घृत) आमाशय में पहुंचकर शरीर की गरमी से पिघल कर द्रव रूप में आ जाती है। वसा (चर्वी, घृत) सेलों के भीतर रहती है; अम्ल मिश्रित पेप्सीन की क्रिया से सेल का प्रोटीन भाग घुल जाता है और वसा के बिंदुक बाहर निकल आते हैं। वसा और तैल पर किसी और प्रकार की रसायनिक क्रिया नही होती।

आहार रस

आमाशय से आहार रस अंत्र में जाता है। इस आहार रस की प्रतिक्रिया अम्ल है; उस में प्रोटीनों के विश्लेषण से उत्पन्न हुए नये और घुलनशील योगिक हैं; वसा पिघली हुई है और उसके बिन्दुक अब सेलों के भीतर नही है; श्वेतसार

* वसा। यह शब्द सामान्यत प्राणियों के शरीर में पाई जाने वाली चर्वी के लिए लाया जाता है, घृत और वनस्पतियो से निकलने वाले तैल के लिये नही परन्तु रसायनानुसार चर्वी, घृत और तैलों मे अधिक भेद नही है इस कारण हम ने इस पुस्तक में वसा शब्द इनसब चीज़ों के लिये लिखा है। उसका अर्थ वही समझना चाहिये जो कि अंगरेजी भाषा के फेटस Fats का होता है।

थोड़ा बहुत यवौज के रूप में आ गया है; इक्षौज से द्राक्षौज और एक नयी शकर बन गई हैं। जल और लवण ज्यों के त्यों हैं।

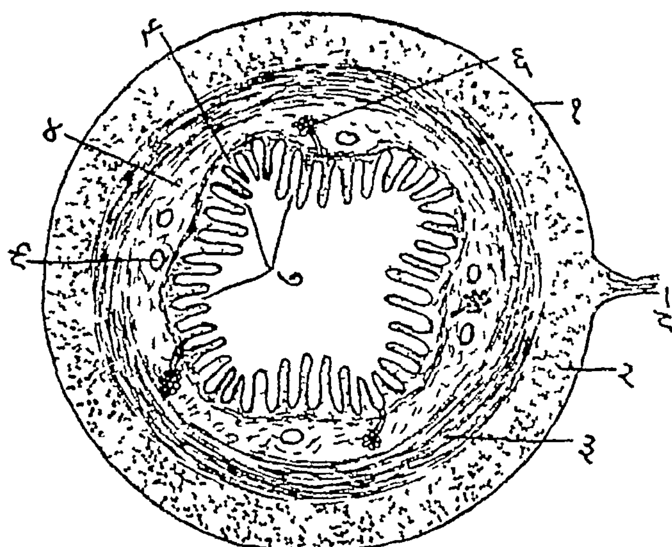
क्षुद्र अंत्र—(चित्र १२, १७, १८, १६)

यह नली कोई २२ फुट लम्बी होती है और उस का व्यास $१\frac{१}{४}$ से $१\frac{३}{४}$ इंच तक होता है। क्षुद्रांत्र सर्प की तरह गेंडली मारे उदर में पड़ी रहती है। इसका नीचे का सिरा बृहत् अंत्र से जुड़ा रहता है। क्षुद्रांत्र बृहत् अंत्र से कम चौड़ी होती है परन्तु लम्बाई में उससे चौगुनी है।

क्षुद्रांत्र का प्रारंभिक बारह अंगुल (१० इंच) लम्बा भाग एक अपूर्ण चक्र की शकल में मुड़ा रहता है (देखो चित्र १२, १३ और २२)। इस भाग को **द्वादशांगुल अंत्र** या **पक्वाशय** कहते हैं। यकृत और क्लोम ग्रन्थियों के रस इसी भाग में आकर भोजन से मिलते हैं।

क्षुद्रांत्र की दीवार की रचना वैसी ही है जैसी कि आमाशय की; सब से बाहर परिविस्तृत कला रहती है। सब से भीतर श्लैष्मिक कला; दोनों के बीच में अनैच्छिक मांस रहता है। मांस की दो तहें होती हैं एक बाहरी जिस में सेलें लम्बाई के रुख बिछी रहती हैं; दूसरी भीतरी इस में सेलें चौड़ाई के रुख रहती हैं। मांस और श्लैष्मिक कला के बीच में सौत्रिक तंतु की एक तह रहती है; इस तह में कुछ ग्रन्थियां भी रहती हैं (चित्र १७ में ६; चित्र १८ में ग)। श्लैष्मिक कला से मिली हुई एक बहुत पतली तह अनैच्छिक मांस की होती है (चित्र १७ में ५, चित्र १८ में २)।

चित्र १७—अंत्र की रचना।



व्याख्या—१. परिविस्तृत कला २. मास की बाहरी तह ३. मास की भीतरी तह ४. सौत्रिक ततु ५. श्लैष्मिक कला का मास ६. सौत्रिक ततु की ग्रन्थि ७. श्लैष्मिक कला की नल्याकार ग्रन्थियां ८. अंत्रधारक कला

क्षुद्रांत्र की श्लैष्मिक कला (चित्र १८, १९)

श्लैष्मिक कला में गोलाई (चौड़ाई) के रुख झोल या सलवटें पड़ी रहती हैं जैसी कि चित्र १९ में दिखाई देती हैं। कला की सूक्ष्म रचना आमाशय की कला की रचना से कुछ भिन्न है; यह बात चित्र १८ का चित्र १४ से मुक़ाबला करने से समझ में आ जावेगी।

श्लैष्मिक कला में नल्याकार ग्रन्थियों के बीच में बहुत से बाल जैसे बारीक उभार होते हैं [चित्र १८ [१] में १, और (२)] ये उभार **ग्राहकांकुर** कहलाते हैं क्योंकि इन का काम चीज़ों

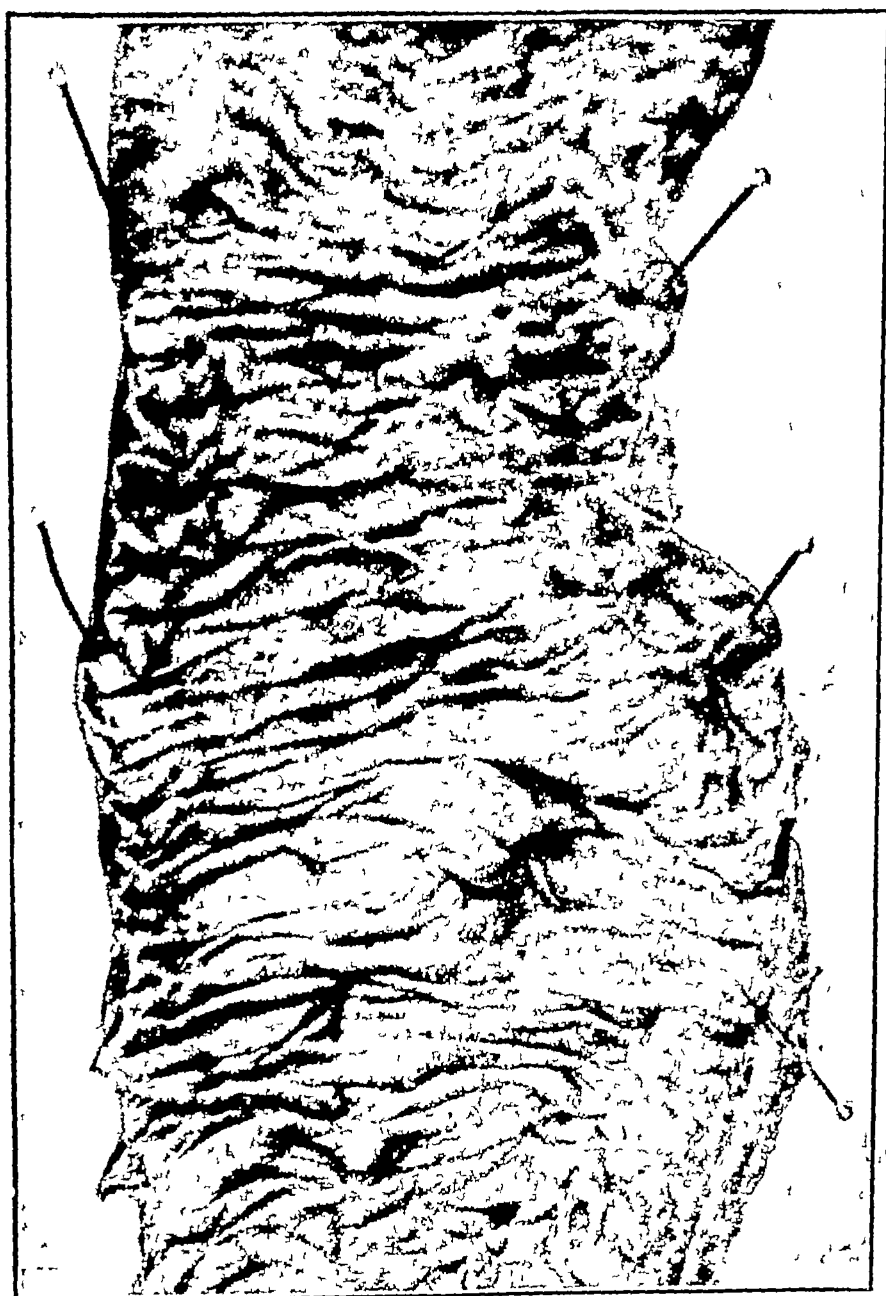
को ग्रहण करना है जैसा कि आगे चलकर बतलाया जायगा। एक वर्ग इंच श्लैष्मिक कला में कोई १२००० ग्राहकांकुर होते

चित्र १८—क्षुद्रांत्र की सूक्ष्म रचना।

(१) (२)

(१)=अंत्र की पूरी दीवार (२)=ग्राहकांकुर (३)=चौडाई के रुख कटी हुई ग्रन्थि १=ग्राहकांकुर २=श्लैष्मिक कलाका मास ३. सौत्रिक ततु ४. मास (भीतरी तह) ५. मांस (बाहरी तह) ६. परिविस्तृत कला न=नल्याकार ग्रन्थि छ=छिद्र—रस इस में से होकर भोजन से जा -मिलता ह च=चालो वाली सेलें ल=लिम्फवाहिनी म=ग्रन्थि का मुख

चित्र १६ क्षुद्रांत्र की श्लैष्मिक कला



हैं। हर एक ग्राहकांकुर की लम्बाई $\frac{१}{४८}$ से $\frac{१}{८}$ इंच तक होती है। ग्राहकांकुर केवल क्षुद्रांत्र में ही होते हैं, न आमाशय में पाए जाते हैं और न वृहत् अंत्र में। हर एक ग्राहकांकुर के भीतर बीच में एक बड़ी लिम्फवाहिनी रहती है (चित्र १८ में ल), लिम्फवाहिनी के चारों ओर कुछ सेलें, रक्तकेशिकाएं और अनैच्छिक मांस रहते हैं; इस अनैच्छिक मांस के संकोच से ग्राहकांकुर बहुधा हिला करते हैं।

पक्काशय की सौत्रिक तंतु में बहुत सी एक विशेष प्रकार की कोष्ठाकार ग्रन्थियां पाई जाती हैं (चित्र १८ में ग): ये ग्रन्थियां क्षुद्रांत्र के शेष भाग में नही होतीं।

क्षुद्रांत्र के नीचे के भाग की दीवार में कुछ विशेष "ग्रन्थि समूह" होते हैं; इनकी लम्बाई $\frac{१}{२}$ इंच से ४ इंच तक और चौड़ाई $\frac{१}{२}$ इंच होती है; ये समूह श्लेष्मिक कला के नीचे रहते हैं; इस स्थान में ग्राहकांकुर नहीं पाये जाते। ये ग्रन्थि समूह क्षुद्रांत्र के ऊपर के भाग में अर्थात् पक्काशय के निकट कम होते हैं। कुल क्षुद्रांत्र में इन की संख्या २० से ३० तक होती है। वृहत् अंत्र में ये ग्रन्थि समूह नही होते। टायफौयड ज्वर में इन ग्रन्थिसमूहों का प्रदाह हो जाता है और इन में ज़ख्म भी बन जाते हैं, अंत्र के क्षय रोग में भी ऐसा हो जाता है।

क्षुद्रांत्रीय रस

जो रस क्षुद्रांत्र की ग्रन्थियां बनाती हैं उस को क्षुद्रांत्रीय रस कहते हैं; इस की प्रतिक्रिया क्षारीय होती है। इस रस

में कई विशेष गुणवाले पदार्थ होते हैं जिन का वर्णन आगे किया जावेगा।

यकृत (चित्र १२, २० २१)

यह शरीर भर में सब से बड़ी ग्रन्थि है और उदर के ऊपर के भाग में वक्षउदरमध्यस्थ पेशी के नीचे पसलियों की आड़ में रहती है। यकृत का अधिक भाग मध्य रेखा के दाहिनो ओर यकृत और कौड़ी प्रदेशों में रहता है; शेष भाग मध्य रेखा के बाईं ओर आमाशयिक प्रदेश में आमाशय के सामने रहता है।

वक्ष में यकृत के ऊपर [परन्तु उससे वक्षउदरमध्यस्थ पेशी द्वारा बचे हुए] दाहिना फुफ्फुस और हृदय रहते हैं। यकृत का भार २ सेर से कुछ कम होता है; उसके भार की शरीर के भार से निसबत यह रहती है:-१:३६। उसकी लम्बाई [दाहिनी ओर से बाईं ओर तक का माप] ८ से १० इं० तक होती है; दाहिना भाग मोटा और चौड़ा होता है, बायां पतला और चपटा; दाहिने भाग की ऊंचाई ६-७ इंच और चौड़ाई [सामने से पीछे तक का माप] ४-५ इंच होती है।

स्वस्थ मनुष्य का यकृत दाहिनी चूचुक रेखा* में पसलियों से नीचे नहीं रहता अर्थात् इस रेखा में सबका सब पसलियों की आड़ में रहता है। जब विकारों के कारण वह बड़ा हो जाता है तब पसलियों के नीचे उतर आता है और चूचुक रेखा में उदर की दीवार को अंगुलियों से दबाकर सहज में स्पर्श किया जा सकता है।

*चूचुक में से होती हुई एक कल्पित खड़ी रेखा, यह रेखा उदर की ऊर्ध्व रेखा के समांतर रहेगी।

यकृत के पांच पृष्ठ होते हैं—दाहिना, नीचे का, सामने का, पीछे का और ऊपर का। इनमें से नीचे का पृष्ठ [अधो-भाग] सबसे चौड़ा और बड़ा होता है और शेष पृष्ठोंकी अपेक्षा कुछ सपाट होता है; और चारों पृष्ठ उभरे हुए होते हैं।

चित्र २०—यकृत का अधो भाग

व्याख्या—दा = दाहिना भाग। बा = बाया भाग। आमाशय = यहा आमाशय यकृत से मिला रहता है। च = चतुरस्र खंड। प = यह यकृत का एक खंड है। पक्वाशय = यहा पक्वाशय का कुछ भाग यकृत से मिला रहता है। वृक्क = यह भाग दाहिने वृक्क की शिखर से मिला रहता है। वृहद् अंत्र = वृहद् अंत्र का दाहिना मोड इस स्थान पर यकृत से मिला रहता है। क = परिविस्तृत कला। वृडम पेशी = इस भाग पर परि-विस्तृत कला नहीं चढ़ी रहती; यह भाग वक्षउदरमध्यस्थ पेशी से बिलकुल मिला रहता है (जुडा हुआ समझिये)

यकृत का अधो भाग (चित्र २०):—नीचे के और सामने के पृष्ठों के बीच में यकृत का अगला किनारा रहता है। यकृत के सामने के पृष्ठ का अधिक भाग पसलियों की महराब के नीचे कौड़ी प्रदेश में रहता है और उदर की दीवार में से स्पर्श किया जा सकता है (देखो चित्र २६ मे य)। नीचे के पृष्ठ (अधो भाग) पर पांच गढ्हे होते हैं। एक गढ्हे में पित्ताशय रहता है; यह अंग दाहिनी नौवीं उप पर्शुका के ठीक पीछे रहता है। पित्ताशय के बाईं ओर एक गढ्हे में यकृत का गोल वंधन † रहता है। (चित्र २०)। पित्ताशय और गोल वंधन के गढ्हे पीछे जाकर एक चौड़े और गहरे गढ्हे से जा मिलते हैं; इस बड़े गढ्हे को **यकृत द्वार** कहते हैं; इस स्थान में यकृत की धमनी, संयुक्त शिरा और कुछ नाड़ियां* भीतर घुसती हैं और पित्त स्रोत बाहर निकलते हैं। यकृत द्वार के पीछे दो गढ्हे और होते हैं; एक में निम्न महा शिरा (या अधोगा महा शिरा) रहती है, यकृत की शिराएं इसी गढ्हे में अधोगा महाशिरा से जुड़ जाती हैं; दूसरा गढ्हा कम गहरा होता है, इस में गर्भावस्था में नाभि शिरा की एक शाखा रहा करती है; जब बच्चा पैदा हो लेता है तब इस में रक्त नहीं रहता और वह सूखकर रज्जु के समान हो जाती है। (चित्र २० में श)।

† गर्भावस्था में इस गढ्हे में नाभि शिरा रहती है। प्रसव के पश्चात इस शिरा में रक्त नहीं बहता और वह सूखकर एक रज्जु के समान हो जाती है। एक ओर यह रज्जु यकृत से जुडी रहती है दूसरी ओर नाभि से। यही यकृत का गोल वधन है

* वात सूत्र

इन गढ्हों के बीच में जो भाग हैं वे यकृत के खंड कहलाते हैं; इन खंड़ो के अलग अलग नाम हैं।

यकृत का अधो भाग उदर के कई अगों से मिला रहता है; इन अंगों के दबाव से यकृत के इस पृष्ठ पर निशान बन जाते हैं; कौन अंग कहां मिला रहता है यह चित्र २० के देखने से ज्ञात हो जायगा।

पांच बंधनों द्वारा यकृत वक्षउदरमध्यस्थ पेशी, उदर के सामने की दीवार, आमाशय और पक्वाशय से बंधा रहता है। इन में से चार तो परिविस्तृत कला से बनते हैं; पांचवां (गोल) बंधन सूखी हुई शिरा है।

यकृत के अधिक भाग पर परिविस्तृत कला चढ़ी रहती है; ज़रासा भाग (चित्र २० में व उ म पेशी) इस कला से खाली रहता है।

जवान मनुष्य में केवल उस भाग को छोड़कर जो कौड़ी प्रदेश में रहता है यकृत का सब भाग पसलियों की ओट में रहता है। कौड़ी प्रदेश में इस का नीचे का किनारा नाभि से एक हस्त (३–४ इंच के लगभग) ऊंचा रहता है। यदि चूचुक रेखा में यकृत का भाग उदर की दीवार में से भली प्रकार स्पर्श होने लगे तो यकृत को बढ़ा हुआ और विकृत समझना चाहिये [कौड़ी प्रदेश को छोड़कर यकृत का पसलियों के नीचे स्पर्श किया जाना अच्छा नहीं]

शिशुओं में (स्वस्थावस्था में भी) एक दो वर्ष की आयु तक यकृत का अगला किनारा चूचुक रेखा में पसलियों से आध इंच नीचे रहा करता है। यदि इससे ज़्यादा मालूम हो तो डाक्टर से इस का कारण पूछना चाहिये।

पित्त

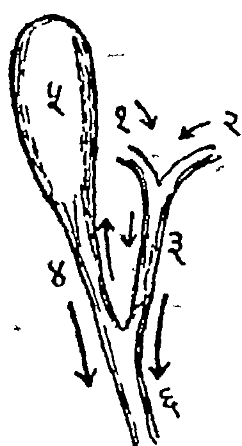
यकृत में जो पाचक रस बनता है उस को पित्त कहते हैं। यह पीलाहट लिये हुए हरे रंग का क्षारीय प्रतिक्रया वाला कड़ुवा द्रव होता है। पित्त का गुरुत्व १०२६ से १०३२ तक होता है। उस में कई प्रकार के लवण और दो प्रकार के रंग घुले रहते हैं।

यकृत से दो नलियां निकलती हैं–एक दाहिने भाग से दूसरी बायें भाग से; ये **पित्त स्रोत** हैं (चित्र २१ में १, २): यकृत द्वार में दोनों पित्त स्रोत एक दूसरे से जुड़ जाते हैं और **संयुक्त पित्त स्रोत** बन जाता है (चित्र २१ में ३) ; सयुक्त पित्त स्रोत और पित्ताशयिक नली के संयोग से **पित्त प्रनाली** बनती है जिसके द्वारा पित्त पकाशय में पहुंचता है। पित्त के कार्य आगे बतलाये जावेंगे।

पित्ताशय

यह मांस और सौत्रिक तंतु से निर्मित एक थैली है जो यकृत के नीचे के पृष्ठ के एक गढ्हे में रहती है। यह थैली यकृत से परिविस्तृत कला की सहायता से बंधी रहती है। पित्ताशय की आकृति नासपाती जैसी होती है। उस का स्थूल भाग या गात्र सामने को रहता है और कुछ यकृत के अगले किनारे के नीचे निकला रहता है (देखो चित्र २०) ; इस भाग के सामने दाहिनी ओर की नौवी उपपर्शुका रहती है। पतला और नोकीला भाग पीछे को यकृत द्वार में रहता है, इस से एक नली निकलती है (चित्र-२१ में ४) इस नली और संयुक्त पित्तस्रोत के मेल से पित्त प्रनालो बनती है।

चित्र २१



१ = दाहिना पित्त स्रोत

२ = बाया पित्त स्रोत

३ = सयुक्त पित्त स्रोत

४ = पित्ताशयिक नली

५ = पित्ताशय

६ = पित्त प्रनाली

पित्त पित्तस्रोतों द्वारा पित्तप्रनाली में पहुंचता है ; जब भोजन पक्वाशय में होता है तब यह रस इस अंग मे जा पहुंचता है; जब भोजन पचाने के लिये इस की आवश्यकता नहीं होती तब यह संयुक्त पित्तस्रोत से पित्त प्रनालो में जाने के बजाय पित्ताशय में चला जाता है और वहां इकट्ठा रहता है।

कभी कभी पित्ताशय, पित्त प्रनाली या पित्त स्रोतों में छोटी छोटी पित्त की कंकड़ियां बन जाती हैं। कंकड़ियों की चुभन से बड़ा दर्द होता है। कंकड़ियां पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक बना करती हैं।

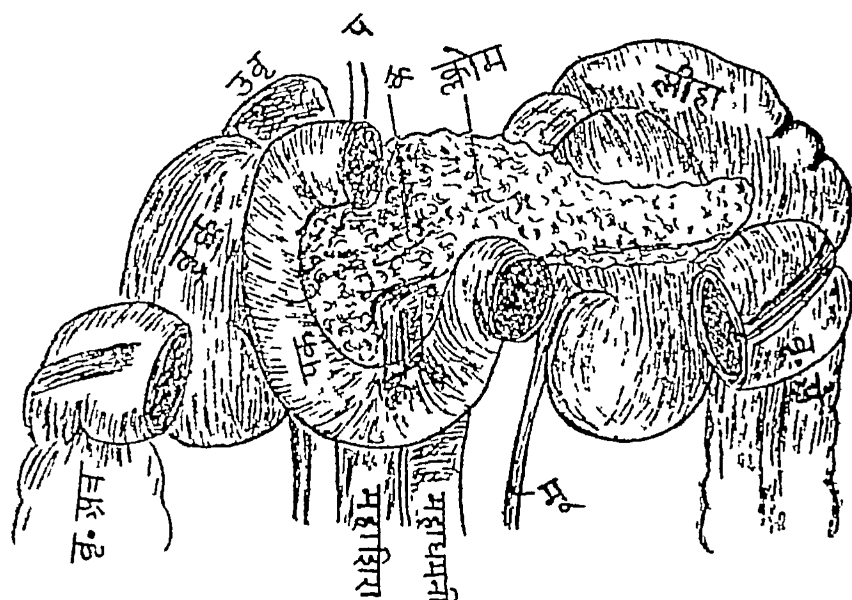
क्लोम (या पैनक्रयास*) चित्र २२

यह ग्रन्थि उदर की पिछली दीवार से लगी रहती है। उस की आकृति पिस्तौल जैसी होती है। क्लोम का दाहिना

* अगरेज़ी भाषा का शब्द है।

भाग मोटा होता है और शिर कहलाता है, बायां भाग पतला होता है और उस को पुच्छ कहते हैं। शिर और पुच्छ के बीच का भाग ग्रन्थि का गात्र है। शिर पक्वाशय के घेरे में रहता है; पुच्छ का सिरा प्लीहा से मिला रहता है। क्लोम के सामने अनुप्रस्थ वृहत अंत्र और आमाशय रहते हैं; उसके पीछे अधोगा महाशिरा, महा धमनी, बायें उपवृक्क का कुछ भाग, बायां वृक्क और प्लीहा रहते हैं। ग्रन्थि का भार ६० से १०० माशे तक होता है ; उस की लम्बाई ५ से ६ इंच तक होती है।

चित्र २२



प=पित्त प्रनाली , क=क्लोम प्रनाली; मू=मूत्र प्रनाली उ वृ=उप वृक्क : पक्व=पक्वाशय, वृ. अंत्र=वृहत अंत्र

इस ग्रन्थि में जो पाचक रस बनता है उस को क्लोम रस कहते हैं। ग्रन्थि के विविध भागों से पतली पतली नलियां निकलती हैं जिन को क्लोम स्रोत कहते हैं। क्लोम स्रोतों के एक दूसरे से मिलने से एक बड़ी नली बन जाती है, यह क्लोम प्रनाली कहलाती है। क्लोम प्रनाली का आरंभ ग्रन्थि की पुच्छ में होता है; यहां से वह शिर तक जाती है। क्लोम प्रनाली का अधिक भाग ग्रन्थि के भीतर ही रहता है और विना ग्रन्थि को चीरे दिखाई नहीं देता ; ज्यों ज्यों वह शिर के निकट पहुंचती है त्यों त्यों वह स्रोतों के जुड़ने से बड़ी होती जाती है। शिर में पहुंच कर क्लोम प्रनाली ग्रन्थि से बाहर निकलती है और पित्त प्रनाली साथ साथ पक्वाशय तक पहुंचती है। दोनों प्रनालियां एक ही साथ और एक ही स्थान पर पक्वाशय की दीवार में घुसती हैं और दोनों का रस एक ही छिद्र द्वारा पक्वाशय के भीतर पहुंचता है।

क्लोम रस

यह एक पतला स्वच्छ क्षारीय द्रव होता है ; उस का गुरुत्व १००७ होता है। इस रस में तीन (कुछ वैज्ञानिकों के मतानुसार चार) विशेष पाचक पदार्थ पाए जाते हैं:—

१. प्रोटीन विश्लेषक (या ट्रिप्सिन*)—इस का वही कार्य है जो आमाशय की पेप्सीन का अर्थात् उस के द्वारा भोजन की प्रोटीनों का विश्लेषण होता है और उन से छोटे अणु वाले घुलनशील पदार्थ बन जाते हैं। क्लोम का प्रोटीन विश्लेषक पेप्सीन से अधिक प्रबल होता है। पेप्सीन अपना

* अंगरेज़ी भाषा का शब्द है।

काम अम्ल घोलों पर ही कर सकती है, अन्यतः क्लोम के प्रोटीन विश्लेषक के लिये घोलों की प्रतिक्रिया या तो खूब क्षरीय हो या न क्षरिय हो न अम्ल।

२ श्वेतसार विश्लेपक (या अमाइलोप्सिन*)—यह वही काम करता है जो लाला का श्वेतसार परिवर्त्तक करता है अर्थात् उस की सहायता से श्वेतसार से यवौज शकर बन जाती है। शिशुओं में यह पदार्थ ५-६ मास की आयु के पश्चात् बनना आरंभ होता है।

३. वसा विश्लेपक [या स्टीयप्सिन*]—इस की क्रिया से वसा से ग्लीस्रीन और अम्ल बन जाते हैं।

४ कुछ लोगों का विचार है कि क्लोम रस में दुग्ध को जमा देने वाली चीज़ भी होती है।

क्षुद्रांत्रीय रस और पित्त से मिल कर क्लोम रस की चीज़ें अपनी अपनी क्रिया में प्रवल हो जाती हैं।

क्षुद्रांत्रीय रस

इस रस में चार चीज़ें पाई जाती हैं:—

१ क्लोमोत्तेजक—यह चीज़ रक्त द्वारा क्लोम में पहुंचती है। इस चीज़ के पहुंचने पर क्लोम ग्रन्थि बड़ी शीघ्रता से अपना रस बनाने लगती है।

२. एक पदार्थ ऐसा होता है कि जिस से क्लोम के प्रोटीन विश्लेपक की शक्ति चढ़ जाती है।

३ प्रोटीन विश्लेपक [या इरेप्सिन*]। यह उन पदार्थों का जो प्रोटीनों के विश्लेपण से बने हैं विश्लेषण करता है।

* अग्रेजी भाषा के शब्द हैं।

४. शर्करा परिवर्त्तक—इस पदार्थ की क्रिया से यवौज, इक्षवोज, दुग्धौज इत्यादि शकरों से द्राक्षौज या अंगूरी शकर बन जाती है।

क्षुद्रांत्रीय रस की प्रतिक्रिया क्षारीय होती है।

पित्त के कार्य

१. पित्त से मिल कर क्लोम रस अपनी सब क्रियाओं में प्रबल हो जाता है। पित्त के कारण क्लोम रस को वसा विश्लेषक शक्ति विशेष कर बढ़ जाती हैं।

२ वसा के पचाव और आत्मीकरण के लिये पित्त बड़ी आवश्यक चीज़ है। जब पित्त कम बनता है या किसी कारण अंत्र में नहीं पहुंच सकता तब वसा बहुत कम पचती है और उस का अधिक भाग विष्टा द्वारा शरीर से बाहर निकल जाता है।

३ आमाशय से आए हुए अम्ल आहाररस की अम्लाशयता क्षारीय पित्त और क्लोम रस के क्षार के कारण जाती रहती है। आहार रस अब क्षारीय हो जाता है। क्लोम रस का असर क्षारीय घोलों पर अच्छी तरह होता है।

४. अंत्र में पित्त के रहने से सड़ाव कम होने पाता है। जब अंत्र में पित्त नहीं पहुंच पाता तब सड़ाव अधिक होता है और विष्टा बहुत बदबूदार होती है।

अध्याय १७

पोषण संस्थान (३)

प्रोटीनों का पचाव

भोजन की प्रोटीनों के सम्बन्ध में [चाहे ये प्रोटीनें दाल और गेहूं से प्राप्त हों और चाहे दुग्ध और मांस से] दो बातें याद रखनी चाहियें —

१ ये प्रोटीनें अन्नमार्ग की श्लैष्मिक कला में से हो कर रक्त में नहीं जा सकतीं। जब तक वे रक्त में न पहुंचें उनका भोजन में होना या न होना बराबर है।

२. ये प्रोटीनें उन प्रोटीनों से जो हमारे रक्त में पाई जाती हैं भिन्न प्रकार की हैं। जब तक इन प्रोटीनों से परिवर्त्तन हो कर ऐसी प्रोटीनें न बनें जैसी रक्त में पाई जाती हैं रक्त उनको ग्रहण नहीं करता।

भोजन की प्रोटीनों के इन दोनों दोषों को दूर करने के लिये अन्नमार्ग में कई रस उन पर अपना असर करते हैं।

इन रसों की क्रिया से प्रोटीनों का विश्लेषण होता है। यह विश्लेषण आमाशय में आरंभ होता है और क्षुद्रांत्र में क्लोम रस और क्षुद्रांत्रीय रस की क्रिया से पूर्ण होता है। विश्लेषण से जो नये छोटे अणुवाले यौगिक बनते हैं वे श्लैष्मिक कला में से हो कर रक्त में पहुंचते हैं। रक्त में पहुंचते ही इनके परस्पर संयोग से वे प्रोटीनें बन जाती हैं जो रक्त में

पाई जाती हैं जैसे सीरम अलब्युमेन,* सीरम ग्लोब्युलिन* फ़ाइब्रिनजनक † ।

रक्त की विशिष्ट प्रोटीनों के बनने के लिये भोजन की प्रोटीनों का विश्लेषण क्यों होता है ? इसके उत्तर में हम एक उपमा देते हैं: --

यदि आप एक पुराने मकान से (जो आप को पसंद नहीं है) नया मकान बनाना चाहें तो आप क्या करेंगे ? आप इस मकान को ढाना आरंभ करेंगे। किसी दीवार को गिरा देंगे और किसी को ज्यों की त्यों रहने देंगे ; फिर इस ढाये हुए मकान की ईंटों और दीवारों और मिट्टी से नया मकान खड़ा कर लेंगे। भोजन की प्रोटीनें उस मकान के सदृश हैं जो शरीर की सेलों को पसंद नहीं है। शरीर उन से नई प्रोटीनें बनाने के लिये उनका विश्लेषण करता है और उनसे छोटे अणुवाले योगिक बना लेता है। फिर इन योगिकों के इच्छानुसार संयोग से अपनी नयी प्रकार की प्रोटीनें बना-लेता है।

वसा का पचाव

वसा (चरबी, तैल, घृत) दो चीज़ों के संयोग से बनती है; एक का नाम ग्लिसरीन * है, दूसरी चीज़ अम्ल ‡ है। अम्ल सब वसाओं में एक ही प्रकार का नही होता; परन्तु ग्लिसरीन सब में एक ही चीज़ होती है। अम्लों के जुदा जुदा नाम होते हैं। इस विशेष अम्ल और ग्लिसरीन के रसायनिक

*अंग्रेज़ी का शब्द † अंग्रेजी शब्द का हिन्दी रूप

‡ ये अम्ल खनिज अम्लों से भिन्न प्रकार के होते हैं और मेदस अम्ल कहलाते हैं।

सयोग से वसा बन जाती है ; अन्यतः वसा के विश्लेषण से अम्ल और ग्लिसरीन उत्पन्न होते हैं।

जब साबुन बनाया जाता है तब वसा को किसी क्षार के साथ पकाते हैं। वसा का विश्लेषण हो जाता है और ग्लिसरीन और अम्ल पृथक पृथक हो जाते हैं। अम्ल और क्षार के संयोग से जो चीज़ बनती है उस को साबुन कहते हैं। ग्लिसरीन अलग निकाल लिया जाता है।

मुख में भोजन की वसा ज्यों की त्यों रहती है। आमाशय में वह पिघल जाती है ; यदि सेलों के भीतर है तो उनसे बाहर निकल आती है। क्षुद्र अन्त्र में पहुंचकर पित्त के प्रभाव से वसा के नन्हे नन्हे बिंदुक बन जाते हैं और उस का एक दूधिया घोल* बन जाता है। क्लोम रस के प्रभाव से वसा का विश्लेषण होता है जिस के कारण ग्लिसरीन और अम्ल पृथक पृथक हो जाते हैं। अम्ल और क्षार (क्षार पित्त और क्लोम रस में होता ही है) के सयोग से साबुन बन जाते हैं जो क्षुद्रांत्र के द्रवों में घुल जाते हैं। अब ये साबुन और ग्लिसरीन ग्राहकांकुरों की सेलों में पहुंचते हैं; सेलों में पहुंचते ही साबुन का अम्ल ग्लिसरीन से मिल जाता है और फिर वसा के बिंदुक बन जाते हैं; वसा के बिंदुक अब ग्राहकांकुरों की लिम्फ केशिकाओं में पहुंच जाते हैं।

वसा के पचाव के सम्बन्ध में यह बात याद रखनी चाहिये कि वह क्षुद्रांत्र से सीधी रक्त में नहीं जाती; वह पहले लिम्फ (लसीका) में जाती है, फिर रक्त में मिलती है। वसा के

* किसी तैल का दूधिया घोल इस प्रकार बन सकता है —तैल में

नन्हे बिन्दुकों के कारण क्षुद्रांत्र के लिम्फ का रंग दूधिया सा होता है।

जब क्लोम और यकृत भली प्रकार काम नहीं करते तब वसा अच्छी तरह नहीं पचती और उसका अधिक भाग विष्ठा में ज्यों का त्यों निकल जाता है; विष्ठा का रंग श्वेत रहा करता है।

कबौज का पचाव।

श्वेतसार—मुख में श्वेतसार से यवौज शक्कर बननी आरंभ होती है; यह परिवर्त्तन आमाशय में कोई आध घंटे तक होता रहता है। अब यह अधपचा श्वेतसार क्षुद्र अंत्र में पहुंचता है; यहां क्लोम-रस की क्रिया से कुल श्वेतसार से यवौज बन जाती है। क्षुद्रांत्रीय रस की क्रिया से यवौज से द्राक्षौज [अंगूरी शक्कर] बन जाती है जिसको रक्त केशिकाएं ग्रहण कर लेती हैं।

शर्करा—क्षुद्रांत्रीय रस की क्रिया से सब शक्करों से द्राक्षौज या अंगूरी शक्कर बन जाती है †। शक्करें आसानी से पच जाती हैं।

साबुन का घोल मिला कर दोनो चीज़ों को खूब हिलाइये, शीघ्र ही दूधिया घोल बन जायगा। तैलो के इस प्रकार के दूधिया घोल को अगरेजी मे इमलशन कहते हैं, इमलशन में वसा या तैल के एक बिन्दु से अनेक नन्हे नन्हे बिन्दुक बन जाते हैं, इसी कारण रग श्वेत सा हो जाता है। तैल को गोंद के घोल के साथ घोटने से भी इमलशन बन जाता है।

† एक और प्रकार की शक्कर भी बना करती है।

कोष्ठोज—हमारे पाचक रसों का इस पर कोई असर नही होता; इसी कारण शाकों के रेशे ज्यों के त्यों विष्ठा में निकल जाते हैं।

लवण और जल।

इन चीज़ों पर कोई पाचक क्रिया नहीं होती; ये ज्यों के त्यों श्लैष्मिक कला में से रक्त में चले जाते हैं।

क्षुद्रांत्र की गति।

अंत्र की दीवार में जो मांस होता है उसके संकोच और विसार से अंत्र में सदा गति हुआ करती है। यह गति उसी प्रकार की होती है जैसी कि केंचुवे इत्यादि कृमियों के शरीर में होती है; इसी कारण अंत्र की गति को **कृमिवत् आकुञ्चन** कहते हैं। इस आकुञ्चन से दो बातें सिद्ध होती हैं एक तो पाचक रस भोजन से भली प्रकार मिल जाते हैं दूसरे दीवार के दबाव के कारण आहार रस धीरे धीरे नीचे को सरकता है। जैसे जैसे आहार रस नीचे को जाता है पाचक रसों की क्रिया उस पर होती रहती है और पचने योग्य पदार्थ पच जाते हैं और श्लैष्मिक कला में से होकर रक्त और लिम्फ में पहुंच जाते हैं। क्षुद्रांत्र के अंत तक पहुंचने से पहले आहार रस में से बहुत से पदार्थ रक्त और लिम्फ मे पहुंच लेते हैं।

पक्कीकरण और आत्मीकरण।

भोजन का पचना एक बात है और उसका रक्त में पहुंचना दूसरी बात। यह हो सकता है कि भोजन पाचक रसों

की क्रिया से पच कर इस योग्य बन जावे, कि वह रक्त में पहुंच कर शरीर का भाग बन सके और फिर भी वह रोगों के कारण ज्यों का त्यों विष्ठा रूप में शरीर से बाहर निकल जावे।

वह क्रिया जिस से भोजन के अवयव शरार के भीतर अर्थात् रक्त और लिम्फ में पहुंचने योग्य बन जाते हैं **पक्वीकरण** कहलाती है। इन अवयवों के श्लैष्मिक कला में से होकर रक्त और लिम्फ में पहुंचने को **आत्मीकरण** कहते हैं।

वृहत् अंत्र (चित्र १२ और २३)

जितनी चीज़ें क्षुद्र अंत्र में पच कर रक्त और लिम्फ (लसीका) में पहुंच गईं उनको छोड़ कर आहार रस का शेष भाग वृहत् अंत्र में चला जाता है।

वृहदंत्र क्षुद्रांत्र से अधिक चौड़ी होती है; उसकी लम्बाई पांच फुट के लग भग होती है।

क्षुद्रांत्र वृहदंत्र से दाहिने श्रोणि प्रदेश में जुड़तीहै (यह जोड़ उस जगह होता है जहां अर्बुदांतरिक रेखा दाहिनी ऊर्ध्व रेखा को काटती है—यह बात चित्र २६ से स्पष्ट है) जहां यह जोड़ होता है वहां इन दोनों अंत्रों के बीच में दो किवाड़ों वाला एक कपाट होता है; ये किवाड़ श्लैष्मिक कला से निर्मित होते हैं। इस कपाट का काम यह है कि आहार रस वृहत् अंत्र में तो जा सके परन्तु जहां तक हो सके उलटा क्षुद्र अंत्र में न लौट सके।

वृहत् अंत्र का आरंभिक भाग थैली जैसा होता है। इस थैली में दो तीन इंच लम्बी एक पतली नली लगी रहती है,

इस नली की दीवार की बनावट क्षुद्र अंत्र की दीवार की बनावट जैसी होती है, बड़ा भेद यह होता है कि श्लैष्मिक कला और मांस के बीच में जो सौत्रिक तंतु है उस में बहुत से लिम्फ कणों (लसीकाणुओं) जैसी सेलों के समूह होते हैं। श्लैष्मिक कला में ग्रन्थियां बहुत थोड़ी होती है।

इस नली को **उपांत्र** या **अंत्र परिशिष्ठ** कहते है। उपांत्र का क्या विशेष काम है यह अभी किसी को ठीक तौर से मालूम नही। सब मनुष्यों में इसकी लम्बाई एक ही जैसी नही होती; किसी में यह $\frac{१}{२}$ इंच से अधिक लम्बी नहीं होती; किसी में ८ इं० लम्बी भी होती है। इस नली का कभी कभी प्रदाह हो जाता है और पाका (फोड़ा) बन जाता है; तब इस को काट कर निकाल देने की आवश्यकता होती है।

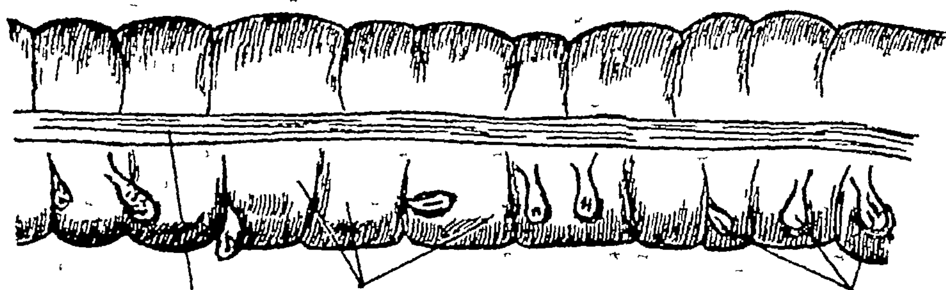
दाहिने श्रोणि प्रदेश में आरंभ होकर वृहत् अंत्र ऊपर को यकृत के अधो भाग तक जाती है, यह **उद्गामी वृहत् अंत्र** है। यकृत तक पहुंच कर यह अंत्र बाईं ओर को मोड़ खाती है और नाभि प्रदेश में होती हुई प्लीहा तक पहुंचती है, यह भाग **अनुप्रस्थ वृहत् अंत्र** कहलाता है। प्लीहा के पास से यह मुड़ कर नीचे को बांए श्रोणि प्रदेश तक जाती है- यह भाग **अधोगामी वृहत् अंत्र** है। बाएं श्रोणि प्रदेश से मोड़ खाकर वृहत् अंत्र वस्तिगह्वर में चली जाती है; उस का अंत मलद्वार पर होता है।

वस्ति गह्वर (या श्रोणि) में जो वृहत् अंत्र का भाग है उस की लम्बाई २० या २२ इंच होती है। ऊपर का १४-१५

इंच लम्बा भाग बहुत मुड़ा हुआ रहता है ; शेष भाग कुछ सीधा होता है। इस नीचे के पांच छः इंच लम्बे भाग के दो हिस्से माने जाते हैं एक मलद्वार से ऊपर एक या डेढ़ इंच लम्बा भाग, यह **गुदा** कहलाता है ; दूसरा गुदा से ऊपर का चार या पांच इंच लम्बा भाग, इस को **मलाशय** कहते हैं। मलाशय वस्तिगह्वर में रहने वाली वृहत् अंत्र के शेष भाग की अपेक्षा कुछ सीधा होता है, इस कारण उस को सरलांत्र भी कह देते हैं।

उपरोक्त से यह समझना कठिन नहीं है कि वृहदंत्र से एक अपूर्ण घेरा सा बन जाता है जिस के बीच में क्षुद्रांत्र की गेंडलियां पड़ी रहती हैं (देखो चित्र १२)।

चित्र २३ वृहत् अंत्र



क्षुद्रांत्र की भांति इस अंत्र की दीवारें भी मांस, सौत्रिक तंतु और श्लैष्मिक कला से निर्मित हैं। दीवार के संबंध में ये भेद याद रखने चाहियेः—

१. श्लैष्मिक कला में ग्राहकांकुर नहीं होते।

२. क्षुद्रांत्र की दीवार में मांस की दो तहें होती हैं एक भीतरी दूसरी बाहरी।

वृहदंत्र में भीतरी तह तो वैसी ही होती है जैसी क्षुद्रांत्र में परन्तु बाहरी तह में भेद होता है। यहां मांस की तीन लम्बी पट्टियां* बन जाती हैं। एक पट्टी सामने रहती है दूसरी पीछे तीसरी इन दोनों के बीच में [देखो चित्र २३]

३. तीसरा भेद यह है कि मांस के बाहर जो परिविस्तृत कला है उस में बहुत सी छोटी छोटी वसा की गांठें रहती हैं [चित्र २३]

४ दीवार इस प्रकार सुकड़ी रहती है कि ऐसा मालूम होता है कि वह बहुत सी थैलियों से बनी है [चित्र २३]

५. विशेष "ग्रन्थि समूह" जो क्षुद्रांत्र में पाए जाते हैं वृहत् अंत्र में नहीं होते।

वृहत् अंत्र का आकुंचन

क्षुद्रांत्र की भांति वृहदंत्र में भी मांस के संकोच और विसार से कृमिवत् आकुंचन हुआ करता है। इस आकुंचन के प्रभाव से क्षुद्रांत्र से आया हुआ रस पहिले ऊपर को यकृत की ओर चढ़ता है, फिर प्लीहा की ओर जाता है, फिर नीचे को वस्तिगह्वर की ओर जाता † है। गतियां उतनी शीघ्रता से नही होती जितनी क्षुद्रांत्र में।

---

* मलाशय मे ये पट्टिया नही होतीं, यहा मास चारो ओर एक तह में फैला रहता है।

† "केनन" नामक वैज्ञानिक का विचार है कि उद्गामी वृहत् अंत्र में और अनुप्रस्थ वृहत् अंत्र के कुछ भाग मे दो प्रकार की गतियां होती हैं; अधिकतर गतियां कपाट की ओर होती हैं जिस से आहार रस अधोगामी वृहत् अंत्र की ओर जाने की बजाय कपाट की ओर लौटता है परन्तु कपाट के कारण क्षुद्रांत्र में नहीं जा सकता। दूसरी गतियां कपाट से ऊपर को अर्थात

वृहत् अंत्र की दीवार में जो ग्रन्थियां हैं उन में कोई विशेष क्रिया वाला पाचक रस नहीं बनता। वृहत् अंत्र की श्लैष्मिक कला में से हो कर जल रक्त और लिम्फ में चला जाता है। जब बचा कुचा मसाला क्षुद्रांत्र से वृहत् अंत्र में आता है तब वह पतला द्रवरूप में होता है; ज्यों ज्यों यह वृहत् अंत्र में वस्तिगह्वर की ओर चलता है उस में से जल का परिमाण कम होता जाता है और वह गाढ़ा हो जाता है। यह गाढ़ी चीज़ वस्तिगह्वरस्थ वृहत् अंत्र में पहुंचती है और वहां से धीरे धीरे मलाशय में जाती है; मलाशय से गुदा में होती हुई मलद्वार से बाहर निकल जाती है। यह चीज़ **मल** या **विष्ठा** है।

अन्नमार्ग वा अन्नमार्ग सम्बन्धी ग्रन्थियों की धमनियां वा शिराएं [चित्र २४=शिराएं]

धमनियां-उदर में पहुंच कर महा धमनी से बहुत सी शाखाएं निकलती हैं जिन के द्वारा उदरस्थ अंगों का पोषण होता है। अन्नमार्ग सम्बन्धी मुख्य धमनियां ये हैं :—

१. उदर में पहुंचते ही महा धमनी से एक बड़ी मोटी परन्तु बहुत छोटी (१/२ इं० लम्बी) शाखा निकलती है। इस

यकृत और प्लीहा की ओर होती है। उलटी और सीधी दोनों प्रकार की गतियों से यह होता है कि आहार रस वृहत् अंत्र के इन भागों में देर तक रहता है जिस की वजह से जल वा अन्य चीज़ोंका आचूषण वा आत्मीकरण भली प्रकार हो जाता है। जल कम हो जाने के कारण अब वह चीज़ जो क्षुद्रांत्र से यहां आई थी गाढ़ी हो जाती है। वृहत् अंत्र के शेष भाग में गतियां नीचे को मलाशय की ओर ही होती हैं, उलटी नहीं होती।

की तुरंत ही तीन शाखाएं हो जाती हैं। इनमें से एक यकृत को, दूसरी आमाशय के बांए भाग को तीसरी प्लीहा को जाती है। याकृती धमनी न केवल यकृत का ही पोषण करती है प्रत्युत उस से तीन शाखाएं और निकलती हैं। इन में से एक पित्ताशय को जाती है, एक आमाशय के दाहिने भाग को तीसरी शाखा पक्वाशय और क्लोम का पोषण करती है और कुछ शाखाएं आमाशय के उन्नतोदर किनारे से लगी हुई परिविस्तृत कला को भी जाती हैं।

बाईं आमाशयिक धमनी आमाशय के बाएं भाग और अन्न प्रनाली के नीचे के भाग का पोषण करती है।

प्लैहिकि धमनी से प्लीहा और क्लोम का पोषण होता है: कुछ छोटी छोटी शाखाएं आमाशय को भी जाती हैं।

२. **अंत्रोर्ध्व धमनी**—यह धमनी महा धमनी से क्लोम ग्रन्थि की ग्रीवा के पीछे निकलती है। इस धमनी की अनेक शाखाओं द्वारा इन अंगों का पोषण होता है:—(१) पक्वाशय के थोड़े से भाग को छोड़ कर समस्त क्षुद्रांत्र (२) उद्गामी बृहत् अंत्र (३) अनुप्रस्थ बृहत् अंत्र का आधा भाग ४. क्लोम का शिर।

३. **अंत्राधो धमनी**। इस की शाखाओं से इन अंगो का पोषण होता है:—

(१) अनुप्रस्थ बृहत् अंत्र का बायां भाग।

(२) अधोगामी और वस्तिगह्वर में रहने वाली बृहत् अंत्र (मलाशय के कुछ भाग को छोड़ कर)।

अन्न प्रनाली का जो भाग वक्ष में रहता है उस का पोषण उन शाखाओं द्वारा होता है जो वक्ष में महा धमनी से निक-

लती है। ग्रीवा में रहने वाले भाग के लिये और बड़ी धमनियों से शाखाएं आती हैं। मलाशय के नीचे के भाग का पोषण कुछ और धमनियों द्वारा होता है जो सीधी महा धमनी से नहीं निकलतीं; वे महा धमनी की और शाखाओं से निकलती हैं।

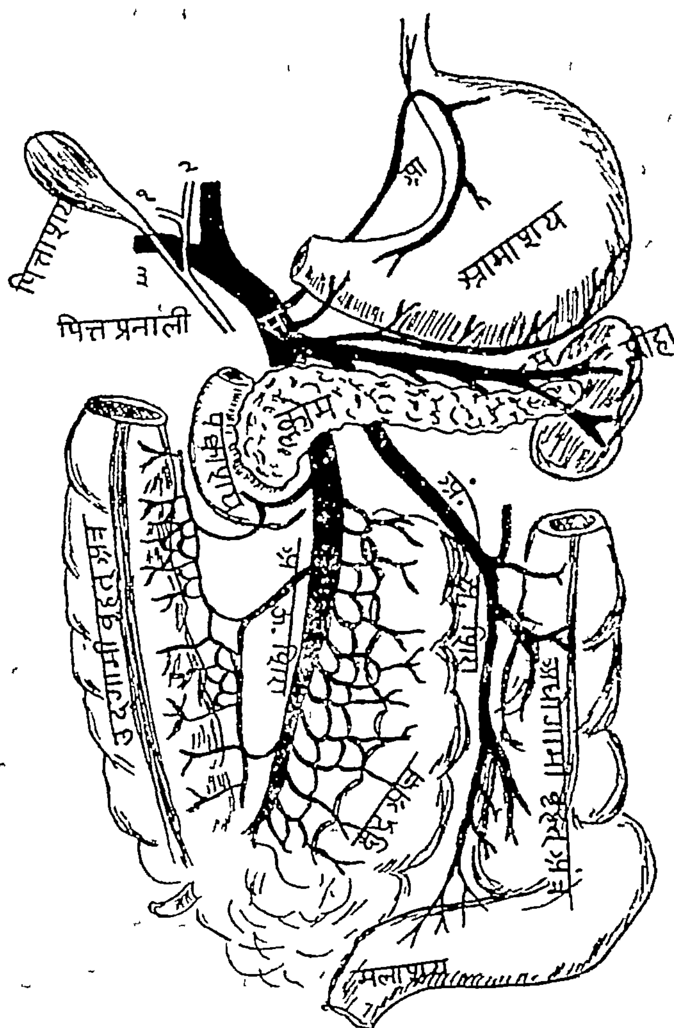
शिराएं—(चित्र २४) जो रक्त उपरोक्त धमनियों द्वारा अन्नमार्ग, यकृत और क्लोम ग्रन्थियों में पहुंचता है वह इन शिराओं द्वारा लौटता है.—

१ प्लैहिकिशिरा—यह प्लीहा से आरंभ होती है। आमाशय की कुछ शिराएं और क्लोम की शिराएं इस की सहायक हैं [चित्र २४ में प]।

२. अंत्राधो शिरा—यह मलाशय, अधोगामी वृहत् अंत्र और वस्तिगह्वरस्थ वृहत् अंत्र से रक्त इकट्ठा करती हैं। क्लोम के पीछे जा कर यह प्लीहा-क्लोम शिरा से मिल जाती है। प्लीहा-क्लोम शिरा अब बड़ी हो जाती है [चित्र २४ मे अअशिरा]।

३. **अंत्रोर्ध्व शिरा**—इस में क्षुद्रांत्र, उद्गामी और अनुप्रस्थ वृहत् अंत्र से रक्त आता है। पक्वाशय और क्लोम की कई शिराएं भी इस में मिलती हैं। क्लोम के पीछे जाकर यह शिरा प्लोहा-क्लोम शिरा से जा मिलती है। अब इन दोनों के सयोग से जो बड़ी शिरा बनती है उसको **संयुक्त शिरा** कहते हैं (चित्र २४ में स)। संयुक्त शिरा यकृत की धमनी के साथ साथ यकृत को जाती है और यकृत द्वार में घुस कर भीतर घुस जाती है (चित्र २० में शिरा = संयुक्त शिरा); यकृत

चित्र २४ अन्नमार्ग की मुख्य शिराएं



चित्र व्याख्या —

अ अ शिरा = अन्त्र अधो शिरा

अ ऊ शिरा = अन्त्र ऊर्ध्व शिरा

आ = आमाशयिक शिरा

स = सयुक्त शिरा

१,२ = दाहिना और बाया पित्त स्रोत

३ = पित्ताशय की नली

प = प्लीहा की शिरा

में उस से बहुत सी शाखाएं निकलती हैं जो इस ग्रन्थि के विविध भागों में जाती हैं।

धमनी और संयुक्त शिरा द्वारा पहुंचा हुआ रक्त यकृत में छोटी छोटी शिराओं में इकट्ठा होता है; इन के परस्पर संयोग से यकृत की बड़ी शिराएं बनती हैं जो महा शिरा में जा मिलती हैं। महा शिरा द्वारा अन्नमार्ग से आया हुआ रक्त हृदय के दाहिने ग्राहक कोष्ठ में पहुंच जाता है।

हम रक्त वाहक संस्थान (अध्याय १० पृष्ठ १६६) में लिख आये हैं कि धमनी से शाखाएँ निकला करती हैं और शिरा सहायकों के मेल से बना करती है। संयुक्त शिरा शिराओं की भांति सहायकों के मेल से बनती है परन्तु वह धमनियों की भांति (यकृत में पहुंच कर) शाखाएँ भी देती है। संयुक्त शिरा के विषय में एक और बात याद रखनी चाहिये वह यह कि उसमें पौष्टिक पदार्थ बहुत होते हैं, वसा को छोड़ कर जितनी प्रोटीन और शकर का आत्मीकरण होता है वे सब चीज़ें इस शिरा के रक्त में रहती हैं (देखो आत्मीकरण)।

भोजन का आत्मीकरण

मुख, कंठ और अन्नप्रनाली में किसी चीज़ का आत्मीकरण नहीं होता। आमाशय, क्षुद्रांत्र और वृहदांत्र के उद्गामी भाग में ही यह क्रिया होती है। इस क्रिया का मुख्य स्थान क्षुद्रांत्र को ही समझना चाहिये।

प्रोटीन—आमाशय में इसका आत्मीकरण किंचित मात्र ही होता है। प्रोटीन का अधिक भाग क्षुद्रांत्र के ग्राहकांकुरों की रक्त केशिकाओं में चला जाता है। कुछ थोड़ा सा आत्मी-

क्षरण बृहत् अंत्र में भी होता है। भोजन की शेष प्रोटीन ज्यों की त्यों या कुछ परिवर्तित दशा में विष्ठा द्वारा शरीर से बाहर निकल जाती है।

प्रोटीनों के आत्मीकरण के विषय में यह बात याद रखने योग्य है कि जो प्रोटीनें हम को दूसरे प्राणियों से मांस या दुग्ध द्वारा प्राप्त होती हैं उनका अन्नवर्ग से प्राप्त होने वाली प्रोटीनों की अपेक्षा अधिक आत्मीकरण होता है जैसा कि इस तालिका से विदित होगा :—

भोज्य पदार्थ	प्रोटीन के आत्मीकरण का गुणक	कर्वोज के आत्मीकरण का गुणक
आटा .	८० से ८८ %	९६,९७ %
अरहर की दाल	८२ से ८६ %	९२ से ९६ %
मूंग की दाल ...	८५ ६ %	
चने की दाल ...	६४·९ %	९७ ७ %
उड़द (माश) की दाल ...	६९ २ %	
जौ ...	५७ ६ %	९६ ० %
जोआर . .	५३ ६ %	९७ ८ %
बाजरा ...	४९ ४ %	
शाक ..	७६ ८ %	
मांस ..	लगभग सब	
दुग्ध ...	लगभग सब (८८–१००%)	

जितना आटा हम खाते हैं यदि उसमें १०० माशे प्रोटीन है तो उसमें से केवल ८० से ८८ माशे का आत्मीकरण होगा. शेष प्रोटीन विष्ठा द्वारा शरीर से बाहर निकल जायगी ; मांस और दुग्ध की प्रोटीनें बहुत कम विष्ठा द्वारा निकलती हैं। यह बात स्वस्थ मनुष्य के विषय में समझनी चाहिये। जिन लोगों की पाचक क्रिया कमज़ोर है उनमें प्रोटीनों वा अन्य चीज़ों का आत्मीकरण बहुत कम होता है; भोजन का बहुत भाग विष्ठा बनकर निकल जाता है।

उपरोक्त तालिका से यह भी स्पष्ट है कि दालों में मूंग की दाल से सब से ज़्यादा और चने की दाल से सब से कम प्रोटीन का आत्मीकरण होता है।

कर्बोज—केवल शर्करा का ही आत्मीकरण हो सकता है इसलिये सब कर्बोज पाचक रसों की क्रिया से अधिकतर द्राक्षोज* के रूप में आ जाते हैं। मुख, कंठ, अन्न प्रनाली और आमाशय में शकर का आत्मीकरण नहीं होता। क्षुद्रांत्र में पहुंचकर यह शकर सहज सहज शिराओं के रक्त में पहुंचती है। संयुक्त शिरा द्वारा यह शकर यकृत में जाती है; यकृत से महाशिरा में। जितनी शकर की शरीर को आवश्यकता होती है उतनी तो सहज सहज महाशिरा द्वारा रक्त में पहुंचती रहती है; शेष शकर को यकृत रोक लेता है, यकृत की सेलें इस शकर से शर्कराजन (ग्लाइकोजन) नामक चीज बना लेती हैं। शर्कराजन के रूप में यह शकर यकृत की सेलों में जमा रहती है, जब शरीर को और शकर की आवश्यकता

* एक और शर्करा भी बना करती है।

होती है तो यकृत की सेलें शर्कराजन से फिर शर्करा बना देती हैं और यह शर्करा रक्त में पहुंच जाती है।

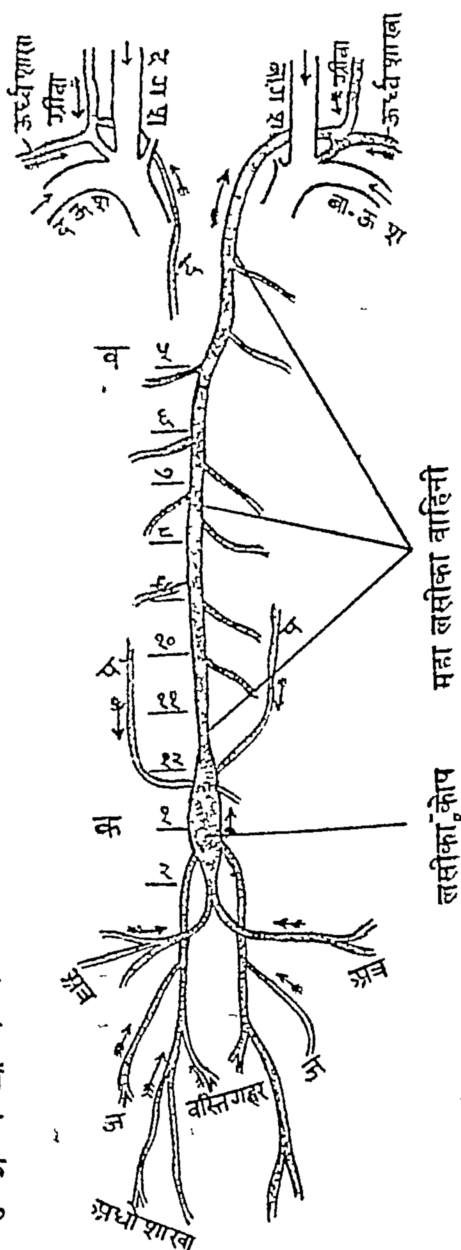
कर्बोज का वह भाग जो शर्करा के रूप में नही आया या जिसका आत्मीकरण नही हुआ विष्ठा द्वारा शरीर से बाहर निकल जाता है।

हमारे रक्तमें शर्करा का परिमाण ० १५% के लग भग (६०० भाग में १ भाग) होता है। यकृत केवल इतनी ही शर्करा महाशिरा के रक्त में जाने देता है कि जिससे शर्करा का परिमाण ०·१५% से अधिक न बढ़े। कभी कभी कुछ लोग इतनी शर्करा (या श्वेतसार) खाते हैं कि यकृत उस को रोक नही सकता। ऐसी दशा में रक्त में शर्करा का परिमाण अधिक हो जाता है। वृक्क इस अधिक शर्करा को मूत्र द्वारा शरीर से बाहर निकाल देते हैं। जब शर्करा और श्वेतसार के अधिक सेवन के कारण मूत्र में शर्करा निकलने लगती है तो इस को एक प्रकार का मधुमेह कहते हैं। इस प्रकार का मधुमेह भोजन में शर्करा या श्वेतसार का परिमाण कम करने और अधिक शारीरिक परिश्रम करने से अपने आप अच्छा हो जाता है।

वसा—(देखो चित्र २५)। वसा का आत्मीकरण क्षुद्रांत्र में लिम्फ़ (लसीका) द्वारा होता है*। ग्राहकांकुरों की लिम्फ़(लसीका) केशिकाओं द्वारा वसा लिम्फ़ में पहुंच जाती है। क्षुद्रांत्र की लिम्फ (लसीका) वाहिनियां वृहत् लिम्फ़ (लसीका) वाहिनी से जा जुड़ती हैं। वृहत् लसीका वाहिनी बाईं ओर की ग्रीवा और ऊर्ध्व शाखा की शिराओं के संगम

* कुछ वैज्ञानिकों का विचार है कि किंचितमात्र वसा ग्राहकांकुरों की रक्त केशिकाओं में भी चली जाती है।

चित्र २५—लसीका संचार।



चित्र व्याख्या :—

व = वक्ष ; क = कटी , ५ से १२ तक = वक्ष के कशेरुका , १,२ कटी कशेरुका बा ग श = ग्रीवा के बाएं भाग की बडी शिरा, बा.ऊ.शा = बाईं ऊर्ध्व शाखा की शिरा; द ग श = ग्रीवा के दाहिने भाग की शिरा, द ऊ श दाहिनी ऊर्ध्व शाखा की शिरा।

जिन नलियों में नन्हे नन्हे बिन्दु हैं वे लसीका (लिम्फ) वाहिनिया हैं

ज = जननेन्द्रियों की लसीका वाहिनियां।

प = ये लसीका वाहिनिया वक्ष के नीचे के भागों की दीवार से लसीका को उदर में ले जाकर लसीका कोष में डालती है।

अंत्र—ये अंत्र की लसीका वाहिनिया हैं, इनके द्वारा वसा अंत्र से आकर लसीका कोष में पहुंचती है। लसीका कोष से महा लसीका वाहिनी का आरंभ होता है। यह लसीका को ग्रीवा में ले जाकर शिराओंके रक्तमें मिला देती है। लिम्फ और लिम्फ वाहिनियों का वर्णन अध्याय १० में किया गया है।

में जा मिलती है (चित्र २५)। इस प्रकार वसा लिम्फ़ द्वारा रक्त में पहुंच जाती है। वसा के आत्मीकरण के लिये पित्त का होना ज़रूरी है; जब पित्त अच्छी तरह नहीं बनता (जैसे यकृत के कुछ रोगों में) तो वसा का अधिक भाग ज्यों का त्यों विष्ठा द्वारा शरीर से बाहर निकल जाता है। वसा के होने और पित्त के न होने के कारण विष्ठा का रंग श्वेत सा हो जाता है।

जो लसीका वसा वाले भोजन खाने के पश्चात् क्षुद्रांत्र की लसीका वाहिनियों में रहता है उसका रंग वसा के नन्हे ज़र्रों के कारण दूधिया सा होता है।

लवण—भोजन के लवणों का आत्मीकरण विशेष कर तो क्षुद्रांत्र में होता है परन्तु थोड़ा बहुत मुख कंठ और अन्न-प्रनाली को छोड़कर अन्नमार्ग के शेष भागों (आमाशय और बृहत् अंत्र) में भी होता है।

जल—जो जल भोजन से अलग पिया जाता है उस का आत्मीकरण आमाशय में बिलकुल नहीं होता· आमाशय उसको शीघ्र ही क्षुद्रांत्र में ढकेल देता है। क्षुद्रांत्र और बृहत् अंत्र में यह जल श्लैष्मिक कला में से होकर रक्त और लिम्फ में चला जाता है।

भोजन के साथ मिले हुए जल का आत्मीकरण अधिकतर बृहत् अंत्र में होता है; आमाशय और क्षुद्रांत्र में थोड़ा थोड़ा ही हो पाता है। जब आहार रस बृहत् अन्त्र में पहुंचता है तब वह बहुत पतला होता है ; अनुप्रस्थ बृहत् अंत्र में पहुंचते पहुंचते कुछ गाढ़ा हो जाता है, ज्यों ज्यों मलाशय के निकट पहुंचता है त्यों त्यों विष्ठा सख़्त होने लगता है। इस सब का कारण यही है कि उसका जल कम हो गया है।

अधिक शारीरिक परिश्रम के पश्चात् विशेषकर ग्रीष्म ऋतु में जल पीने से पसीना खूब आता है। पसीना इतनी जल्दी निकलता है कि साधारण मनुष्य यह समझा करते हैं कि जो जल पिया गया उसी का पसीना बन गया. वास्तव में यह बात नहीं ; उस जल को रक्त में पहुंचने में देर लगती है। जल पीते पीते ही पसीने आने का कारण और है ; यह बात बात संस्थान (नाड़ी संस्थान) से सम्बन्ध रखती है।

अन्नमार्ग के विविध भागों में भोजन कितनी कितनी देर ठहरता है (देखो चित्र २६)

आमाशय—पूरा भोजन आमाशय में ४ से ५ $\frac{१}{२}$ घन्टे तक ठहरता है। आमाशय में पहुंचने के थोड़ी देर पीछे भोजन सहज सहज पक्काशय में जाने लगता है और जब तक आमाशय खाली न हो जावे (चार पांच घन्टे तक) वह जाता रहता है।

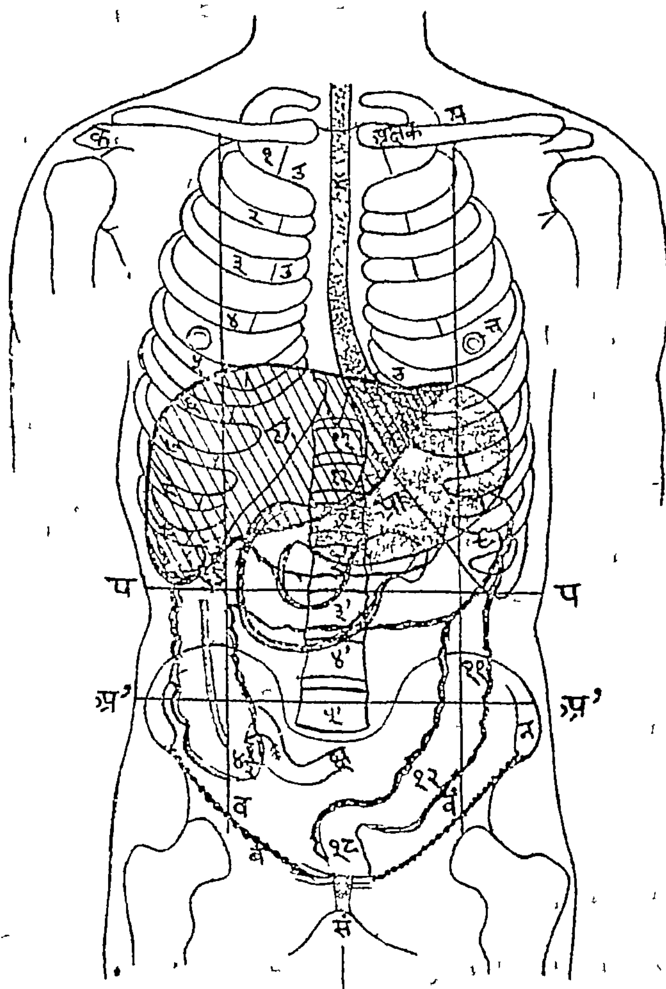
क्षुद्रांत्र—क्षुद्रांत्र मे भी भोजन चार पांच घंटे ही ठहरता है। भोजन खाने के कोई ४ $\frac{१}{२}$ घन्टे पीछे आहार रस क्षुद्रांत्र के अंतिम भाग से वृहत् अंत्र के प्रारभिक भाग में आने लगता है। यदि भोजन दिन के बारह बजे किया जावे तो आहार रस वृहत् अंत्र में शाम के साढ़े चार बजे पहुंचना आरम्भ हो जावेगा। (चित्र २६ में ४ $\frac{१}{२}$) और नौ साढ़े नौ बजे तक आता रहेगा।

उद्गामी वृहत् अंत्र—उद्गामी वृहत् अंत्र के अंत

तक पहुंचने में २ घंटे लगते हैं (भोजन खाने के ६ १/२ घंटे पश्चात् पहुंचना आरंभ होता है)

अनुप्रस्थ बृहत् अंत्र—के अंत तक नौ घंटे पीछे पहुंचना आरंभ होगा (चित्र २६ में ९)

चित्र २६



व्याख्या:—इस चित्र में उदर के नौ प्रदेश दिखाये गये हैं यह भी
दर्शाया गया है कि अन्नप्रनाली, आमाशय, यकृत, क्षुद्रान्त्र, और बृहत् अन्त्र
शरीर में कहां रहते हैं। भोजन कितनी कितनी देर पीछे अन्नमार्ग के किस
भाग में पहुंचता है यह ४ $\frac{१}{२}$, ६ $\frac{१}{२}$, ९, ११, १२ और १८ अंकों से विदित
होता है।

१ से १० तक = पसलियां ; उ = उपपर्शुका , च = चूचुक या स्तन
१ से ५' तक = कटी कशेरुका , क = अंस
कूट, म = मस्तक का मध्य; अ = अन्नप्रनाली, आ = आमाशय, य = यकृत, न =
नितंबास्थि के ऊपर के किनारे का अगला नोकीला सिरा , क्ष = क्षुद्रान्त्र का
अंतिम भाग , व = वक्षण रेखा या ऊध्वरेखा , यह रेखा यदि ऊपर को
उरस्थल पर बढ़ाई जावे तो मस्तक के मध्य तक पहुंचेगी , प प = पर्शुकायों
रेखा , अ' अ' = अनुदांतरिक रेखा । चूचुक चौथे पर्शुकांतर में रहता है
व = वक्षण बंधन ।

अधोगामी बृहत् अंत्र—वस्तिगह्वर में रहनेवाले
भाग तक पहुंचने में कोई १२ घन्टे लगते हैं।
भाग तक पहुंचने में कोई १२ घन्टे लगते हैं। रहनेवाली अंत्र में विष्ठा

मलाशय—वस्तिगह्वर में रहनेवाली अंत्र में विष्ठा
बहुत धीरे धीरे नीचे को चलता है; मलाशय तक कोई १८
घन्टे में पहुंचता है। सब मनुष्य एक जैसे नहीं होते ; न ही
सब के सब एक ही जैसा परिश्रम करते और भोजन खाते
हैं। इसलिये जो समय ऊपर बतलाये गये हैं वे केवल एक
अन्दाज़ा लगाने के लिये हैं, यह न समझना चाहिये कि
हर एक मनुष्य में भोजन (या आहार रस) इसी चाल से
चलता है।

जब मल (या विष्ठा) मलाशय में पहुंच जाता है तब शौच
की इच्छा मालूम होती है। जब तक हम मल त्यागना न चाहे
मलद्वार का छिद्र मलद्वार संकोचनी पेशी के संकोच से बंद

रहता है। मल त्यागने के समय पेशी के विसार से छिद्र खुल जाता है और मल बाहर निकल जाता है।

शौच

शौच के समय हम गहरा श्वांस लेते हैं जिससे वक्षउदर-मध्यस्थ पेशी संकोच करके उदर की ओर उतरती है। वक्ष-उदरमध्यस्थ पेशी के साथ साथ उदर की सामने की दीवार की दसों पेशियां संकोच करती हैं। इन सब पेशियों के सं-कोच से उदर की समाई घटती है और अंत्र पर दबाव पड़ता है। बृहंत् अंत्र के अंतिम भाग में विशेषकर बस्तिगह्वर में रहने वाले भाग में बड़ी शीघ्रता और वेग से आकंचन होता है और साथ साथ मलद्वार संकोचनी का विसार होता है। मलद्वार खुल जाता है और मल वेग के साथ बाहर निकलता है। अंत में गुदोत्थापिका पेशी का संकोच होता है जिससे बचा कुचा मल बाहर आ जाता है।

विष्ठा या मल

भोजन में सब चीज़ें पचने योग्य नहीं होतीं जैसे शाकों के रेशे (काष्ठोज). पचने योग्य चीज़ें भी सम्पूर्णतः पच नहीं जातीं, उन का कुछ न कुछ भाग अध पचा रह ही जाया करता है। पचे हुए भाग में से कुछ का आत्मीकरण नहीं हो पाता। ये सब चीज़ें मल या विष्ठा रूप में शरीर से बाहर निकल जाया करती हैं।

मल की प्रतिक्रिया साधारणतः क्षारीय होती है। उस का रंग भोजन पर निर्भर होता है। शाकाहारियों के मल का रंग पीलाहट लिये होता है। मांसाहारियों के मल का रंग भूरा सा होता है। रोगों में काले, श्वेत, हरे या किसी

और रंग का मल आने लगता है। मांसाहारियों के मल का परिमाण शाकाहारियों की अपेक्षा कम होता है। विष्ठा में ये ये चीज़ें रहती हैं:—

१. जल।

२. भोजन का बिना पचा (अपक्व और अनात्मीकृत) अंश।

३. भोजन का वह भाग जो पचने योग्य नहीं जैसे शाकों के रेशे, फलों के छिलके और बीज और गुठलियां, मिर्चों के बीज, मांस की कंडरा का कुछ भाग, कच्चा (बिना उबाला हुआ) श्वेतसार, कई प्रकार के लवण।

४. वे पदार्थ जो अंत्र में सड़ाव के कारण उत्पन्न होते हैं जैसे इन्डोल, स्कटोल * इत्यादि; कई प्रकार के अम्ल।

५. अनेक प्रकार के बकटेरिया नामक सूक्ष्म जन्तु।

५. अन्ननाली की श्लैष्मिक कला की गिरी हुई सेलें।

६. पाचक रसों के कुछ भाग जैसे पित्त।

मल में बहुधा कुछ दुर्गन्ध आया करती है। इसका कारण यह है कि क्षुद्रांत्र के नीचे के भाग में और बृहत् अंत्र में अनेक प्रकार के बकटेरिया नामक सूक्ष्म जन्तु वास करते हैं। ये बचे कुचे भोजन पर जीवन निर्वाह करते हैं। ये कई प्रकार के हानिकारक पदार्थ (जैसे इन्डोल, स्कटोल) बनाते हैं जो बदबूदार होते हैं। इन्हीं के कारण विष्ठा में दुर्गन्धि आया करती है। जिन मनुष्यों को कब्ज़ और अजीर्ण रहता है उन की अंत्र में सड़ाव अधिक होता है और उनका मल

* अंग्रेजी भाषा

भी अधिक दुर्गन्धित होता है। सड़ाव के कारण अंत्र में कई प्रकार की गैसें* भी बनती हैं। गैसें समय समय पर मल द्वार से निकला करती हैं। कभी कभी ये गैसें बहुत बदबूदार होती हैं। जब अंत्र में अधिक सड़ाव होता है तब विषैले पदार्थ रक्त में भी पहुंच जाते हैं और अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न करते हैं। क़ब्ज़ बुरी चीज़ है इसको कभी पास न आने देना चाहिये।

पाक कर्म संक्षेप

१. भोजन सब से पहिले मुख में जाता है। यहां दो क्रियाएं होती हैं एक **चर्वण** जिससे वह पिस जाता है दूसरी लाल **मिश्रण** जिससे वह गीला और मुलायम हो जाता है। लाला के श्वेतसार परिवर्त्तक पदार्थ की क्रिया से भोजन के श्वेतसार से यवौज शर्करा बनने लगती है।

२. लाला मिश्रण के पश्चात् भोजन निगला जाता है। उसके छोटे छोटे भाग जिनको गस्से (या ग्रास) कहते हैं मुख से कंठ में होकर अन्नप्रनाली में पहुंचते हैं। यह क्रिया **गिलन** कहलाती है।

३ आमाशय में कोई आध घन्टे तक लाला का असर श्वेतसार पर होता रहता है। जब आमाशयिक रस बन जाता है तो प्रोटीनों का विश्लेषण होने लगता है। वसा पिघल जाती है। दुग्ध जम जाता है। इक्षौज से द्राक्षौज वा एक और शकर बन जाती हैं। आमाशय में भोजन खूब मंथ जाता है और उसकी प्रतिक्रिया अम्ल हो जाती है। यह मंथा हुआ पतला भोजन **आहार रस** कहलाता है।

*गैस (Gas) =वायव्य

४. आहार रस धीरे धीरे क्षुद्रांत्र में जाता है। यहां पित्त, क्लोमीय रस और आंत्र रस उस पर अपना पाचक असर करते हैं। आहार रस की अम्लायश जाती रहती है और अब उसकी प्रतिक्रिया क्षारीय हो जाती है। प्रोटीनों का विश्लेषण पूर्ण होता है; श्वेतसार से द्राक्षौज बन जाती है। सब शर्करायें द्राक्षौज के रूप में आ जाती हैं। वसा से ग्लीसरीन और साबुन बन जाते हैं। सब मूल अवयव इस योग्य बन जाते हैं कि अन्नमार्ग की श्लैष्मिक कला उनको ग्रहण कर सकें। यह क्रिया पक्वीकरण कहलाती है।

५. पक्वीकरण के पश्चात् आहार रस में से आवश्यक पदार्थ श्लैष्मिक कला में से हो कर रक्त और लसीका में पहुंचते हैं और शरीर के भाग बन जाते हैं। यह क्रिया आत्मीकरण है। वसा का आत्मीकरण क्षुद्रांत्र के ग्राहकांकुरों की लसीका केशिकाओं द्वारा होता है। शेष चीज़ें रक्त में पहुंचती हैं। जल और लवण लसीका और रक्त दोनों प्रकार की केशिकाओं में पहुंचते हैं प्रोटीन, वसा और शर्करा का आत्मीकरण अधिकतर क्षुद्रांत्र में होता है वृहत् अंत्र में कम और आमाशय में बहुत ही कम। आहार रस के जल का आत्मीकरण अधिकतर वृहत् अंत्र में होता है।

६ क्षुद्रांत्र से बचा कुचा आहार रस वृहत् अंत्र में जाता है। जल के शोषण से वह गाढ़ा हो जाता है। अनात्मीकृत भोजन से विष्ठा बनता है जो नियत समय पर मलद्वार से बाहर निकलता है।

यकृत के कार्य

१. यकृत में पित्त बनता है।

२. यकृत अधिक शर्करा रक्त में नहीं जाने देता। शर्करा से शर्कराजन बना लेता है; यह चीज़ यकृत की सेलों में रहती है; जब शरीर को शर्करा की आवश्यकता होती है तब शर्कराजन से फिर शर्करा बन जाती है। यों समझिये कि यकृत शर्करा के आय और व्यय का हिसाब रखता है।

३. मूत्र में जो यूरिया और यूरिक अम्ल नामक यौगिक निकला करते हैं वे भी यकृत में बनते हैं।

४. समय समय पर हमारे शरीर में विशेषकर अन्न-मार्ग में कुछ विषैले पदार्थ बनते रहते हैं। जब ये पदार्थ यकृत में पहुंचते हैं तो वह उनसे और ऐसे पदार्थ बना देता है जो शरीर को हानि न पहुंचा सकें।

उपरोक्त से विदित है कि यकृत एक परमावश्यक अंग है। अजीर्ण, क़ब्ज़, हृदय और फुप्फुस के रोगों से यकृत के विकार उत्पन्न हो जाते हैं। मद्यपान भी यकृत के लिये अत्यंत हानिकारक है।

अध्याय १८

भोजन से रक्त की उत्पत्ति।

१. रक्त में सीरम अलब्युमेन* सीरम ग्लोब्युलिन* और फाइब्रिनजनक † नामक तीन प्रोटीनें होती हैं। ये सब उन प्रोटीनों से बनती हैं जो भोजन में होती हैं और जो छोटे छोटे अणु वाले योगिकों के रूप में क्षुद्रांत्र की श्लैष्मिक कला में से होकर रक्त केशिकाओं में पहुंचती हैं।

२. रक्त में वसा रहती है। रक्त में वसा लिम्फ़ (लसीका) द्वारा आती है। क्षुद्रांत्र से वसा लसीका केशिकाओं में चली जाती है। अंत्र की लसीका वाहिनियां लसीका कोष से जा जुड़ती हैं (देखो चित्र २५) लसीका कोष से महा लसीका वाहिनी का आरंभ होता है। महा लसीका वाहिनी ग्रीवा मे जाकर बाईं ग्रैवेयी और बाईं उर्ध्व शाखा की शिराओं के संगम मे जा मिलती है। इस प्रकार अंत्र से ग्रहण की गई वसा रक्त में पहुंच जाती है।

३- रक्त मे द्राक्षौज होती है। भोजन के कर्बोज से पक्वीकरण क्रिया द्वारा द्राक्षौज बन जाती है। यह द्राक्षौज सयुक्त शिरा द्वारा यकृत में पहुचती है। यकृत से द्राक्षौज धीरे धीरे याकृती शिराओं द्वारा महाशिरा में पहुंचती है।

४- रक्त लवणों और जल को भी भोजन से ही प्राप्त करता है।

---

* अंग्रेज़ी भाषा के शब्द हैं † अंग्रेज़ी शब्द का हिंदी रूप।

इतनी बात याद रखनी चाहिये कि शरीर में प्रोटीन से शर्करा और शर्करा से वसा बन सकती है। शर्करा और वसा से प्रोटीनें नहीं बन सकती।

रक्त में पहुंचने के पश्चात् प्रोटीनों, वसा और शर्करा का क्या होता है।

प्रोटीन के कुछ भाग से शरीर में नयी सेलें बनती हैं इस से शरीर का वर्धन होता है; कुछ भाग पुरानी सेलों के क्षय हुए भाग को पूरा करने के काम में व्यय होता है; कुछ भाग शक्ति उत्पन्न करने में व्यय होता है। शेष भाग जिसकी शरीर में आवश्यकता नहीं बिना काम आये यूरिया, यूरिक अम्ल के रूप में शरीर से बाहर निकल जाता है (जब प्रोटीन ज़रूरत से ज़्यादा खाई जाती हैं तब अधिक यूरिया बनता है)।

वसा का कुछ भाग शक्ति उत्पन्न करने के काम में आता है। शेष भाग शरीर में कई जगह (जैसे त्वचा के नीचे, वृक्कों के चारों ओर, अंत्रश्छदा कला में) इकट्ठा होता है। जो लोग अधिक वसा खाते हैं उनके शरीर अधिक वसा के इकट्ठे होने से स्थूल हो जाते हैं। आवश्यकता पड़ने पर शरीर की यह वसा काम में आती है और उससे शक्ति उत्पन्न होती है (जैसा कि लंघन करने में होता है) इसी वजह से स्थूल मनुष्यों की स्थूलता कम भोजन करने और अधिक शारीरिक परिश्रम करने के कारण धीरे धीरे कम होने लगती है।

शर्करा का अधिक भाग शक्ति उत्पन्न करने मे व्यय होता है; कुछ भाग यकृत वा अन्य कई स्थानों में शर्कराजन के रूप

में जमा रहता है। कुछ भाग से वसा बन जाती है। जो लोग अधिक कर्बोज खाते हैं उन के शरीर स्थूल हो जाते हैं। अधिक स्थूलता अस्वास्थ्य का एक चिह्न है।

भोजन का कार्य और शक्ति से सम्बन्ध

बिना शक्ति के कोई कार्य या क्रिया नहीं हो सकती। यह शक्ति पदार्थों के ओषजनीकरण* से उत्पन्न होती है।

---

*ओषजनीकरण एक रसायनिक क्रिया है जिस मे ओषजन गैस किसी और पदार्थ से संयोग करती है। इस पदार्थ और ओषजन के रसायनिक संयोग से नये पदार्थ बन जाते है।

उदाहरण :—

१. हवा मे रक्खे रहने से लोहे पर जंग लग जाता है। जंग लोहे और ओषजन के रसायनिक संयोग से बना हुआ एक यौगिक है।

२. जस्त और ओषजन के रसायनिक संयोग से एक श्वेत यौगिक बन जाता है (इसी को आँखों में आँजा करते है)

३ जब मिट्टी का तैल (या कोई और तैल) जलता है तो उसका वायु की ओषजन के साथ संयोग होता है इस संयोग से कर्बनद्विओषित, कर्बन-एकओषित इत्यादि यौगिक उत्पन्न होते हैं, तैल का कुछ कर्बन आस पास की ठंडी चीजों पर काजल के रूप में जम जाता है। इस रसायनिक संयोग से शक्ति उत्पन्न होती है जो दो रूप धारण करती है अर्थात् इसका कुछ भाग उष्णता बन जाता है जो आस पास की चीजों को गरम करता है, कुछ से प्रकाश होता है (प्रकाश और उष्णता एक ही चीज के दो रूप हैं)।

४. लकडी, कोयला इत्यादि जब जलते हैं तब इन पदार्थों का ओषजनीकरण होता है, यदि ओषजन न हो तो ये चीजे नहीं जलती।

५. स्फुर हवा में फ़ौरन जलने लगता है। स्फुर और ओषजन के संयोग से नये यौगिक बन जाते हैं और उष्णता और प्रकाश उत्पन्न होते हैं।

हमारे शरीर में इसी प्रकार पदार्थों का ओषजनीकरण हुआ करता है। ओषजनीकरण कभी भी ऐसा नहीं होता जिससे प्रकाश या ज्वाला निकले।

ओषजनीकरण के लिये ओषजन की आवश्यकता है; शरीर में ओषजन वायुमंडल से फुप्फुसों द्वारा पहुंचती है। जिन पदार्थों का ओषजनीकरण होता है वे प्रोटीन, वसा और शर्करा हैं। संपूर्ण ओषजनीकरण से जो पदार्थ उत्पन्न होते हैं वे क ओ$_२$, जल, यूरिया, यूरिक अम्ल, एमोनिया इत्यादि हैं। इन में से क ओ$_२$ और जल फुप्फुसों द्वारा शरीर से बाहर निकल जाते हैं; अन्य पदार्थ मूत्र और पसीने द्वारा त्यागे जाते हैं।

ओषजनीकरण से जो शक्ति उत्पन्न होती है उसका कुछ भाग तो कार्य करने में व्यय हो जाता है, शेष भाग उष्णता के रूप में रहता है। इस उष्णता का व्यय यों होता है :—

(१) उच्छ्वास वायु बहुधा हमारे शरीर की अपेक्षा ठंढी होती है। श्वास पथ में इस का तापक्रम वही हो जाता है जो शरीर का। उष्णता का कुछ भाग इस ठंढी वायु का तापक्रम बढ़ाने में ख़र्च हो जाता है।

(२) प्रश्वास वायु में वाष्प रूप में जल रहता है। जल से वाष्प उष्णता के प्रभाव से ही उत्पन्न होती है।

(३) थोड़ा बहुत पसीना हर समय हमारी त्वचा से उड़ता रहता है। इस क्रिया में भी उष्णता का व्यय होता है।

(४) हमारे आस पास की वस्तुएं हमारे शरीर से थोड़ी बहुत उष्णता सदा ग्रहण करती रहती हैं। जब दो चीज़ें जिन का ताप परिमाण भिन्न भिन्न हो पास पास रक्खी जाती हैं तो उष्णता अधिक गरम चीज़ से कम गरम चीज़ में चली जाती है; थोड़ी देर में दोनों का ताप परिमाण एक हो जाता है। हमारा शरीर बहुधा आस पास की चीज़ों से अधिक

गरम होता है इस कारण कुछ उष्णता इन चीज़ों में हर समय जाती रहती है। मृत्यु के पश्चात् शरीर का तापक्रम वही हो जाता है जो आस पास की चीज़ों का क्योंकि ओषजनीकरण बंद हो जाने से उष्णता का बनना तो बंद हो जाता है परन्तु उस का बाहर की चीज़ों में जाना जारी रहता है।

जब हम अधिक शारीरिक परिश्रम करते हैं तो उष्णता अधिक बनने के कारण हमारा शरीर पहिले से ज़्यादा गर्म हो जाता है। परिश्रम बंद करने के थोड़ी ही देर पीछे तापक्रम फिर ज्यों का त्यों हो जाता है।

उष्णता अधिकतर कहां बनती है

वैसे तो उष्णता थोड़ी बहुत हर एक अंग में बनती है परन्तु कई अंग ऐसे हैं जहां वह अधिक बनती है:—

१. मांस। शरीर में ४२% मांस है; मांस ही द्वारा सब गतियां होती हैं। मांस को ओषजनीकरण का मुख्य स्थान समझना चाहिये।

२. ग्रन्थियां। जितनी ग्रन्थियां हैं वे हर समय कुछ न कुछ काम करती ही रहती हैं।

कभी कभी रोगों में ज़रूरत से ज़्यादा उष्णता बनती है और शरीर का तापक्रम १०५, १०७ और कभी कभी इस से भी अधिक हो जाता है। खूब पसीना और मूत्र आने से तापक्रम कम हो जाता है।

उष्णता का कम या अधिक बनना मस्तिष्क के आधीन है।

शरीर की रेल के अंजन से तुलना

शरीर अग्नि से चलने वाले अंजन की समान है। अंजन

में ईंधन जलता है अर्थात् उस का ओषजनीकरण होता है; शरीर में भी पदार्थों का ओषजनीकरण होता है। ओषजनीकरण के लिये ओषजन की आवश्यकता है; दोनों में (शरीर और अंजन में) इस का प्रबन्ध है; ओषजनीकरण से दोनों में क ओ$_2$ इत्यादि पदार्थ बनते हैं; इन के बाहर निकलने के लिये भी दोनों में प्रबन्ध होता है (अंजन में चिमनी होती है: शरीर में फुफ्फुस, वृक्क और त्वचा है)। अंजन में ईंधन के जलने से राख बनती है, शरीर में जो पदार्थ पच नहीं सकते वे मल रूप में त्यागे जाते हैं। अंजन का काम विना पानी और हवा के नही चलता शरीर में भी इन दोनों चीज़ों की अतीव आवश्यकता है।

दोनों में बड़ा भेद यह है कि अंजन निर्जीव है शरीर जीवित है।

भोजन सम्बन्धी कुछ फुटकर बातें

१ भोजन आत्मरक्षा का एक बड़ा साधन है। अच्छे शीघ्र पचनेवाले पौष्टिक भोजन को यथा परिमाण प्राप्त करने का यथाशक्ति यत्न करना प्रत्येक मनुष्य का परम धर्म है।

२. भोजन स्वच्छ स्थान में स्वच्छ पात्रों में बहुत स्वच्छता के साथ रखना और तैय्यार करना चाहिये। मैला कपड़ा, मैले हाथ, धूल मिट्टी, गन्दा जल इत्यादि भोजन की वस्तुओं में कभी न लगें। दाल, शाक, दही इत्यादि जहां तक हो सके चम्मच द्वारा परोसे जावें।

३. बासी भोजन की अपेक्षा ताज़ा भोजन सब तरह से अच्छा होता है। यदि तैय्यार होते ही भोजन न खाया जावे

और उस को कुछ देर तक रखना आवश्यक हो तो उस को ऐसी जगह और इस प्रकार रक्खें कि उस में धूल मिट्टी न गिरे, गन्दी वायु उस पर असर न करे और मक्खी और चींटी वा कीड़े मकौड़े उस पर न बैठें और न उस को खावें; मक्खी को तो भोजन पर क्षण भर के लिये भी न बैठने देना चाहिये; यह जानवर हैज़ा, पेचिश, टायफौयड्, अतिसार (प्रवाहिका) क्षय रोग वा अन्य कई रोगों का फैलाने वाला है। हलवाहियों की दुकानों की वे मिठाइयां जो खुले बरतनों में रक्खी रहती है और जिन पर सड़क की धूल दिन भर गिरती रहती है और जिन पर सैंकड़ों मक्खियां और ततैये भिन्का करते हैं भूल कर भी न खानी चाहियें।

४. भोजन देखने और सूंघने में प्रिय और खाने में स्वादिष्ट हो। ऐसा भोजन अच्छी तरह से पचता है। जिस भोजन को देखने और सूंघने से घृणा आवे वह कदापि न खाना चाहिये क्योंकि ऐसी दशा में आमाशयिक रस भली प्रकार नही बनता।

५. भोजन खाते समय या उसके ठीक पहिले और पीछे किसी प्रकार का रंज और फिकर करना अच्छा नहीं; इस से अजीर्ण होता है। भोजन ऐसे स्थान में खाना चाहिये कि जहां कूड़ा करकट और दुर्गंध वाली चीज़ें या धुआं न हो।

६. भोजन के ठीक पीछे या ठीक पहिले अधिक शारीरिक और मानसिक परिश्रम भोजन के पचाव में बाधा डालते है। भोजन करते ही भागना, कूदना तेज़ चाल से चलना या मन लगाकर अध्ययन करना बहुत हानिकारक हैं। पाठशालाओं तथा स्कूलों का समय ऐसा होना चाहिये

कि जिसमें विद्यार्थियों को पूरा भोजन करते ही अध्ययन न करना पड़े। आजकल देरी से पहुंचने के कारण दंड पाने के भय से बहुत से विद्यार्थियों को जल्दी जल्दी अध चबा भोजन निगलकर दौड़ कर चलने या रास्ते में पुस्तक हाथ में लेकर पाठ याद करते हुए जाने की अत्यंत हानिकारक आदत पड़ जाती है। हमारी राय में इस आदत के लिये उत्तरदाता इन छोटे छोटे बे समझ विद्यार्थियों को कभी भी न समझना चाहिये। इन बालकों के माता पिता स्कूलों का पाठ समय नियत करनेवाले अध्यापक, स्कूलों के अधिष्ठाता और आजकल की शिक्षाप्रनाली इस बुरी आदत और उससे होने वाली हानि के लिये निंदनीय हैं। भारतवर्ष जैसे गर्म देश में पाठ का समय दोपहर से पहिले होना चाहिये, जाड़ों के एक दो महीनों में यदि आवश्यकता हो तो दोपहर से पहिले और पीछे दोनों समय थोड़ी थोड़ी पढ़ाई हो सकती है। भोजन खाते ही पाठशाला में जाने से विद्यार्थियों को आलस्य और निद्रा आया करती है; यही अनवधान का एक बड़ा कारण है।

अध्याय १६

रक्त के कार्य

१. रक्त से शरीर की सेलों को वे सब पदार्थ मिलते हैं, जो उनके बढ़ने और काम करने के लिये आवश्यक हैं। ये पदार्थ प्रोटीन, वसा, शकर, जल, कई प्रकार के लवण और ओषजन हैं। इनमें से ओषजन को छोड़ कर और सब पदार्थों को रक्त अन्नमार्ग की दीवारों में से ग्रहण करता है। ओषजन फुफ्फुसों से मिलती है।

२. रक्त शरीर के विविध भागों में भ्रमण करता हुआ सेलों के आस पास से उन मलिन और हानिकारक पदार्थों को ग्रहण करता है जो रसायनिक क्रियाओं के होने से हर समय बनते रहते हैं। वह इन पदार्थों को उन अंगों में ले जाता है जिनका काम यह है कि इन पदार्थों को उसमें से निकाल लें और फिर उनको या तो शरीर से बाहर पहुंचा दें या उनसे ऐसे नये पदार्थ बना लें जो शरीर को किसी प्रकार की हानि न पहुंचा सकें। शरीर के मुख्य अंग जिनमें रक्त की शुद्धि होती है ये हैं:—फुफ्फुस या फेफड़े, वृक्क या गुरदे; त्वचा या खाल, यकृत या जिगर आदि। फुफ्फुसों द्वारा रक्त से कर्बनद्विओषित गैस और अन्य उड़नशील पदार्थ बाहर निकलते हैं। प्रश्वास वायु में निःश्वास वायु की अपेक्षा अधिक कर्बनद्विओषित गैस होती है। गुरदों में मूत्र बनता है; मूत्र द्वारा रक्त के यूरिया, यूरिकअम्ल और अन्य कई

पदार्थ शरीर से बाहर निकल जाते हैं। त्वचा भी पसीने के द्वारा रक्त की कुछ शुद्धि करती है।

३. रक्त का तीसरा काम यह है कि वह बहुत से रोगों से शरीर की रक्षा करता है। अब यह बात निश्चित हो गयी है कि बहुत से रोगों के कारण अत्यन्त सूक्ष्म जन्तु हैं; जब ये जन्तु शरीर के भीतर पहुंचते हैं तो रोग पैदा हो जाते हैं।

हम पहले इन सूक्ष्म जन्तुओं के विषय में लिखेंगे, उसके पीछे यह बतलाएँगे कि रोग कैसे उत्पन्न होते हैं और रक्त किस प्रकार शरीर की रक्षा करता है।

सूक्ष्म जन्तु या जीवाणु

अध्याय १ में हम लिख चुके हैं कि कुल जीवित सृष्टि दो वर्गों में विभाज्य है:—

(१) प्राणिवर्ग (२) वनस्पतिवर्ग। दोनों वर्गों में बड़े से बड़े और छोटे से छोटे व्यक्ति होते हैं। प्राणिवर्ग के सब से छोटे व्यक्ति एकसेलयुक्त हैं अर्थात् उनके शरीर केवल एक ही सेल से बनते हैं; इन प्राणियों को आदि-प्राणी कहते हैं। आदि प्राणी इतने छोटे होते हैं कि वे बिना अणुवीक्षण की सहायता के दिखाई नहीं देते। अमीबा एक आदिप्राणी है। कुछ आदिप्राणी ऐसे हैं कि यदि वे शरीर के भीतर प्रवेश करें तो तरह तरह के रोग पैदा करते हैं (चित्र २७)। उदाहरणार्थ:—

(१) मलेरिया ज्वर के (तिजारी, चौथिया या मोसमी बुखार) जन्तु (चित्र २७ में म)।

(२) कालाअज़ार ज्वर के जन्तु [चित्र २७ में क]।

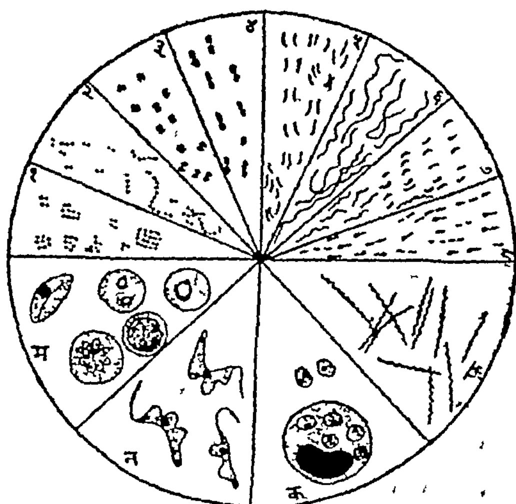
(३) सिलीपिंग सिकनेस अर्थात अतिनिद्रा रोग के जन्तु (चित्र २७ में न)

(४) एक प्रकार के आमातिसार के जन्तु।

५) आतशक (उपदंश या फिरंग) रोग के जन्तु (चित्र २७ में फ़)

म=मलेरिया ज्वर के आदि प्राणी
न=अति निद्रारोग "
क=काला अज़ार ज्वर "
फ़=आतशक "
१,२. फ़ोड़े, फुन्सी, प्रसूत रोग के बिन्द्वाकार कीटाणु
३. सूज़ाक के कीटाणु"
४. फुप्फुस प्रदाह के "
५. क्षय रोग " "
६. हेर फेर के ज्वर के "
७. हैजे " "
८. हनुस्थभ या टिटेनस के कीटाणु

चित्र २७ जीवाणु



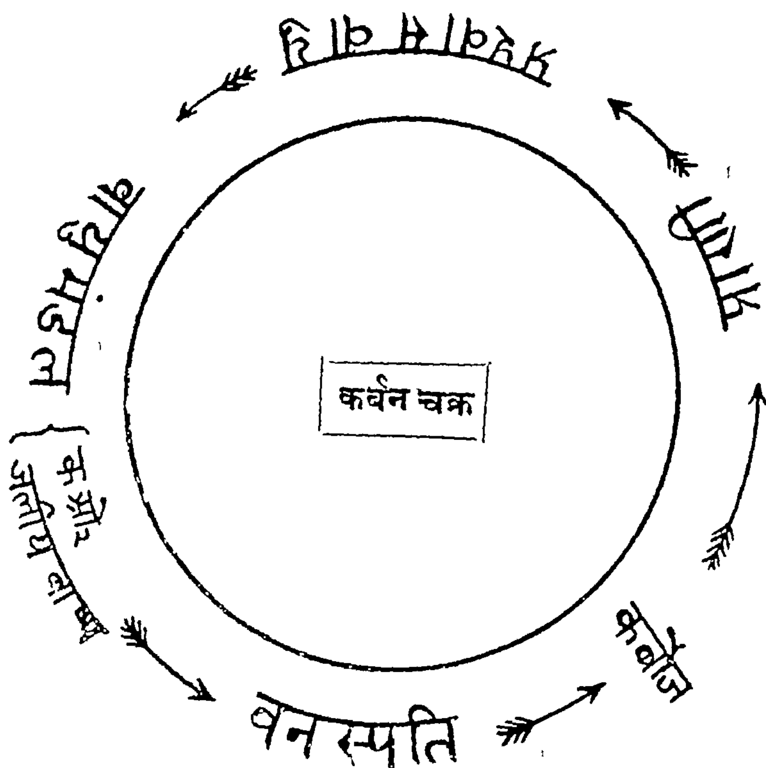
बनस्पतिवर्ग में भी एक सेल वाली बनस्पतियां बहुत हैं। सब से छोटी बनस्पतियां तो इतनी सूक्ष्म होती हैं कि उनकी सेल के भीतर मींगी और जीवनमूल जुदा जुदा दिखायी नहीं देते। इन अति सूक्ष्म बनस्पतियों को जिनके भीतर मींगी दिखायी नहीं देती बकटीरिया या कीटाणु कहते हैं।

कीटाणु

ये सूक्ष्म जन्तु हर जगह पाये जाते हैं। संसार में जो कोई

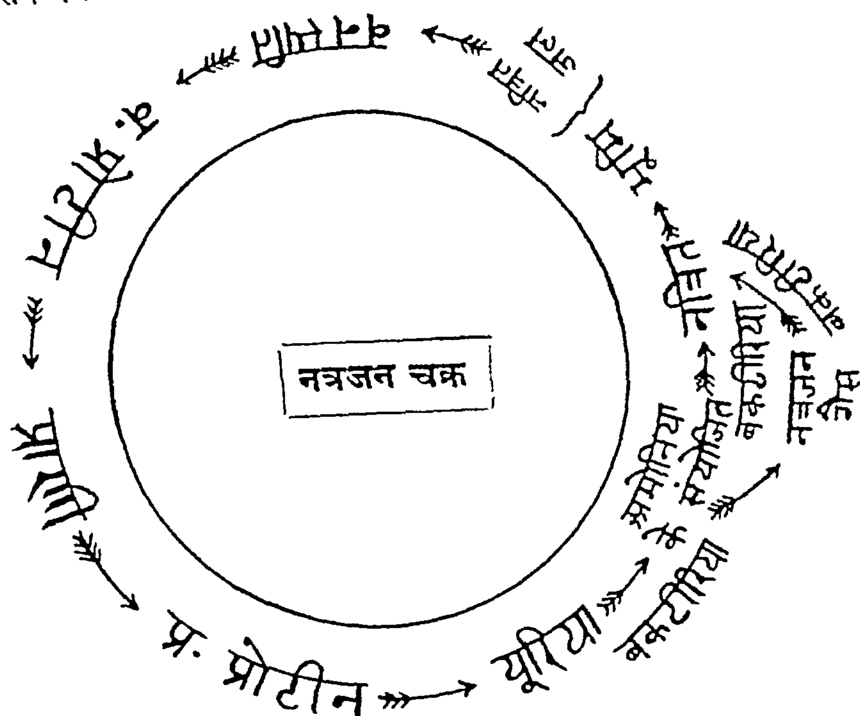
भी जीवित चीज़ों के रहने योग्य स्थान है वहां किसी न किसी प्रकार के कीटाणु बहुधा रहते ही हैं। वे जल, वायु, भूमि, भोजन के पदार्थ, कपड़े, आदि चीज़ों पर वास करते हैं। वे हमारी त्वचा, मुख और आंतों में भी रहते हैं। एक तरह से उनको सर्वव्यापक कहना अनुचित न होगा। कीटाणुओं की बहुत सी जातियां हमारे लिये बहुत उपयोगी हैं, परन्तु कुछ जातियां हानिकारक भी हैं; इनके शरीर के भीतर घुसने से रोग उत्पन्न हो जाते हैं। बहुत से कीटाणु संसार में बहुत बड़े और आवश्यक काम करते हैं। यदि वे सब के सब नष्ट कर दिये जायँ तो हमारा जीवन कठिन या असंभव हो जाय। मनुष्य का जीवन बनस्पतिवर्ग पर निर्भर है; यदि पल भर के लिये यह मान लिया जाय [जो एक असंभव बात है] कि मनुष्य केवल मांस खाकर ही जीवित रह सकता है तो भी उसके जीवन के लिये वनस्पतियों का होना आवश्यक होगा, क्योंकि जिन जानवरो से वह मांस प्राप्त करता है वे वनस्पति खाकर जीते हैं [चित्र २८,२९]। विज्ञान ने यह बात सिद्ध की है कि पौदों के लिये कीटाणुओं का होना बहुत आवश्यक है। ये कीटाणु पौदों के लिये विशेष प्रकार के नत्रजनीय पदार्थ बनाते हैं जिनको पृथ्वी से ग्रहण करके वे बढ़ते हैं। जब कोई जानवर मर जाता है तो उसका शरीर सड़ने लगता है; सड़ाव की यह क्रिया भी एक प्रकार के कीटाणुओं के उस मृत शरीर में उपजने से होती है, शरीर के सड़ने से कई प्रकार के पदार्थ बनते हैं जिनमें से एक चीज़ नत्रजन है, इस वायव्य के अतिरिक्त नत्रजनीय पदार्थ भी बनते हैं।

चित्र २८   कर्बोज चक्र , वनस्पति वर्ग का प्राणि वर्ग से सबन्ध



व्याख्या प्राणियो को कर्बोज (जैसे श्वेतसार, शर्करा, काष्ठोज) वनस्पति वर्ग से (गेहू, दाल, फल, शाक, पात, भूसा, घास इत्यादि) प्राप्त होते हैं। प्राणियो के शरीर में कर्बोज का ओपजनीकरण होता है जिससे क ओ$_2$ और जल उत्पन्न होते है। ये चीजें प्रश्वास द्वारा वायुमडल में मिल जाती हैं। वायुमडल से क ओ$_2$ (कर्बनद्विओपित) और जलीय वाष्प ग्रहण करके वनस्पतियाफिर कर्बोज वना लेती हैं, यह कर्बोज फिर प्राणियों के शरीर में पहुंचता हैं और यह चक्र जारी रहता है। जो वात कर्बोज के विषय में लिखी है वह वनस्पतियों से प्राप्त होने वाले तैल के विषय में भी घटती है। इस चक्र को कर्बन चक्र भी कह सकते हैं।

चित्र २६ प्रोटीन चक्र। बकटीरिया (कीटाणुओं) का प्राणि वर्ग से सवन्ध।



व्याख्या —मनुष्य अपनी प्रोटीन वनस्पतिवर्ग से (दाल, गेहू इत्यादि से) और अन्य प्राणियो से (मास, दुग्ध द्वारा) प्राप्त करता है। जिन प्राणियो से (गाय, वैल, भेड़, वकरी, मुर्गी) से मनुष्य और अन्य मांस खाने वाले प्राणि प्रोटीन प्राप्त करते हैं वे अपनी प्रोटीन घास, शाक, भूसा इत्यादि वनस्पतियों से प्राप्त करते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि प्राणियों के शरीर में प्रोटीन वनस्पतिवर्ग से आती है। वनस्पतियो में पाये जाने वाली प्रोटीन प्राणियो में पाये जाने वाली प्रोटीन से भिन्न होती है। वानस्पतिक प्रोटीन प्राणियों के शरीर में जाती है वह वहां जान्तविक प्रोटीन बन जाती है, फिर उसका ओषजनीकरण होता है और उससे यूरिया जैसे पदार्थ बनते हैं जो मूत्र द्वारा शरीर से वाहर आते हैं। एक प्रकार के कीटाणु (चित्र में

इस चित्र में व=वानस्पतिक प्र=जान्तविक· बकटीरिया=कीटाणु।

बकटीरिया छुपा है) इस पदार्थ का विश्लेषण करके उससे अमोनिया के संयोजित बना लेते हैं,दूसरे प्रकार के कीटाणु इन सयोजितों से नत्रित नामक सयोजित वनाते हैं जो भूमि में रहते हैं जहा वनस्पतियां उगती है , अमोनिया के सयोजित से नत्रजन गैस भी बनती है जो वायु मे मिल जाती है; नत्रित-जनक कीटाणु (जो भूमि में रहते हैं) इस नत्रजन की सहायता से नत्रित बनाते है । कई प्रकार वने हुए नत्रित भूमि (मिट्टी) में मिल जाते है । पौदे (वनस्पतियां) इन को ग्रहण करते है और इनसे प्रोटीनें बनाते है जो फिर प्राणियों के काम आती है । इस प्रोटीन से फिर यूरिया, नत्रजन, नत्रित और वानस्पतिक प्रोटीन वनती है यही चक्र जारी रहता हैं। इस चक्र को नत्रजन चक्र भी कह सकते हैं।

नत्रजन गैस वायु में मिल जाती है। परन्तु एक और जाति के कीटाणु नत्रजनीय पदार्थों से ऐसे पदार्थ बनाते हैं जिनको पौदे आसानी से ग्रहण कर सकें।

मल विष्ठा से खाद का बनना भी कीटाणुओं के ऊपर निर्भर है। यदि वे न हों तो मृत जानवरों के शरीर और मल विष्ठा कभी न सड़ें और उनसे वे पदार्थ कदापि न वन सकें जिन की पौदों को आवश्यकता है। जिस खेत में ये विशेष प्रकार के नत्रजनीय पदार्थ बनाने वाले कीटाणु कम होते हैं वहां पैदावार अच्छी नहीं होती; इस विशेष जाति के कीटाणुओं को उस ज़मीन में बोने से पैदावार अच्छी की जा सकती है।

कीटाणु और भी वहुत से आवश्यक काम करते हैं जैसे दूध को जमाकर दही बनाना; गन्ने के रस से शिरका वनाना आदि।

दूसरी ओर दृष्टि डालने से हमको वहुत से हानिकारक बकटीरिया भी दिखाई देते हैं।

उदाहरणार्थः—

१. क्षयरोग (थाइसिस, तपेदिक़) के कीटाणु (चित्र २७ में ५)

२ न्यूमोनिया (फुफ्फुस प्रदाह) के कीटाणु (चित्र २७ में ४)

३. टायफ़ौयड़ ; हैज़ा ; पेचिश; प्लेग या महामारी रोगों के कीटाणु

४. फोड़े फुन्सी और मुंहासों के कीटाणु (चित्र २७ में १,२)

५ प्रसूत रोग (चित्र २७ में १,२) नज़ला, जु.काम, खांसी आदि रोगों के कीटाणु

कीटाणुओं का आकार और परिमाण (चित्र ३०)

कीटाणुओं का आकार कई प्रकार का होता है। बहुत से तो बिन्दु की भांति गोल गोल होते हैं (जैसे पीप पैदा करने वाले), कुछ शलाका की तरह लम्बे लम्बे होते हैं (जैसे टाइफोयड, क्षय रोग के ;) बहुत से बकटीरिया मुड़े होते हैं जैसे हैज़े के जो द्वितीया के चन्द्र की शकल के होते हैं ; और हेर फेर के ज्वर के जो कर्षणो के सदृश पेचदार होते हैं। आकारानुसार कुल कीटाणुओं की तीन जातियां कही जा सकती हैं:—

१. विन्द्वाकार

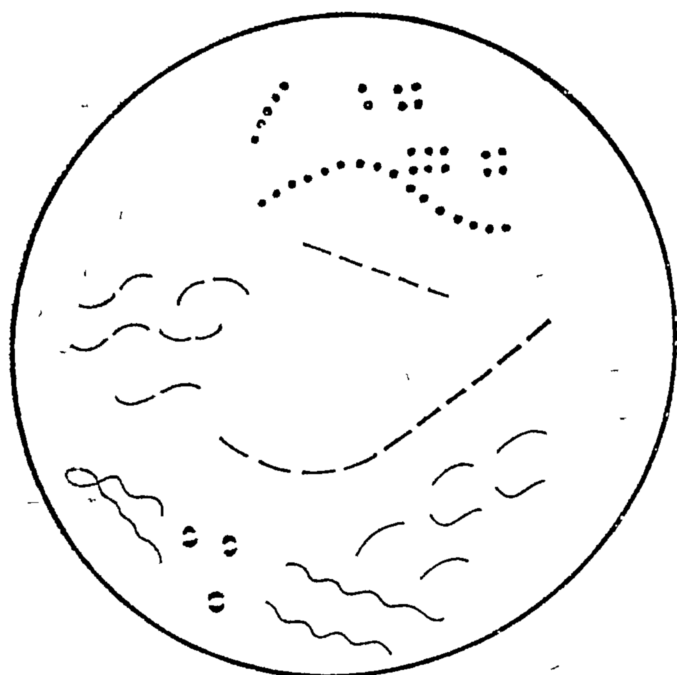
२ शलाकाकार—कभी कभी शलाका मुड़कर चन्द्राकार बन जाती है जैसे हैज़े की।

३. कर्षण्याकार या चक्राकार

परिमाण में वे इतने सूक्ष्म होते हैं कि साधारण अणुवीक्षणों से तो वे दिखाई भी नही देते। इनको देखने के लिये बहुत अच्छे यन्त्रों की आवश्यकता है। यही कारण है कि जब तक

बड़े वडे यन्त्र न वने किसी को इस वात का ख़याल भी न हुआ कि वहुत से जन्तु ऐसे भी होते हैं जिनको हम देख न सकें परन्तु जो अनेक प्रकार के भयानक रोग उत्पन्न करने में समर्थ हैं।

चित्र ३० कई प्रकार के कीटाणु



उनकी मोटाई $\frac{१}{२५०००}$ इंच से अधिक नहीं होती ; लम्बाई $\frac{१}{५०००००}$ से $\frac{१}{५००}$ इंच तक होती है। इन अंकों से आप उनकी सूक्ष्मता का अन्दाज़ा लगा सकते हैं। कुछ कीटाणु गति कर सकते हैं, कुछ नहीं कर सकते। जिस तरल में कीटाणु हैं

यदि उसकी एक बूंद अणुवीक्षण से देखें तो गति करने वाले कीटाणु बड़ी तेज़ी से इधर उधर दौड़ते हुए दिखाई देंगे।

कीटाणु मृत पौदों और प्राणियों से जिन पर ये वास करते हैं अपना भोजन प्राप्त करते हैं, जब रोगोत्पादक जातियां हमारे शरीर में रहती हैं तो वे हमारे रक्त और शरीर के तंतुओं से भोजन ग्रहण करते हैं।

विशेष जाति के कीटाणु एक विशेष ताप परिमाण पर रहना पसंद करते हैं, यदि इससे अधिक या न्यून गरमी में रक्खे जायँ तो वे अच्छी तरह न बढ़ेंगे। रोग उत्पादक जन्तु ३५° से ३६° शतांश के ताप को पसंद करते हैं। सड़ाव पैदा करने वाली जातियां इससे कम गरमी को पसंद करती हैं। कुछ कीटाणु ६०°-७०° शतांश की गरमी पर रहना चाहते हैं। साधारणतः बहुत से कीटाणु ५७° श०की गरमी में कुछ देर तक रक्खे जाने से मर जाते हैं।उबालने पर (१००° श०) कोई कीटाणु नहीं जी सकते। किसी चीज़ को कीटाणु रहित करने की सहल विधि यह है कि उसको कुछ देर तक १००° श०की गरमी पहुंचाई जावे यदि यह गरमी उस चीज़ को किसी प्रकार की हानि न पहुँचाए।

सूर्य के प्रकाश को कीटाणु बहुत देर तक नहीं सह सकते। बहुत सी जातियों के कीटाणु १$\frac{1}{2}$ घन्टे तक धूप में रहने से मर जाते हैं। बिजली की तेज़ रोशनी से भी वे मर जाते हैं।

रोगोत्पादक जन्तु किस किस प्रकार शरीर में प्रवेश करते हैं।

१ वायु द्वारा—क्षयरोगी को खांसी रहा करती है।

खांसते समय उसके मुंह से कफ़ (बलग़म) के अति सूक्ष्म ज़र्रे निकलकर वायु में मिल जाते हैं। इन ज़र्रों में क्षयरोग के जन्तु रहते हैं। जो मनुष्य उस रोगी के पास रहते हैं उनके फुप्फुसों में ये जन्तु स्वांस के द्वारा जा सकते हैं। यही नहीं, यदि कोई भोजन की वस्तु जैसे दूध उस रोगी के पास रक्खी हो तो कफ़ के ज़र्रे उसमें मिल जायेंगे और जो मनुष्य उसका सेवन करेगा उसके शरीर में (अंत्र में) ये जन्तु पहुंच सकते हैं। फुप्फुस प्रदाह, जुकाम, नज़ला चेचक, खसरा आदि रोगों के जन्तु एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य के शरीर में बहुधा वायुद्वारा पहुंचा करते हैं।

२ भोजन द्वारा—यदि किसी प्रकार रोगों के जन्तु भोजन में मिल जायँ तो वे उस दूषित भोजन के सेवन से शरीर में पहुंच सकते हैं। हैज़ा, पेचिश, टायफौयड, प्रवाहिका के जीवाणु आम तौर से भोजन और जलद्वारा ही हमारे शरीर में पहुंचा करते हैं। एक मनुष्य से और मनुष्यों को हैज़ा कैसे हो सकता है? हैज़े के रोगी के मल और वमन में अनेक सहस्र हैज़े के द्वित्याचन्द्राकार कीटाणु रहते हैं। यदि वमन या मल का कोई अंश किसी दूसरे मनुष्य के भोजन में मिल जाय तो यह जन्तु उसके शरीर में पहुंचकर हैज़े का रोग पैदा कर सकते हैं। रोगी के पास रक्खे हुए दूध, जल, फल आदि भक्ष्य पदार्थों पर वमन या मल की छींटें पड़ जाने से ये पदार्थ और मनुष्यों में रोग उत्पन्न करने योग्य बन जाते हैं।

रोगी के वमन और मल को एक स्थान से उठा कर दूसरे स्थान को ले जाने वाले मनुष्य के हाथों और कपड़ों में जन्तु लग सकते हैं, यदि यह मनुष्य अपने हाथों को विशेष साधनों

से शुद्ध किये विना किसी पीने या खाने की वस्तु को छू लें तो वे विषैली हो जाती हैं और उनके सेवन से और मनुष्यों को हैज़ा हो सकता है। कभी कभी वमन और मल के छींटे आस पास रक्खे हुए बरतनों पर पड़ जाते हैं, यदि इन बरतनों से किसी कुएं से जल निकाला जाय तो उस कुएं का जल भी खराब हो सकता है और उस कुएं के जल को पीने वालों को हैज़ा हो सकता है। हैजे के रोगियों के मल और वमन से छोटी नदियों का पानी भी ज़हरीला हो जाता है। जब मक्खियां वमन और मल पर बैठती हैं तो उनके पैरों में इन चीज़ों का कुछ अंश लग जाता है: मक्खियां एक स्थान से उड़ कर दूसरे स्थान पर जा बैठा करती हैं, कभी मल पर बैठती हैं कभी दूध, मिठाई और भोजन की अन्य वस्तुओं पर; यदि हैज़े के वमन और मल पर बैठी हुई मक्खी भोजन पर जा बैठे तो उसके पैरों में लगे हुए मल का कुछ भाग भोजन में लग जाता है और उस दूषित भोजन को खाने वालों को हैज़ा हो सकता है। मक्खी एक घर से उड़कर दूसरे घर में भी चली जाती है और वहां रहने वालों के भोजन को भी ज़हरीला बना सकती है। जिस प्रकार हैज़ा एक मनुष्य से और मनुष्यों को भोजन द्वारा हो सकता है उसी प्रकार पेचिश, टायफौयड, प्रवाहिका (दस्त) रोग भी हो सकते हैं।

आजकल इस बात के प्रति दिन नये नये प्रमाण मिल रहे हैं कि बहुत से रोगों के जन्तु मक्खियों की सहायता से हमारे भोजन में पहुँचते हैं। वास्तव में यह एक बहुत ही गन्दा जानवर है; इससे जहां तक बचा जाय उतना ही अच्छा है; जिस भोजन पर वह बैठे उसे त्यागना उचित है। मक्खी को

गन्दगी से प्रेम होता है और सफ़ाई से चिढ़। भोजन के पदार्थों को साफ स्थान में ढक कर रखना चाहिए।*

(३) जानवरों के काटने से—

कुछ जानवरों के मुख या पेट में रोग उत्पादक जंतु रहते हैं; जब यह जानवर रक्त चूसने के लिये मनुष्य को काटते हैं तो उनके मुख से थूक द्वारा ये जन्तु शरीर में प्रवेश

*बहुत लोगों का विचार है कि बालकों को अधिक मीठा खिलाने से उनके पेट में कीडे हो जाते हैं। इस विचार में कुछ सत्य है और कुछ असत्य। असत्य इतना है कि मीठे के कम या अधिक सेवन का कीडो के होने या न होने से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। और सत्य यह है कि कीडे अधिकतर उनहीं बालको के पेट से निकलते हैं जो हलवाइयो की दुकान की गन्दी मिठाई खाया करते है। वास्तव में बात यह है कि पेट मे कीडे बनने के लिए उन कीडो के अन्डे होने चाहियें, यदि मिठाई या किसी और भोजनीय पदार्थ में यह अन्डे है तो उसके खाने से पेट में कीडे बन सकते हैं (चाहे बालक खाय और चाहे प्रौढ मनुष्य)। हलवाइयो की दुकान पर मिठाई खुली रक्खी रहती हैं और उस पर सहस्रों मक्खियां भिनका करती हैं। इनमे बहुत सी मक्खियां अभी मल पर बैठ कर आई हैं, यदि मल मे कीड़े और उनके अन्डे हो तो कुछ अन्डे इन मक्खियो के पैरों द्वारा मिठाई तक पहुंच जाते हैं। जो बालक या मनुष्य इस मिठाई को खाता है उनकी आंतों मे ये अन्डे बढते हैं और उनसे कीड़े बन जाते है।

उपयुक्त से विदित है कि कीड़ो के कारण अन्डे हैं न कि शुद्ध मिठाई जिन में कीड़े और उनके अन्डे न हो।

शिक्षित मनुष्यों का यह फ़र्ज है कि वे साधारण मनुष्यो को ऐसी मिठाई वा अन्य भोज्य पदार्थों को जिनपर मक्खियां भिनकती हों न खाने की शिक्षा दें; उनका फर्ज यह भी है कि वे हलवाइयों को अपनी मिठाई को शीशेदार या जालियोदार बकसों या आलमारियों में रखकर बेंचने की हिदायत करें।

करते हैं। मच्छरों की एक विषैली जाति है; इस जाति के मच्छरोंके मुख और पेट में मलेरिया ज्वर (मौसमी बुखार) के जन्तु (आदि प्राणी) रहते हैं, जब विषैले मच्छर काटते है ये जन्तु शरीर में पहुंच जाते हैं और वहां जाकर बढ़ते हैं और मलेरिया ज्वर पैदा करते हैं।

काला आज़ार नामक एक ज्वर होता है जो अधिकतर बंगाल, मद्रास प्रान्तों में होता है, संयुक्तप्रान्त में कम होता है। इसके विषय में वैज्ञानिकों का विचार है कि यह एक विशेष जाति के खटमलों के काटने से होता है।

अफ़रीक़ा देश के अति निद्रारोग के जन्तु एक विशेष जाति की मक्खियों के मुख में रहते हैं; जब यह मक्खी काटती है तो यह जन्तु मनुष्य के शरीर में पहुंच जाते हैं।

दक्षिण अमरीका और अफ़रीक़ा देशों का भयानक पीला ज्वर एक विषैली जाति के मच्छरों के काटने से होता है।

भारतवर्ष की महामारी (प्लेग) के विषय में यह माना जाता है कि इस रोग के जन्तु एक विषैली जाति के पिस्सुओं द्वारा मनुष्य के शरीर में पहुंचते हैं।

पागल कुत्ते या गीदड़ के काटने से बहुत से मनुष्यों को एक रोग हो जाता है इस रोग के जन्तु पागल कुत्ते या गीदड़ के थूक में रहते हैं।

(४) ज़ख्मों द्वारा—यदि त्वचा चोट लगने से कहीं से कट जाय या फट जाय और फिर उस पर गन्दा जल, गन्दी धूल, मिट्टी या गन्दी वायु लगे तो कई प्रकार के जन्तु शरीर में घुस सकते हैं। ज़ख्मों में पीप पैदा करने वाले जंतु इसी प्रकार पहुंचते हैं।

अब थोड़ी देर के लिए मान लो कि रोग उत्पादक जन्तु शरीर में किसी न किसी प्रकार पहुंच गये हैं। ये जन्तु वहाँ पहुंच कर क्या करते है? और शरीर में उनकी चढ़ाई को रोकने का क्या प्रबन्ध है?

सृष्टि के दो बड़े नियम

सजीव सृष्टि मे दो बड़े नियम काम करते हुए दिखाई देते हैं। सब को इन नियमों का पालन करना पड़ता है:—

१. आत्म रक्षा

२ स्वजाति-रक्षा

प्रत्येक जीवधारी के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी रक्षा का प्रबन्ध करे। अपनी रक्षा का प्रबन्ध करने के बाद उसको अपनी जाति की रक्षा के लिए यत्न करना चाहिये। जिस में (चाहे मनुष्य जाति हो और चाहे कीटाणु जाति) इन दोनों नियमों का पालन नही हो सकता वह जाति शीघ्र ही नष्ट हो जाती है। आत्मरक्षा के मुख्य साधन भोजन करना, उसको भली प्रकार पचाना और मल त्यागना हैं, अपने शत्रुओं को मारने का यत्न करना भी बहुत आवश्यक है।

स्वजातीय रक्षा का मुख्य साधन अपनी मृत्यु के बाद अपना वंश चलाने के लिए स्वस्थ और बलवान संतान को छोड़ जाना है।

कीटाणु और अन्य रोग उत्पादक जन्तु भी इन नियमों का पालन करते हैं। जो जो काम वे औरों के शरीर के भीतर करते हैं वे भी इन नियमों का पालन के लिए ही होते हैं।

शरीर में पहुँच कर पहले तो ये ख़ूब खाते पीते हैं और ऐसी वस्तुएं बनाते हैं जिनसे शरीर की सेलों को जो उनके

शत्रु है हानि पहुँचे। यह आत्म-रक्षा के लिए उन्हें करना पड़ता है। जब वे खा पीकर मोटे और बड़े होते हैं तो संतान उत्पन्न करते है जिससे जाति की रक्षा होती है अर्थात् यदि वे मर जायँ तो उनका वंश नष्ट न होने पाये।

कीटाणुओं में सन्तानोत्पत्ति

इनमें स्त्री पुरुष का कोई भेद नहीं होता। जब कोई व्यक्ति खा पीकर बडा हो जाता है तो वह बीच में से फटकर दो भागों में विभक्त हो जाता है। इस क्रिया से एक से दो बन जाते हैं। धीरे धीरे इनमें से हर एक बड़ा होता है और उसके फटने से दो व्यक्ति बन जाते हैं। यह बढ़ने और फटने का सिलसिला बडी शीघ्रता के साथ चलता है: एक ही जन्तु से थोड़े ही समय में अनेक जन्तु बन जाते है। जिस शीघ्रता से इन की संख्या बढ़ती है, उसका अन्दाज़ा भी लगाना सामान्य मनुष्य के लिए बहुत कठिन है। बहुत से कीटाणु आध घन्टे में ही फटकर एक से दो बन जाते हैं। यह समझिये कि वह आध घन्टे की आयु में सतान उत्पन्न करने योग्य हो जाते है और बहुतेरे एक घन्टे में। यदि एक घन्टा ही समझें तो हिसाब लगाने से मालूम होग कि २४ घन्टे में एक व्यक्ति से एक करोड़ साठ लाख व्यक्ति बन जायँगे, आध घन्टे के हिसाब से ३ पद्म के लगभग (२८१४७४९७६७१०६५६०) बन जायंगे।

कीटाणु तेज़ी से तभी बढ़ सकते है जब उनको अच्छा भोजन मिले और जहाँ ये हों वहाँ का ताप ऐसा हो कि जिसे वे न केवल सह सकते हों बल्कि अधिक पसंद करते हों। रोग उत्पन्न करने वाले कीटाणुओं के लिए रक्त का

ताप परिमाण जो ३७·८° शतांश होता है, सब से अच्छा होता है।

शरीर में पहुंच कर कीटाणु केवल बढ़ते ही नहीं; बढ़ते समय वे विषैली वस्तुएँ भी बनाते हैं। ये विष दो प्रकार के होते हैं—

(१) वे विष जो कीटाणु के शरीर से बाहर निकल कर रक्त में घुल जाते हैं और इस द्रव के साथ सम्पूर्ण शरीर में भ्रमण करते हैं, और फैल जाते हैं।

(२) वे विष जो उनके शरीर से बाहर नही निकलते। जब तक कीटाणु जीवित रहते हैं विष उनके शरीर में ही रहते हैं; परन्तु जब वे मरते हैं या मारे जाते हैं तो विष शरीर से निकलकर रक्त में मिल जाते हैं। जिस प्रकार सांप के शरीर में रहते हुए भी विष उस को कोई हानि नहीं पहुंचाता उसी प्रकार यह विष कीटाणु के शरीर में रहते हुए भी उन्हें हानि नहीं पहुंचाते।

कीटाणुओं के बनाए हुए ज़हर उस स्थान की सेलों को जहां वे रहते हैं बहुत हानि पहुंचाते हैं। इतना ही नही, ये ज़हर लसीका और रक्त में मिलकर शरीर के और स्थानों में भी जाते हैं और जहाँ जहाँ पहुंचते हैं अपना ज़हरीला प्रभाव डालते हैं।

शरीर की सेलों का इन जन्तुओं के साथ व्यवहार

शरीर की सेलें इन जन्तुओं का स्वागत नही करतीं। शत्रु का स्वागत कौन करता है? शरीर की सेलें भी कीटाणु की भांति नियमों से जकड़ी हुई हैं। आत्मरक्षा के निमित्त वे ऐसे काम करती हैं जिनसे जन्तुओं का नाश हो। सेलों और

इन जन्तुओं में बड़ा भारी युद्ध होता है। यदि सेलें बलवान हैं और उनके पास विषों को हरने वाली वस्तुओं के पैदा करने के लिए पूरे सामान हैं तो वे अपने शत्रुओं पर विजयी होती हैं, शत्रु हारते हैं और शरीर रोग रहित हो जाता है। पर यदि शत्रु बलवान हैं या उनकी संख्या अधिक है और उनके ज़हर इतने तेज़ हैं कि शरीर की सेलों को उनका नाश करने का अवसर ही नही मिलता, तो रोग बढ़ता जाता है और मनुष्य की मृत्यु हो जाती है।

युद्ध

शरीर एक बड़े राज्य के समान है। जैसे राज्य की रक्षा के लिए सेना होती है, इस शरीर रूपी राज्य की रक्षा के लिए भी सेना है। इस सेना के सिपाही श्वेत कण (श्वेताणु–देखो अध्याय ६ पृष्ट १५३) हैं जो अधिकतर तो रक्त और लिम्फ़ में रहते हैं, परन्तु थोड़े बहुत और जगह भी पाये जाते हैं। यह न समझना चाहिये कि शरीर की और सेलें अपनी रक्षा अपने आप नहीं कर सकतीं। नही, नही. वे थोड़ी बहुत आत्मरक्षा उसी तरह कर सकती हैं जैसे किसी राज्य के पुरवासी समय पड़ने पर अपनी रक्षा कुछ कर ही सकते हैं; अच्छी तरह इसलिए नहीं कर सकते कि उन्होंने युद्ध शिक्षा नहीं पायी है और उनका काम और होता है।

इन शत्रुओं के पहुंचने पर शरीर की सेना उनके मुक़ाबले में आती है। बड़ा भारी संग्राम होता है, शरीर की सेलें इन पर विजय पाने के लिए अनेक प्रकार के यत्न करती हैं।

प्रत्येक संग्राम में विजय छः बातों पर अवलम्बित होती है :-

१. सेना की संख्या।

२. सैनिकों को आवश्यकता के अनुसार पौष्टिक भोजन और दूसरी जरूरी चीज़ों का मिलना।

३. योधाओं की शारीरिक अवस्था (स्वास्थ्य) और उनकी और उनके माता पिता की देशभक्ति और स्वार्थ त्याग।

४. सेनापति की चतुराई और वीरता।

५. योधाओं की शिक्षा और युद्धाभ्यास।

६ योधाओं के अस्त्र शस्त्र।

शरीर में जो युद्ध होता है उसमें विजय किस की होगी शरीर की सेलों की या रोगोत्पादक जन्तुओं की, यह भी इन्हीं छः बातों पर निर्भर है—

(१) बहुत से जन्तुओं की अपेक्षा थोड़े जन्तुओं पर विजय पाना सहज है। जब जन्तु बहुत होते हैं और उनसे युद्ध करनेवाले श्वेतकण कम, तो श्वेतकणों के हारने की सम्भावना रहती है। जिन मनुष्यों के शरीर में किसी कारण रक्त कम हो जाता है वे रोगों का मुक़ाबला भली प्रकार नहीं कर सकते।

(२) जो मनुष्य पुष्टिदायक भोजन खाता है और उसको अच्छी तरह पचा लेता है, उसके श्वेतकण और अन्य सेलें इन जन्तुओं का मुक़ाबला अच्छी तरह कर सकती हैं। निर्बल और क्षुधा पीड़ित मनुष्यों को अधिक रोग सताते हैं और वे इन रोगों का मुक़ाबला नहीं कर सकते और जल्दी मर जाते हैं। भारतवासियों की अपेक्षा अंग्रेज़ों का स्वास्थ्य अच्छा रहने का यह एक मुख्य कारण है।

(३) कुछ जन्तु बड़े बलवान होते हैं। कमज़ोर जन्तुओं को श्वेतकण शीघ्र ही मार खाते हैं, यदि श्वेतकण कमज़ोर हों

या किसी रोग के कारण कमज़ोर हो गये हों, तो वे शक्तिमान जन्तुओं का मुक़ाबला अच्छी तरह न कर सकेंगे। जिस मनुष्य को भोजन कम मिलता है या जो मंद जठराग्नि के कारण उसको भली प्रकार नही पचा सकता या जो शुद्ध वायु का सेवन नही करता या जिसको चिन्ता घुलाती रहती है, उसके श्वेतकण निर्बल होते हैं। निर्बल माता पिता की संतान के सब अंग निर्बल होते हैं ऐसे बालकों को सदा रोग सताया करते हैं। जिन लोगों का स्वास्थ्य पहलेही से अच्छा होता है, वे रोगों से शीघ्र छूट जाते हैं। यही कारण है कि मधुमेह रोगवालों में छोटी सी फुन्सी या घाव के अच्छे होने में भी बड़ी देर लगती है।

(४) हमारे आत्मिक बल का हमारे स्वास्थ्य पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। जिस प्रकार डरपोक सेनापति के सिपाही कोई बहादुरी का काम नहीं कर सकते और रणभूमि से मुंह फेर कर भागा करते हैं, उसी प्रकार तुच्छ आत्मिक बल और अदृढ़ संकल्प वाले मनुष्य के श्वेताणु और अन्य सेलें भी रोग के जन्तुओं का अच्छी तरह मुक़ाबला करने में असमर्थ रहती हैं। आत्मिक बल का असर हमारे श्वेत कणों और स्वास्थ्य पर कई तरह से पड़ सकता है।

(५) युद्ध का परिणाम योद्धाओं के अभ्यास पर भी निर्भर होता है। कई रोग ऐसे हैं कि यदि एक बार शरीर उन पर विजय पा ले तो वह रोग उस मनुष्य को फिर नहीं हो सकते, चाहे उस रोग के जन्तु उसके शरीर में कितने ही क्यों न प्रवेश कर जायँ। चेचक, खसरा, टायफ़ोयड आमतौर से एक बार होकर दूसरी बार नहीं हुआ करते। और कारणों के सिवा इसका एक छोटा सा कारण यह भी है

(मुख्य कारण और हैं) कि जब रोग पहली बार हुआ था शरीर की सेलें इन विशेष जन्तुओं का मुक़ाबला करना जान गयी थीं। उनको पता लग गया था कि इनमें क्या त्रुटियां हैं, इसीलिए जब ये जन्तु फिर शरीर में पहुँचते हैं, झट मार डाले जाते हैं। जिस सिपाही ने पहले कभी रणभूमि नहीं देखी है, वह वैसी चतुराई से नही लड सकता, जैसी कुशलता से वह सिपाही लड़ेगा जिसने अनेक युद्ध देखे हैं और जय पाई है।

(६) जन्तु शरीर के भीतर विष बनाते हैं, ये विष रक्त में मिल कर शरीर के सब भागों में पहुँचते हैं। इन विषों को जन्तुओं के अस्त्र, शस्त्र, ढाल, तलवार, गोला, बारूद, तोप, टारपीडो समझना चाहिए। शरीर में इन विषो का नाश करने वाली और जन्तुओं को मारने वाली वस्तुएँ बनती हैं। यह वस्तुएँ शरीर की सेलों के अस्त्र शस्त्र हैं। यदि ये वस्तुएँ विषों को हरने में समर्थ है और जन्तुओं को शीघ्र मार सकती हैं तो शरीर की जय होगी, नहीं तो जन्तुओं की जीत की अधिक सम्भावना है।

जब हमारे शरीर में कहीं फुन्सी फोड़ा या पाका बनता है तो वही स्थान रणभूमि बन जाता है। उस जगह सहस्रों कीटाणु इकट्ठे रहते हैं। ये जन्तु उस स्थान की सेलों को मार कर और उनके भोजन को खा कर अपनी संख्या को अति शीघ्रता से बढ़ाते है। ये देखते ही सेलों की रक्षा के लिये रक्त के श्वेताणु उन पर चढ़ाई करते हैं। उस स्थान में रक्त पहले की अपेक्षा अधिक आता है और अधिक शीघ्रता से चक्कर खाता है। इस अधिक रक्त के कारण वह भाग कुछ फूल आता है और उसका रंग लाल सा हो जाता है और छूने

से वह आस पास के स्थानों से अधिक गरम मालूम होने लगता है। इस युद्ध में सहस्रों कीटाणु, शरीर की सेलें और श्वेत कण मारे जाते हैं। राद या पीप का गाढ़ा भाग इन्हीं चीज़ों से बनता है। राद शरीर के किसी काम की नहीं है और ज़हरीली होने के कारण शरीर के लिए बहुत हानिकारक है। अब शरीर इसको बाहर निकालना चाहता है। त्वचा में एक पीला सा स्थान दिखाई देने लगता है, यहां की त्वचा मुर्दा हो गयी है। पीप इसे फोड़ कर बाहर आ जाती है। पीप में बहुत से जीवित जन्तु भी होते हैं। पीप के दबाव के कारण फोड़े में जो दर्द था वह अब नहीं रहता या कम हो जाता है। जब पीप गहरी होती है और डाक्टर समझता है कि त्वचा तक पहुँचने में अधिक समय लगेगा और शरीर को हानि पहुँचेगी, तो त्वचा में चीरा या नश्तर देकर उस पीप को बाहर निकालने का यत्न करता है। पीप निकलने पर सूजन कम होने लगती है। धीरे धीरे श्वेत कण सब जन्तुओं को मार डालते हैं और खा जाते हैं। रक्त में घुली हुई विष-नाशक वस्तुएँ उनके ज़हरों को हर लेती हैं। पीप सहज सहज कम होती जाती है और फिर बन्द हो जाती है। घाव भरने लगता है, उस स्थान की सेलें रक्त से सामान लेकर नयी सेलें बनाती हैं। नयी सौत्रिक तन्तु भी बनती है। शरीर का जो भाग मुर्दा होकर निकल गया है वह अब फिर बन जाता है। त्वचा का छिद्र बन्द हो जाता है और मनुष्य अपने पूर्व स्वास्थ्य को प्राप्त करता है। यह शरीर की सेलों की कीटाणुओं पर विजय पाने की कथा हुई।

यदि मनुष्य का स्वास्थ्य खराब है, अच्छा भोजन नहीं मिलता, तरह तरह की चिन्ताएँ सताती हैं, आत्मिक बल कम

है और वह समझता है कि मैं कभी अच्छा नहीं हो सकता तो फोड़ा अच्छे होने के बदले बढ़ता जाता है। जन्तु आस पास फैलते हे और यह कोशिश करते हैं कि सारे शरीर पर अधिकार जमालें। एक फोड़े से कई फोड़े बन जाते हैं। बहुतेरे जन्तु केशिकाओं में घुस जाते हैं और रक्त में भ्रमण करते हुए शरीर के विविध भागों में पहुँचते हैं और जहां कहीं ठहर जाते हैं वही फोड़ा बनाते हैं। मनुष्य बहुत कमज़ोर होता जाता है और अन्त में उसकी मृत्यु हो जाती है। यहां जन्तुओं ने शरीर की सेलों पर विजय पाई है।

फुफ्फुस प्रदाह रोग में रणभूमि फुफ्फुस है। इन जन्तुओं के ज़हर शरीर के सब अंगों में पहुँचते हैं और उनको हानि पहुँचाते हैं। कुल शरीर की सेलें इन जन्तुओं को मारने का यत्न करती है। जब सेलें विजय पाती हैं, मनुष्य अच्छा हो जाता है। जन्तुओं के विजयी होने पर रोग बढ़ता है और मृत्यु हो जाती है।

आमातिसार में रणभूमि बृहदंत्र की दीवारें हैं, टायफोयड और हैज़े में क्षुद्रांत्र या छोटी आंत की दीवारें। जब आँखें दुखती हैं तो रणभूमि आँख की श्लैष्मिक कला है जो लाल हो जाती है।

युद्ध का परिणाम

सब रोगों का परिणाम एक सा नहीं होता। कभी शरीर की सेलें जीतती हैं और कभी रोग के जन्तु। जब शरीर विजयी होता है, मनुष्य धीरे धीरे अपने पहले स्वास्थ्य को पहुँचता है। पर जब यह जन्तु जीतते हैं तो शरीर निर्बल होता जाता है, रोग दिन प्रति दिन बढ़ता है और अन्त में मृत्यु हो जाती है।

इसमें सन्देह नहीं कि रक्त हमारे शरीर में एक अमूल्य वस्तु है। इसके श्वेत कण विषनाशक वस्तुओं की सहायता से हमारे शरीर की भली भांति रक्षा करते हैं।

कीटाणुओं से उत्पन्न होने वाले रोग

तजुर्बे से मालूम होता है कि इस प्रकार के बहुत से रोगों में कीटाणु नाशक तथा कीटाणु विषनाशक वस्तुओं के बनने में बहुधा एक नियत समय लगा करता है और जब तक ये वस्तुएँ जितनी चाहिए उतनी न बन जायँ उस समय तक रोगी की दशा में कुछ फर्क़ नहीं दीखता अर्थात रोग का कम होना आरंभ नहीं होता। टायफ़ौयड् ज्वर आम तौर से २१, २२ दिन से पहले नहीं उतरता, कभी कभी इससे भी अधिक समय लगता है जैसे २८ से ४२ दिन तक। रक्त की परीक्षा से पता लगता है कि इस रोग में विषनाशक वस्तुओं का नौ दिन से पहले अच्छी तरह बनना आरंभ नहीं होता। फुप्फुस प्रदाह का ज्वर भी बहुधा आठ नौ दिन से पहले नहीं उतरता; यही हाल चेचक, खसरा आदि रोगों का है। ये विषनाशक वस्तुएँ यथोचित परिमाण में न बनें तो रोग बढ़ता ही जाता है और अंतिम परिणाम मृत्यु होता है।

कीटाणुओं से उत्पन्न होने वाले रोगों के लिए अब तक कोई औषधि ऐसी नहीं मालूम हुई है कि जो रक्त में पहुंच कर उनका नाश कर सके। शरीर से बाहर उनको तुरंत मार डालने वाली औषधियां तो बहुत हैं। जिन औषधियों का ऐसे रोगों में प्रयोग होता है वे और विधियों से फ़ायदा करती हैं। कुछ औषधियां उत्तेजक होती हैं। जिस प्रकार वाह वाह! शाबाश शाबाश! पुकारने से योद्धाओं का उत्साह बढ़ जाता

है और वे पहले की अपेक्षा अच्छी तरह लडते हैं,उसी प्रकार कुछ औषधियां ऐसी हैं जिनके सेवन से शरीर की सेलों का उत्साह बढ़ता है और वे शत्रुओं अर्थात् कीटाणुओं का सामना अच्छी तरह कर सकती हैं। कुछ औपधियां पाचक शक्ति को बढ़ाती है,जिससे भोजन भली प्रकार पचता है और सेलों को कीटाणु और उनके विषों का नाश करने वाली चीज़ों के बनाने के लिए सामान अच्छी तरह से मिलता है। कुछ औषधियां दर्द कम करती हैं और नींद लाती हैं; कुछ के सेवन से मूत्र अधिक आता है, और कब्ज़ दूर हो जाता है, शरीर में किसी प्रकार का मैल इकट्ठा नहीं होने पाता।

आदिप्राणियों से उत्पन्न होने वाले रोग

इन रोगों में से कुछ के लिए ऐसी ओषधियां मालूम हैं कि जो रक्त में पहुच कर इन रोगोंके जंतुओं को मार डालती हैं*। यदि औपधि का यथा विधि प्रयोग किया जाय तो जन्तु मर जाते हैं और रोग घट जाता है या जाता रहता है और फिर रोगी धीरे धीरे अपने पहले स्वास्थ्य को प्राप्त करता है। मलेरिया ज्वर (मौसमी बुखार) के जन्तु रक्ताणुओं और रक्त के तरल भाग में रहते हैं। इस रोग के लिए कुइनीन अमृत समान है। यदि निदान ठीक है तो इस औषधि के प्रयोग से यह ज्वर अवश्य दूर हो जायगा। कुइनीन के सेवन से जतु मर जाते हैं और फिर रक्त में दिखाई नहीं देते। आतशक या फिरंग रोग का भी यही हाल है, पारे के यौगिक वा सालवर्सान नामक औषधि जो संखिया का यौगिक है इस रोग में अत्यन्त उपयोगी हैं।

* ऐसी औषधि को "अमोघौषध" कहते हैं

एक प्रकार के आमातिसार के लिये जिसका कारण एक विशेष जाति का अमीबा होता है इमेटीन नामक औषध तीर का सा काम देती है। कालाअज़ार ज्वर के लिये अभी हाल में ऐन्टीमनी टार्टूट नामक औषध मालूम हुई है। इस प्रकार सब रोगों के लिए अभी तक औषधियां मालूम नहीं हुई हैं, परन्तु आशा है कि धीरे धीरे उपयोगी औषधियां मिलेंगी।

रोगनाशक शक्ति वा रोग से मुक्ति(रोगाक्षमता)

रोग उत्पादक जंतुओं और उनके विषों को नष्ट करके रोग से छूट जाने की शक्ति को रोग नाशक शक्ति कहते हैं। यह शक्ति सब मनुष्यों में एक जैसी नहीं होती। किसी मनुष्य में अधिक होती है किसी में बहुत कम। इस बात के प्रमाण प्रति दिन मिलते हैं। कुछ मनुष्यों को जुक़ाम होता है और वे शीघ्र अच्छे हो जाते हैं, ज़्यादा दुःख नहीं भोगते। दूसरी ओर ऐसे भी बहुत से मनुष्य होते हैं जिनका जुक़ाम बहुत दिनों में अच्छा होता है, जुक़ाम से खांसी हो जाती है और कभी कभी फुप्फुस प्रदाह या क्षय रोग भी हो जाते हैं। टायफ़ौयड् रोग से बहुत से लोग अच्छे हो जाते हैं, कुछ लोग जंतुओं का सामना भली प्रकार नहीं कर सकते और अनेक प्रकार के प्रयत्न करने पर भी मर जाते है, ऐसा ही और रोगों का भी हाल है।

जब रोगी अपनी रोगनाशक शक्ति के प्रभाव से रोग से छूट जाता है तो कहा जाता है कि वह उस रोग से मुक्त (**रोगाक्षम**) हो गया या उसको उस रोग से मुक्ति (रोगाक्षमता) मिल गई।

बहुधा यह देखा जाता है कि यदि रोगी किसी रोग से एक बार मुक्त हो जाय तो वह रोग बहुत दिनों तक उस मनुष्य को फिर नहीं होता। टायफ़ौयड् ज्वर आमतौर से दूसरी बार नहीं आता। चेचक एक बार निकलकर दूसरी बार बहुत ही कम निकलती है। इस बात का एक कारण यह है कि रोगनाशक वस्तुएँ अधिक परिमाण में बन जाती हैं, जिनकी वजह से रोग उत्पादक जन्तु शरीर में घुसकर पनपने नहीं पाते और शीघ्र ही मर जाते हैं।

किसी रोग से मुक्ति बहुत दिनों तक (कभी कभी उमर भर के लिए जैसे चेचक से) रहती है, किसी से थोड़े दिनों तक; ऐसे मनुष्य भी होते हैं जिनको कोई कोई रोग होते ही नहीं, चाहे इन रोगों के जंतु उनके शरीर में हर रोज़ प्रवेश करते हों; कई जातियां ऐसी हैं जिनको कोई कोई रोग होते ही नहीं, चाहे इस रोग के जंतु कितने ही ज़हरीले क्यों न हों। इससे स्पष्ट है कि इन मनुष्यों या जातियों को विशेष रोगाक्षमता स्वाभाविक तौर से मिली हुई है।

कई साधनों से रोगनाशक वस्तुएँ शरीर में पैदा की जा सकती हैं; यदि ये वस्तुएँ उचित परिमाण में बन जावें तो उस मनुष्य को थोड़े बहुत दिनों के लिए विशेष रोगाक्षमता मिल जाती है। चेचक के टीके से आमतौर से १० या ११ वर्ष के लिए चेचक संबन्धी रोगाक्षमता मिल जाती है। यदि एक बार बचपन में टीका लगवाकर दूसरी बार ११ या १२ वर्ष की आयु में टीका लगवा लिया जावे तो चेचक से उमर भर के लिए छुट्टी मिल जाती है। आजकल भारतवर्ष में आमतौर से चेचक बड़ी उमर में निकलती है, बचपन में नहीं

निकलती। कारण यही है कि बचपन का टीका उस व्यक्ति को दस बारह वर्ष तक तो अच्छी तरह से बचा सकता है; इसके पश्चात् उसका असर कम होने लगता है। भारतवर्ष में टीके के रिवाज से पहले चेचक बहुधा बचपन में ही निकला करती थी; अब भी जिन लोगों में किसी कारण बचपन में टीका नहीं लगता उनके बच्चों को अकसर चेचक निकल आती है।

जिस प्रकार चेचक का टीका चेचक से बचाता है, उसी प्रकार टायफ़ौयड् और प्लेग के (ताऊन) टीके भी इन रोगों से हमारी रक्षा करते हैं। केवल भेद इतना है कि इनका असर बहुत दिनों तक नहीं रहता; ताऊन के टीके का असर पूरे तौर से तो तीन या चार महीने तक ही रहता है, फिर बहुत कम हो जाता है।

इन टीकों से इतना अवश्य होता है कि यदि रोग होता भी है तो वह बहुत ज़ोर नहीं पकड़ता। चेचक के टीके के लगने के बाद यदि चेचक निकले तो वह हलकी निकलती है और अन्धे काने होने का डर कम रहता है। कीटाणुनाशक वा कीटाणु विषनाशक वस्तुएँ शरीर में उस समय अधिक बनती हैं जब रोग होता है, परन्तु कुछ रोगों के लिए थोड़े से परिमाण में ये वस्तुएं बहुत से लोगों के शरीरों में रहाही करती है। मनुष्य का स्वास्थ्य वास्तव में उसकी रोग नाशक शक्ति पर ही निर्भर है। जिसके शरीर में यह शक्ति अधिक है उसका स्वास्थ्य अच्छा होता है, ऐसे मनुष्य को अव्वल तो रोग होते नहीं और जब होते हैं तो वह उनसे शीघ्र छूट जाता है। जिन मनुष्यों में यह शक्ति कम है वे अकसर रोगों में फंसे रहते हैं और ये रोग शीघ्र अच्छे नहीं होते।

रंज और फ़िकर, अधिक शारीरिक वा मानसिक परिश्रम, भोजन का ठीक समय पर न मिलना या कम मिलना, अधिक भोजन खाना जो भली प्रकार पच न सके और आंतों में सड़कर भांति भांति के विषैले पदार्थ उत्पन्न करे जिनसे शारीरिक सेलों को अत्यंत हानि पहुंचे, बाल विवाह जिससे निर्बल सन्तान उत्पन्न होती है और पुरुष वा स्त्री दोनों कम ज़ोर हो जाते हैं; अधिक मैथुन और भांति भांति की बुरी क्रियाओं से वीर्य का नष्ट करना; शुद्ध और पवित्र वायु का सेवन न करना, बंद कमरे में मुंह ढाँककर सोना, गन्दे मकानों में रहना जहां वायु और सूर्य का प्रकाश भली प्रकार न पहुंचे; भंग, शराब तम्बाकू अफ़ीम इत्यादि नशों का करना; अधिक मानसिक परिश्रम के पश्चात् अधिक शारीरिक परिश्रम करना,—ये और अन्य ऐसी ऐसी बातें हमारी रोग-नाशक शक्ति को घटाकर हमारे स्वास्थ्य को बिगाड़ती हैं।

सौरभ चिकित्सा

हम पीछे लिख आये हैं कि कीटाणुओं से उत्पन्न होने वाले रोगों के लिए ऐसी औषधियां नहीं हैं कि जो शरीर में पहुंच कर शारीरिक सेलों को किसी प्रकार की हानि पहुंचाए बिना कीटाणुओं को मार डालें, और रोग को हटा दे या कम कर दें। हाल में ही ऐसे रोगों की चिकित्सा करने की एक नई विधि मालूम हुई है। इस चिकित्सा का वर्णन करने से पहले हम ये दो बातें बतलाना आवश्यक समझते हैं:—

१ कीटाणु रोग तब ही उत्पन्न कर सकते है कि जब वे बड़ी तादाद में शरीर में पहुंचें, यदि वे निर्बल हैं और

उनकी संख्या भी अधिक नही है तो शरीर की सेलें उनको बढ़ने का अवसर ही नहीं देती और शीघ्र उनका और उनके विषों का नाश कर देती हैं।

२ कोई वस्तु विष का काम उसी समय कर सकती है, कि जब उसका बड़ी मात्रा में सेवन किया जावे। संखिया विष है, परन्तु उसकी बहुत छोटी छोटी मात्राएं विषैला असर नहीं रखतीं अर्थात् शरीर को न किसी प्रकार की हानि पहुंचाती है और न मृत्यु का कारण होती हैं, प्रत्युत नन्हीं नन्ही मात्राएं शरीर को पुष्ट बनाती हैं। यदि विष की मात्रा धीरे धीरे बढ़ाई जावे तो शरीर की सेलें बड़ी मात्रा को भी सहने लगती हैं, यहां तक कि कुछ समय पीछे वह मनुष्य संखिया की इतनी बड़ी मात्रा का भी सेवन कर सकता है, जो और मनुष्यों को अवश्य हानि पहुंचाए। जो बात संखिया के सम्बन्ध में कही है वह कीटाणुओं के विषों के सम्बन्ध में भी घटती है। यदि किसी व्यक्ति के शरीर में ये विष बहुत थोड़ी मात्रा में पहुंचाए जावें तो इस विष का उस व्यक्ति पर ज़हरीला असर न होगा। यदि थोड़े थोड़े दिनों के अन्तर से यह मात्रा बढ़ाई जावे तो वह व्यक्ति इतनी बड़ी मात्रा को भी सह सकेगा कि जो यदि एक बारगी दी जाती तो उस को तुरंत मार डालती। यह बात परीक्षाओं से सिद्ध हो गई है।

अब हम बतलाते हैं कि कीटाणुनाशक या कीटाणुविषनाशक वस्तुएं किस प्रकार बनाई जाती हैः—

कीटाणुओं को शरीर से बाहर उपजाने के लिए अनेक प्रकार के भोजन बनाये गये हैं जिन को खाकर वे न केवल जीवित रहते हैं प्रत्युत खूब बढ़ते भी हैं। ज्यों ज्यों उनकी

संख्या अधिक होती है वे विष बनाते हैं, जो उस भोजन में घुल जाते हैं। यंत्रो द्वारा विष और कीटाणु एक दूसरे से अलग किये जा सकते हैं। कई बार परीक्षा कर के यह मालूम कर लिया जाता है कि इस विष की कितनी मात्रा किसी विशेष व्यक्ति की मृत्यु का कारण हो सकती है। जो मात्रा मनुष्य को मार सकती है वह एक बड़े घोड़े को न मार सकेगी, क्योंकि घोड़े का शरीर मनुष्य के शरीर से बड़ा होता है। इसी प्रकार जिस मात्रा से एक मनुष्य मरता है उससे कई कुत्ते या ख़रगोश मर सकेंगे। जो मात्रा एक व्यक्ति को मार सकती है वह उस विशेष व्यक्ति के लिए **विनाशशील मात्रा** कहलाती है; इस मात्रा से कम को **अविनाशशील मात्रा** कहते हैं। यदि हम किसी विष की एक छोटी अविनाशशील मात्रा किसी जानवर के (जैसे घोड़ा) शरीर में पहुंचा दें तो उस व्यक्ति को अधिक हानि न पहुचेगी। शरीर मे पहुंचने पर इस विष को नाश करने वाली वस्तुएं बनने लगेंगी। धीरे धीरे यह मात्रा बढ़ाई जाती है, कुछ समय पश्चात् यह मालूम होगा कि घोड़ा न केवल एक विनाशशील मात्रा को सह सकता है प्रत्युत उससे भी अधिक मात्रा उसको कोई हानि नहीं पहुंचा सकती। जब देखते हैं कि घोड़ा अब विनाशशील मात्रा से सैकड़ों गुनी बड़ी मात्रा को भी सह सकता है तो विष देना बंद कर देते हैं। अब घोड़े के रक्त में उस विशेष विष को नाश करने वाली वस्तुएं अधिक परिमाण में हैं और ये वस्तुएं उस के शरीर से इस प्रकार निकाली जा सकती हैं:— घोड़े की कोई बड़ी शिरा काटी जाती है और जितने रक्त की आवश्यकता होती है उतना

एक शुद्ध वरतन में इकट्ठा कर लेते हैं और फिर कटी हुई शिरा के सिरों को बांध देते हैं जिससे और रक्त न बहे। थोड़ी देर में रक्त जम जाता है। छिछड़े को जलीय भाग या सीरम से अलग कर लेते हैं इस सीरम में उस विशेष विष को नाश करने वाली वस्तुएं हैं। इस बात के दो बड़े प्रमाण हैं :—

(१) यदि हम किसी व्यक्ति के शरीर में इस विशेष विष और इस सीरम का मिश्रण पहुंचा दें तो वह व्यक्ति न मरेगा।

(२) यदि किसी व्यक्ति को वह विशेश रोग हो और इस सीरम की कुछ मात्रा उसके शरीर में पहुंचा दे तो वह व्यक्ति अच्छा होने लगता है।

अब इस सीरम को **विषनाशक सीरम** कहते हैं।

अभी तक तीन चार रोगों के लिए ही उपयोगी सीरम बने हैं, आशा है कि कुछ और रोगों के लिए विषनाशक सीरम बनेंगे।

डिफ़थीरिया—यह शीत प्रधान देशों का एक भयानक रोग है। इसमें नासिका, कंठ और स्वरयंत्र का प्रदाह (वरम) हो जाता है, यदि रोग ज़ोर पकड़े तो स्वांस लेने का रास्ता बंद हो जाता है और रोगी की मृत्यु हो जाती है। कोई औषधि ऐसी नही जो इस रोग को कम कर सके, परन्तु हाल में डिफथीरिया-विषनाशक सीरम बनाया गया है। रोगी के शरीर में पिचकारी द्वारा इस सीरम को पहुंचाने से रोग तुरंत अच्छा होने लगता है।

सर्प-विषनाशक-सीरम भी बनाया गया है। यह सीरम सरकारी शफ़ाख़ानों में रक्खा जाता है।

सीरम से रोगों का इलाज करने को **सीरम चिकित्सा** कहते हैं।

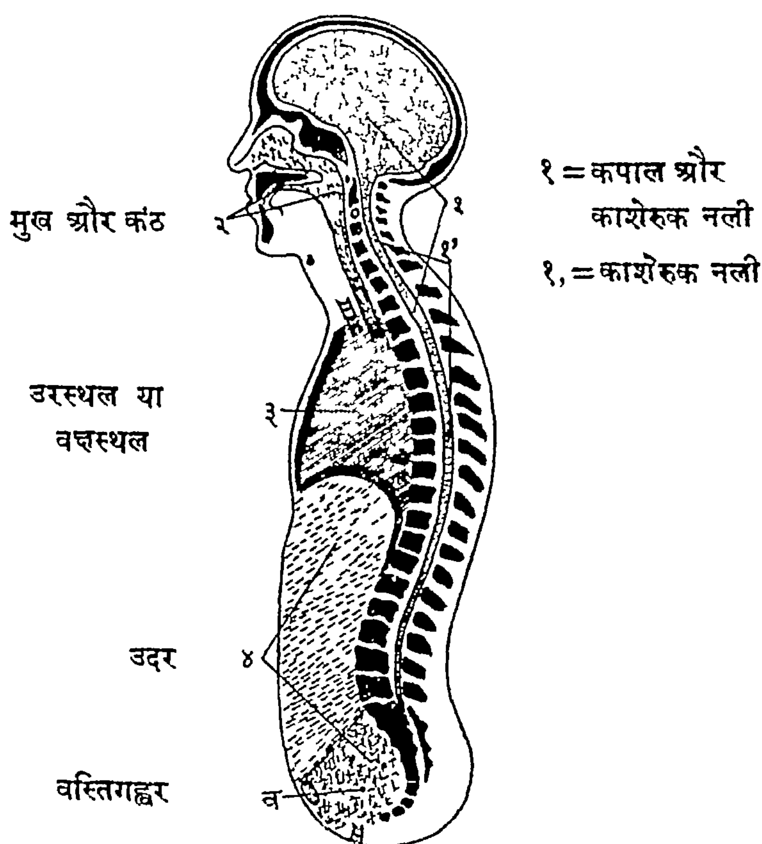
विशेष साधनों से कीटाणुनाशक सीरम भी बनाए जाते हैं।

अध्याय २०

वात संस्थान या नाड़ी* मंडल

अध्याय ४ में हम लिख आये हैं कि कपाल आठ अस्थियों से निर्मित एक कोष्ठ है। इस कोष्ठ के भीतर जो अंग रहता

चित्र ३१ शरीर के कोष्ठ

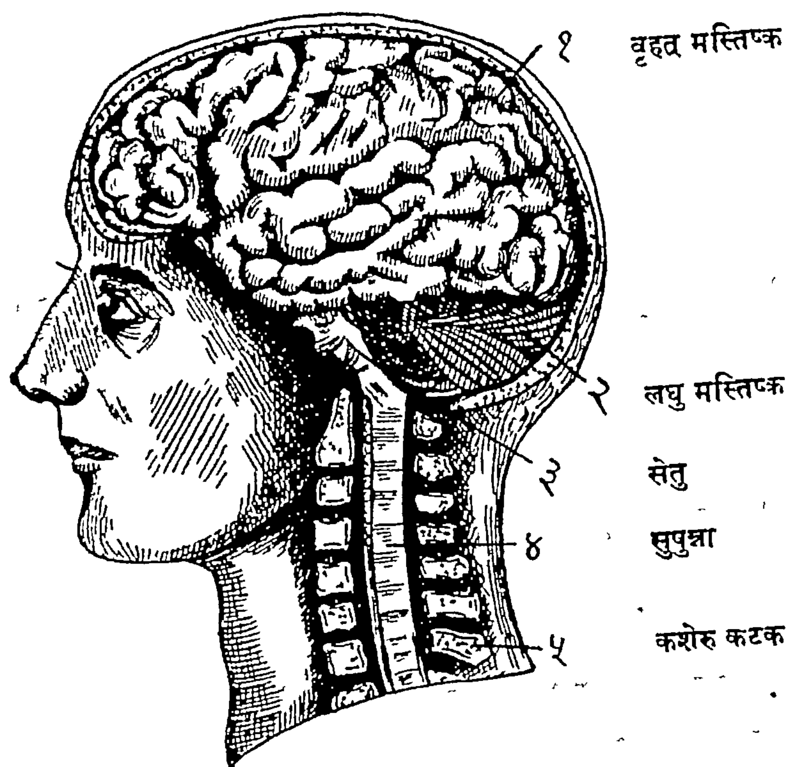


*इस पुस्तक में वात और नाडी शब्दों का एक ही अर्थ माना गया है दोनो शब्द अंगरेजी भाषाके नर्व या नर्वस (Nerve or nervous) के तुल्यार्थ हैं।

है उसको **मस्तिष्क** कहते हैं। कपाल की तली के पिछले भाग में एक बड़ा छिद्र (महा छिद्र) होता है ; काशेरुक नली इस स्थान पर कपाल के कोष्ट से मिली रहती है (देखो चित्र ३१)।

काशेरुक नली में जो अंग रहता है उस को **सुषुम्ना** कहते हैं ; सुषुम्ना मस्तिष्क के नीचे के भाग से आरंभ होती है (देखो चित्र ३२)

चित्र ३२ मस्तिष्क और सुषुम्ना



अध्याय २ में बाहु की स्थूल रचना का वर्णन करते हुए हम बतला चुके हैं कि मांस तथा वसा में जाते हुए कुछ श्वेत सूत्र वा रज्जुएं जो काटने पर भीतर से ठोस मालूम होती हैं पाई जाती हैं। ये बात सूत्र और वात रज्जुएं या नाड़ियां हैं ; इनका मस्तिष्क और सुषुम्ना से सम्बन्ध होता है।

ग्रीवा, वक्ष और उदर में पृष्ठवंश के इधर उधर या उस के सामने पिंगल वर्ण की छोटी छोटी गांठों के सदृश चीज़ें रहती हैं ; ये एक दूसरे से सूत्रों की डोरी द्वारा संबंध रखती हैं। ये वात या **नाड़ी गंड** हैं और वात संस्थान के भाग हैं।

इस प्रकार वात संस्थान (नाड़ी मंडल) में ये चीज़ें होती हैः—

१. मस्तिष्क जो कपाल में रहता है ।

२. सुषुम्ना जो काशेरुक नली में रहती है।

३. मस्तिष्क तथा सुषुम्ना से निकली हुई नाड़ियां जिनकी शाखाएं समस्त शरीर में फैली हुई हैं।

४. वात गंड जो ग्रीवा, वक्ष, और उदर में रहती है।

व्यवच्छेदक समस्त वात मंडल के दो भाग मान लिया करते हैः—

१. **मध्यस्थ वात मंडल**—इस में वात मंडल के वे अंग हैं जो शरीर के मध्य भाग में रहते है— मस्तिष्क और सुषुम्ना।

२. **प्रान्तस्थ वात मंडल**—इस में वात मंडल के शेष भाग हैं जो शरीर के विविध भागों में रहते हैं नाड़ियां और वात गंड।

इस संस्थान के अंगों द्वारा हम विचार करते है; वे बुद्धि के स्थान हैं; उन्ही के द्वारा हम को सुख, दुःख, गरमी, सर्दी का ज्ञान होता है; उन्ही की सहायता से हम को प्रकाश, घ्राण, शब्द और रस का बोध होता है। ये अंग शरीर के शेष अंगो को अपने अधिकार में रखते है और उनकी निगरानी करते हैं। वात संस्थान को शरीर की राजधानी का राजा समझना चाहिये।

मस्तिष्क

मस्तिष्क कुछ कुछ अंडाकार होता है। उसका पिछला भाग अगले भाग की अपेक्षा अधिक चौड़ा और मोटा होता है। उस की लम्बाई (सामने से पीछे तक का माप) ६–६$\frac{१}{२}$ इंच होती है; चौडाई (एक कान से दूसरे कान तक) ५$\frac{१}{२}$ इंच और मोटाई (ऊपर से नीचे तक) कोई ५ इंच के लगभग होती है। १५ से ४९ वर्ष की आयु में मस्तिष्क का भार पुरुषों में २२ छटांक और स्त्रियों में २० छटांक के लगभग होता है।

जवान मनुष्य के मस्तिष्क का भार कुल शरीर के भार का $\frac{१}{४०}$ वें अंश के लगभग होता है। नवजात बालक के मस्तिष्का का भार कोई ७ छटांक होता है; पहिले वर्ष के अंत में यह दुगना हो जाता है; छठे वर्ष में तिगुना, १८ वे वर्ष में क़रीब क़रीब उतना हो जाता है जितना जवानी में होता है। (२०–२२ छटांक)। मस्तिष्क का गुरुत्व १०३६ होता है। मस्तिष्क के दो बड़े भाग हैं:—

१ वह भाग जो मस्तिष्क को ऊपर से देखने से दिखाई देता है। यह **बृहत् मस्तिष्क** है (चित्र ३३; चित्र ३२में १)।

२. वह भाग जो मस्तिष्क की तली को देखने से दिखाई देता है। यह वृहत् मस्तिष्क के पिछले भाग के नीचे रहता है और लघु या अणु **मस्तिष्क** कहलाता है (चित्र ३२ में २ ; चित्र ३४ में अ)।

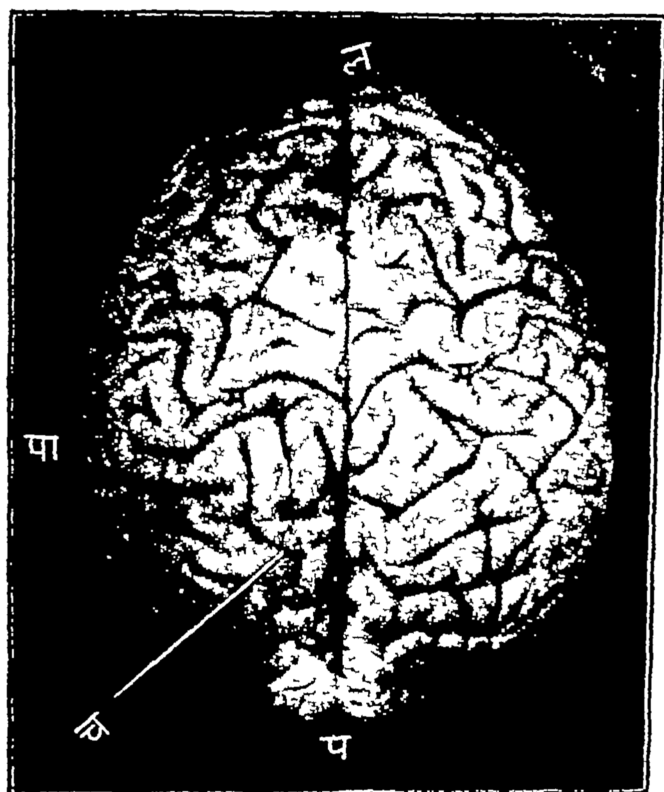
वृहत् मस्तिष्क (चित्र ३२, ३३, ३४, ३५)

कुल मस्तिष्क के भार का ८७ ५% भाग वृहत् मस्तिष्क से बनता है। इस का रंग बाहर से धूसर होता है। उसके पृष्ठों पर खाइयां पड़ी रहती हैं जिन के कारण कहीं उभार और कहीं गहराई दिखाई देती हैं। जिस प्रकार हल चलाने से खेत में नालियां बन जाती हैं जिन के बीच में मिट्टी की उभरी हुई मेंढें रहती हैं उसी प्रकार वृहत् मस्तिष्क के पृष्ठों पर बहुत सी गहराइयां या नालियां होती हैं और इनके बीच में मस्तिष्क का भाग उभरा रहता है। मस्तिष्क की खाइ को **सीता** और दो सीताओं के बीच में रहने वाले उभरे हुए भाग को **चक्राङ्ग** कहते हैं (ये उभार टेढ़े मेढ़े होते हैं जैसा कि चित्र ३३ से विदित होता है)। मस्तिष्क के भार का तो बुद्धि से अधिक सम्बन्ध नहीं है परन्तु इन सीताओं की गहराई का बुद्धि से बड़ा सम्बन्ध है; बुद्धिमानों में ये मूर्खों तथा पागलों की अपेक्षा अधिक गहरी होती हैं।

वृहत् मस्तिष्क के दो टुकड़े होते हैं, इन दोनों के बीच में एक दरार या अंतर रहता है। यह अतर वृहत् मस्तिष्क को ऊपर से देखने से दिखाई देता है (चित्र ३३ में द)। अंतर के इधर उधर वृहत् मस्तिष्क के जो भाग हैं वे दाहिने और बाएं **गोलार्ध** कहलाते हैं। यदि ये दोनों गोलार्ध एक

चित्र ३३ वृहत्मस्तिष्क

बायां गोलार्द्ध



दाहिना गोलार्द्ध

दूसरे से अलग हटाये जावें तो इस अंतर की तली में इन दोनों गोलार्धों को जोड़ती हुई एक चौड़ी श्वेत चीज़ दिखाई देगी; इस चीज़ का नाम **महा संयोजक** है (चित्र ३५ में प ग ज कटा हुआ महा संयोजक है)।

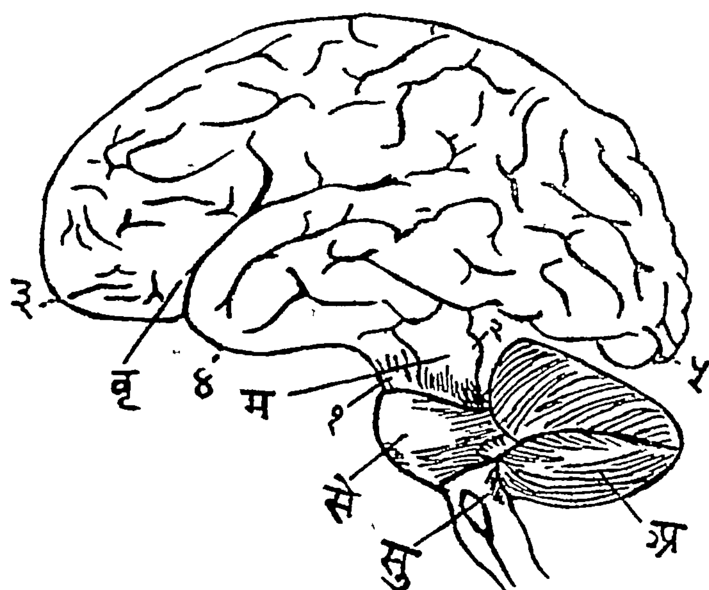
प्रत्येक गोलार्ध के तीन सिरे या **ध्रुव** हैं— एक अगला या **ललाट ध्रुव** जो ललाटास्थि के पास रहता है (चित्र ३३ में ल, चित्र ३४ में ३); दूसरा **शंखध्रुव** जो शंखास्थि के पास रहता है (चित्र ३४ में ४); तीसरा **पाश्चात्य ध्रुव** कहलाता है, यह पीछे पश्चात् अस्थि पर रहता है (चित्र ३३ में प; चित्र ३४ में ५)। इनमें से पाश्चात्य ध्रुव कुछ नोकीला होता है; ललाट ध्रुव सब से मोटा और चौड़ा।

प्रत्येक गोलार्ध के तीन पृष्ठ होते हैं-एक जो बाहर से दिखाई देता है (चित्र ३२, ३३, ३४ और ५२) यह **बहिः पृष्ठ** है; दूसरा जो नीचे रहता है-**अधो पृष्ठ**, तीसरा पृष्ठ मध्य रेखा की ओर रहता है और **मध्य पृष्ठ** कहलाता है, दोनों गोलार्धों के मध्य पृष्ठ एक दूसरे के सन्मुख रहते हैं (चित्र ३५) इन पृष्ठों में से बहिः पृष्ठ सब से बड़ा और उन्नतोदर होता है; मध्य पृष्ठ कुछ कुछ सपाट होता है; अधो पृष्ठ का पिछला भाग कुछ नतोदर होता है और लघु मस्तिष्क के गोलार्ध पर रक्खा रहता है (देखो चित्र ३२)

वृहत् मस्तिष्क के खंड

जिस प्रकार भूगोलज्ञ किसी बड़े देश के बहुत से प्रांत या खंड बना लिया करते हैं और इन प्रांतों या खंडों की

चित्र ३४



व्याख्या —

इस चित्र में मस्तिष्क के भाग अलग अलग करके दिखाये गये हैं। वृ = वृहत् मस्तिष्क, अ = अणु या लघु मस्तिष्क, से = सेतु, सु = सुषुम्ना शीर्षक, म = मध्य मस्तिष्क १ = मस्तिष्क स्तभ २ = चतुष्पिण्ड ३ = ललाट ध्रुव ४ = शख ध्रुव ५ = पाश्चात्य ध्रुव।

सीमाएं पहाड़ों, नदियों या विशेष रेखाओं से बनी हुई मान लेते हैं, उसी प्रकार व्यवच्छेदक वृहत् मस्तिष्क को कई सीताओं और कल्पित रेखाओं द्वारा कई खंडों में विभक्त मान लेते हैं। खंड़ों और सीताओं तथा चक्रांगोंका विस्तीर्ण वर्णन पढ़ने के लिये वड़े ग्रन्थ देखने चाहिये। वृहत् मस्तिष्क के वहिः पृष्ठ के मध्य में (ठीक मध्य तो नहीं है परन्तु इसको ऐसा मानने में कोई हानि नही) ऊपर से नीचे को जाती हुई एक गहरी सीता रहती है [चित्र ३३ में म; चित्र ५२ मे ग और स के वीचमें*] यह

माध्यमिक सीता कहलाती है। इसी पृष्ठ पर शंख ध्रुव के ऊपर एक लम्बी क्षितिज सीता पीछे की ओर जाती है (चित्र ५२ में × गुणन चिह्न वाली सीता); इस सीता का आरम्भ अधो पृष्ठ पर होता है, इस को **पार्श्विक सीता** कहते हैं। माध्यमिक सीता के सामने और पार्श्विक सीता के ऊपर जो भाग है उस को **ललाट खंड** कहते हैं। पार्श्विक सीता के नीचे **शंख खंड** है। माध्यमिक सीता के पीछे पाश्चात्य ध्रुव तक जो भाग है उस के दो खंड माने जाते हैं-माध्यमिक सीता के पास का भाग **पार्श्विक खंड** और पाश्चात्य ध्रुव के समीप का भाग **पाश्चात्य खंड**। ललाट, पार्श्विक, शंख और पाश्चात्य खडों के शेष भाग मध्य और अधो पृष्ठों पर दिखाई देते हैं। चित्र ३५ मे १ पाश्चात्य खड का, २ पार्श्विक खड का, ३ और ४ ललाट खड के भाग है, ५ एक पृथक खंड है । इनके अतिरिक्त एक दो और खड भी माने जाते हैं।

वृहत् मस्तिष्क की स्थूल रचना

वृहत् मस्तिष्क का रंग बाहर से धूसर होता है परन्तु जैसा वह बाहर से दिखाई देता है वैसा भीतर से नही होता। यदि हम चाकू से उसे काटें तो वह भीतर से श्वेत दिखाई देगा। धूसर भाग श्वेत भाग के चारों ओर इस प्रकार लगा है जैसे कि किसी फल में गूदे के ऊपर छिलका (चित्र ४५)। बहिःस्थ धूसर भाग वात सेलों से बनता है और भीतर का श्वेत भाग वात सूत्रों से। वहिःस्थ धूसर भाग को **वल्क** कहते हैं। वल्क की मोटाई बुद्धिमानों में मूर्खों की अपेक्षा अधिक होती

चित्र ३५ मस्तिष्क का मध्य पृष्ठ

१ = पाश्चात्य खड का मध्य पृष्ठगत भाग ।

२=पार्श्विक खड का मध्य पृष्ठगत भाग

३=श्रौर ४=ललाट खड के भाग

५=उपसयोजक खड

प=महा सयोजक का पिछला भाग

ग=महा सयोजक का गात्र

ज=महा सयोजक का मुडा हुश्रा भाग या जानु

श्र=यवनिका या परदा । यह परदा वृहत् मस्तिष्क के कोष्ठों के बीच में रहता हैं।

ध=धनुष या धनुराकार पिंड

त=थेलेमस नामक धूसर पिंड

से=सेतु

सु=सुषुम्ना शीर्षक

स=सुषुम्ना

ल=लघुमस्तिष्क

द=दृष्टि नाडी (कटी हुई)

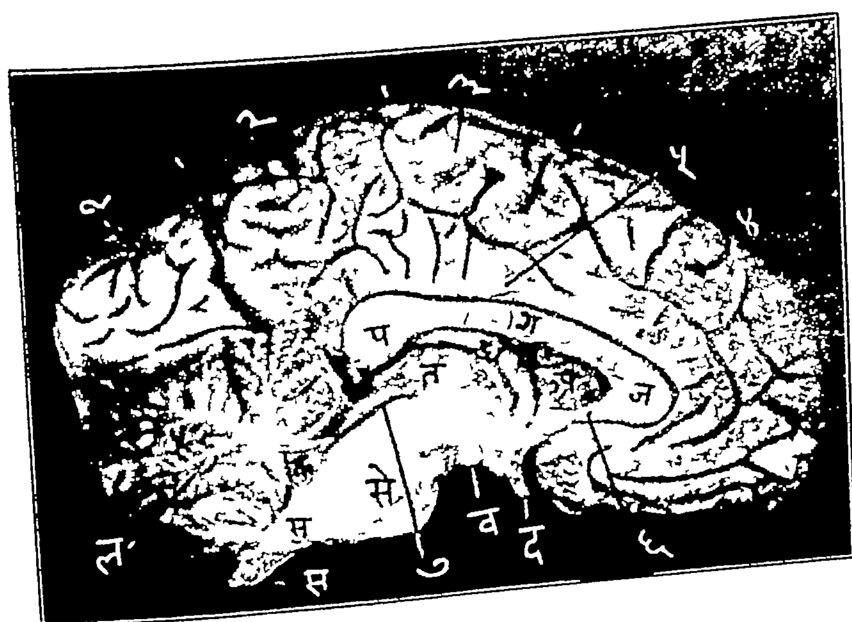
क=मस्तिष्क का चौथा कोष्ठ

६=महा सयोजक की नासा

७=सुरग जिसके द्वारा मस्तिष्क का चौथा कोष्ठ तीसरे कोष्ठ से मिला रहता है

व=वृन्त पिंड

चित्र ३५ मस्तिष्क (मध्य पृष्ठ)



है ; साधारणतः उस की मोटाई $\frac{१}{८}$ इंच से $\frac{१}{६}$ इंच के लगभग होती है।

प्रत्येक गोलार्ध भीतर से खोखला होता है, इस प्रकार वृहत् मस्तिष्क में दो कोष्ठ होते हैं एक दाहिना दूसरा बायां। ये कोष्ठ टेढ़े तिर्छे होते हैं ; दोनों के बीच में मध्यरेखा में एक परदा लगा रहता है (चित्र ३५ में अ)। दोनों कोष्ठों में ज़रा सा तरल रहा करता है। कुछ रोगों में यह तरल अधिक बनता है; इस अधिक तरल के दबाव से कोष्ठ फैलकर बड़े हो जाते हैं। इस तरल से मस्तिष्क भी बड़ा हो जाता है परन्तु उस को अत्यंत हानि पहुंचती है। ऐसे रोगी महा मूढ़ और पागल होते हैं या हो जाते हैं।

लघु मस्तिष्क (चित्र ३२, ३५, ४६, ४८,)

यह वृहत् मस्तिष्क से बहुत छोटा होता है। उस का आकार एक पिचके हुए गोले से बहुत कुछ मिलता है (वास्तव में लघुमस्तिष्क दीर्घगोलाभाकार होता है)। लघुमस्तिष्क की चौड़ाई (दाहिनी ओर से बाईं ओर तक का माप) ४ इंच और मोटाई (ऊपर के पृष्ठ से नीचे के पृष्ठ तक) १ इंच होती है। अगले और पिछले किनारों के बीच में उस की मोटाई मध्यरेखा में १ $\frac{१}{२}$ इंच और मध्यरेखा से हटकर २ इंच के लगभग होती है। उस का भार २ या २$\frac{१}{२}$ छटांक के लगभग होता है। नीचे का पृष्ठ बीच में तो दबा रहता है परन्तु शेष भाग उभरा हुआ (उन्नतोदर) होता है; ऊपर का पृष्ठ बीच में शेष भाग की अपेक्षा उभरा हुआ होता है।

लघुमस्तिष्क के तीन भाग माने जाते हैं। बीच के भाग को जो ऊपर उभरा हुआ और नीचे दबा हुआ होता है **मध्यांश** कहते हैं; मध्यांश के इधर उधर के बड़े भाग लघुमस्तिष्क के **गोलार्ध** कहलाते हैं।

लघुमस्तिष्क वृहत् मस्तिष्क के नीचे रहता है;(चित्र ३७,४८) यदि मस्तिष्क को ऊपर से देखें तो दिखाई न देगा। उस के पृष्ठ पर भी खाइयां होती हैं जो वृहत् मस्तिष्क की खाइयों (सीताओं) से कुछ भिन्न प्रकार की होती हैं। लघुमस्तिष्क की सीताएं वृहत् मस्तिष्क की सीताओं से अधिक गहरी होती हैं और पास पास और अधिक तर समांतर रहती हैं। सीताओं के गहरे और बहुत पास पास और समांतर होने के कारण लघुमस्तिष्क में **पत्रों** के समान पतले पतले भाग दिखाई देते हैं। हर एक पत्र के ऊपर भी छोटी छोटी खाइयां होती हैं (चित्र ३५ में ल)।

वृहत् मस्तिष्क की भांति लघुमस्तिष्क में भी बाहर धूसर भाग होता है और भीतर श्वेत। हर एक पत्र या दल के भीतर एक पतली तह श्वेत भाग की होती है (चित्र ३५ में ल) जिस के ऊपर धूसर भाग चढ़ा रहता है। धूसर भाग सेलों से और श्वेत भाग सूत्रों से बनता है।

मस्तिष्क के और भाग

यदि हम मस्तिष्क की तलों (अधो भाग, चित्र ४८) को देखें तो वृहत् मस्तिष्क और लघु मस्तिष्क के अतिरिक्त और कई छोटे छोटे भाग दिखाई देंगेः—

१ लघु मस्तिष्क के सामने महराब की तरह मुड़ा हुआ श्वेत रंग का जो भाग है उस को **सेतु** कहते हैं (चित्र ३५ में से

चित्र ३७ में १६, चित्र ४८ में स)। सेतु अधिकतर वात सूत्रों से बनता है। वृहत् मस्तिष्क, लघुमस्तिष्क और सुषुम्ना—इन तीनों अंगों को एक जगह से दूसरी जगह जाने वाले सूत्र सेतु में ही से होकर गुज़रते हैं।

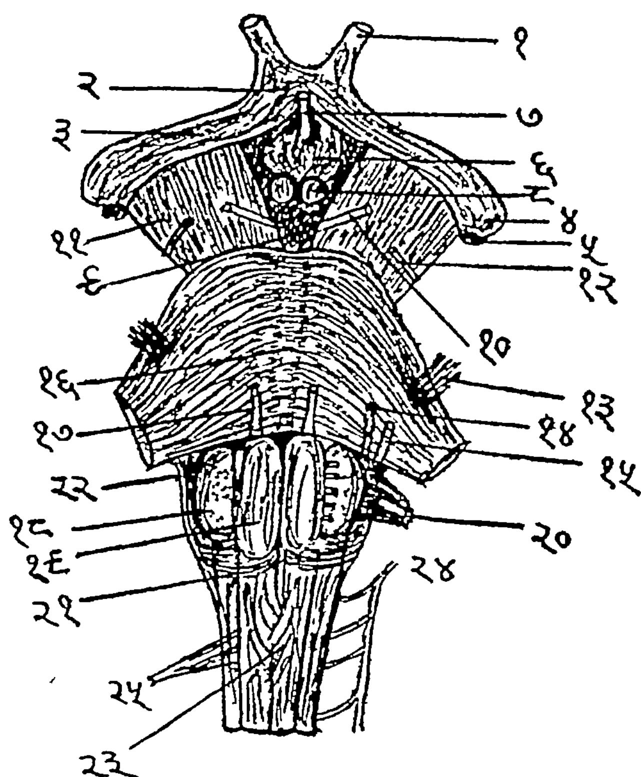
२ सेतु के सामने श्वेत रंग के दो दंडे दिखाई देते हैं (चित्र ३७ में ११, चित्र ४८ में ज)। सेतु से निकलकर इन में से एक वृहत् मस्तिष्क के दाहिने दूसरा बाएं गोलार्ध में घुस कर छिप जाता है (चित्र ४८)। ये दोनों दंडे वात सूत्रों के समूह हैं और **नाड़ी स्तंभ** या **मस्तिष्क स्तंभ** कहलाते हैं। जितने वात सूत्र नीचे से (सुषुम्ना और सेतु से) ऊपर को वृहत् मस्तिष्क में जाते हैं या जो ऊपर से नीचे को आते हैं वे इन्हीं स्तभों में होकर गुज़रते हैं।

३. स्तंभों के बीच में और सेतु के मध्य भाग के सामने मटर के सदृश दो पिंड होते हैं; ये **वृंताकार पिंड** (या वृत्तपिंड कहलाते हैं [चित्र ३७ में ८, चित्र ४८ में वृ]।

४. वृंताकार पिंडों के सामने एक कुछ कुछ अंडाकार पिंड रहता है। इस का नाम **हाइपोफिसिस** * है। यह एक परमावश्यक अंग है; यह एक खोखली डन्ठल द्वारा तीसरे कोष्ठ के फर्श से लगा रहता है (चित्र ४८ में ग; चित्र २६ में ७=इस अंग की डंठल)। जतूकास्थि के गात्र के ऊपर के पृष्ठ पर एक गहरा गड्हा होता है; यह अंग उसी गड्हे में रहता है (देखो चित्र ७२ और ७४)।

* अगरेजी भाषा का शब्द है, इस को पिच्युटरी बौडी (Pituitary body) भी कहते हैं।

चित्र ३६



व्याख्याः—

१. दृष्टि नाड़ी (कटी हुई) २. दृष्टि नाडी योजिका (दोनो नाडियां एक दूसरे से मिल जाती हैं, कुछ सूत्र एक ओर से दूसरी ओर चले जाते हैं)

३. दृष्टि पथ, ४,५=दो उभार जो दृष्टि पथ से सम्बन्ध रखते हैं ६. यह मस्तिष्क के तीसरे कोष्ठ का फर्श है ७. यह हाइपोफिसिस नामक पिंड की डंठल या नाल है जो भीतर से खोखली होती है

८. वृत्ताकार पिंड ९. छलनो (चालनी) जैसा भाग , यहा वहुत से नन्हे नन्हे छिद्र होते हैं जिनमें से होकर रक्त वाहिनिया भीतर घुसती हैं १० तृतीय नाडी ११. मास्तिष्क स्तंभ १२ चतुर्थी नाडी १३ पचमी नाड़ी १४ सप्तमी

नाडी १५ अष्टमी नाडी १६ सेतु १७ षष्ठी नाडी १८ बेर जैसा उभार १६ सूचि पिंड २० नवमी और दशमी नाडिया (ये चित्र में बाई ओर नही दिखाई गई) २१ वात सूत्र २२ यह भाग लघुमस्तिष्क से लगा रहता है। २३. सूत्र एक ओर से दूसरी ओर जा रहे हैं २४ एकादशी नाडी २५ प्रथम सौषुम्न नाडी।

५. हाइपोफिसिस के सामने **दृष्टिनाड़ो योजिका** है (चित्र ४८ में इस पर हाइपोफिसिस (ग) पडी हुई है; चित्र ३६ में २) ; यहां दोनों दृष्टि नाड़ियों के कुछ तार एक ओर से दूसरी ओर मध्यरेखा को पार कर के चले जाते हैं।

६ दृष्टि नाड़ी योजिका के सामने दरार है। इस दरार के इधर उधर एक खाई (सोता) में पड़े हुए मुद्गर जैसे भाग दिखाई देते हैं। इस भाग का अगला मोटा अंश (चित्र ४८ में घ) **घ्राणखंड** कहलाता है; शेष लम्बा और पतला भाग चित्र ४८ में घ') **घ्राणपथ** कहलाता है।

७ सेतु के पीछे और उस से लगा हुआ कपाल के भीतर रहनेवाला जो मस्तिष्क का भाग है (चित्र ४८ में सु ; चित्र ३५ में सु) उस को **सुषुम्ना शीर्षक** कहते हैं, इस अंग के नीचे के भाग से सुषुम्ना का आरंभ होता है। सुषुम्ना शीर्षक सेतु के पास अधिक मोटा और चौड़ा है और महाछिद्र के पास पतला। इस अंग की लम्बाई $१\frac{१}{४}$ इंच के लगभग होती है। सामने मध्यरेखा में इस में एक अंतर या खाई होती है; इस खाई के इधर उधर दो उभार होते है (चित्र ३६ में १६; चित्र ४८ में सु) ; इन उभारों के पास एक और खाई होती है जिसके पीछे छोटा सा बेर जैसा उभार और होता है (चित्र-

३६ में १८) ; पहले उभार और इस उभार के बीच में से द्वादशी नाडी निकलती है। दूसरे उभार के पीछे एक उभार और होता है (चित्र ३६ में १२)।

सेतु और सुषुम्नाशीर्षक के पीछे और लघुमस्तिष्क के सामने और नीचे जो कोष्ठ है उस को मस्तिष्क का चौथा कोष्ठ कहते है (चित्र ३५ में क, चित्र ४६ में ३), इस कोष्ठ का फर्श चौखुंटा होता है जैसा कि चित्र ३७ से विदित है।

मस्तिष्क के कुछ भाग इस प्रकार ढके रहते हैं कि वे विना उस को काटे भली प्रकार दिखाई नही देते।

८ स्तंभों के ऊपर वृहत् मस्तिष्क और महा संयोजक के पिछले भाग से ढके हुए चार गोल गोल उभार होते हैं ये **चतुष्पिण्ड** कहलाते हैं (चित्र ३७ में ४, ५)

९ चतुष्पिण्ड के सामने एक छोटा सा अंग रहता है (चित्र ३७ में २) जिस को **पीनियल*** पिंड कहते हैं। चतुष्पिण्ड और स्तंभों से मिलकर जो भाग वनता है उसको **मध्य मस्तिष्क** कहते हैं। मध्य मस्तिष्क में चतुष्पिण्ड के नीचे एक पतली नाली या सुरंग होती है ; इस नाली द्वारा मस्तिष्क के चौथे और तीसरे कोष्ठ एक दूसरे से मिले रहते है (चित्र ३५ में ७=नाली ; चित्र ४६ में ६)।

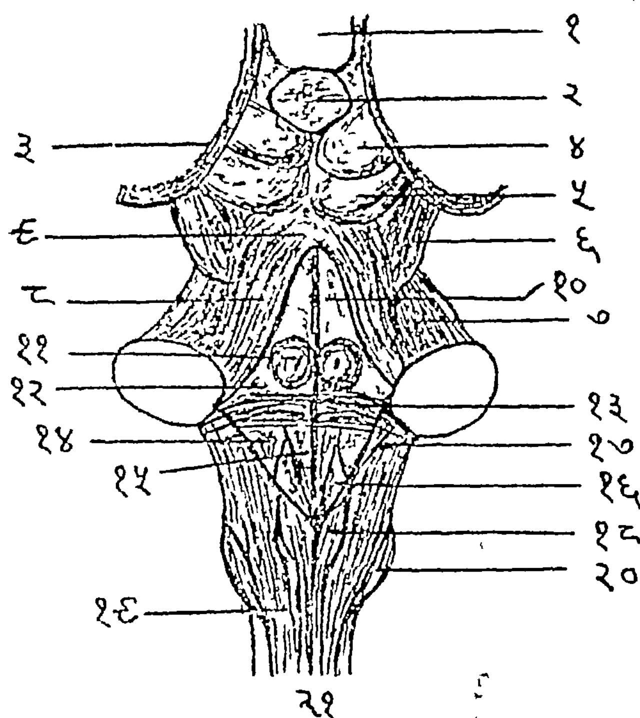
मस्तिष्क के शेप भाग उस को काट कर देखे जाते हैं। इनका वर्णन इस पुस्तक में नही किया जायगा।

सुषुम्ना (चित्र ३८, ३९, ४०, ४९, ५०)

यह वात संस्थान का वह भाग है जो कपाल के महा छिद्र से आरंभ होता है और कशेरुक नली में पहले कटीक-

* अंग्रेजी शब्द है।

चित्र ३७ चतुष्पिण्ड, सेतु और सुषुम्नाशीर्षक के पिछले भाग



१. मस्तिष्क का तीसरा कोष्ट २. पीनियल नामक पिंड ३. थैलेमस ४, ५ चतुष्पिण्ड ६ मस्तिष्क स्तभ ७ सेतुबाहु (सेतु लघुमस्तिष्क योजक) ८. लघुमस्तिष्क चतुष्पिण्ड योजक ९. छद् १० चौथे कोष्ट के फ़र्श का वह भाग जो सेतु मे बनता है ११ सप्तमी नाड़ी का उत्पत्ति स्थान १२, १४. श्रावण स्थान १५. द्वादशी नाडी का उत्पत्ति स्थान १७. सुषुम्नाशीर्षक लघुमस्तिष्क योजक, १८, १९, २० उभार जो सुषुम्नाशीर्षक के पिछले भाग में दिखाई देते हैं। २०. सुषुम्ना का आरभिक भाग।

शेरुका के गात्र के नीचे के किनारे तक या दूसरे कटीकशेरुका के गात्र के ऊपर के किनारे तक रहता है ; दूसरे कटीकशेरुका से नीचे काशेरुक नली में सुषुम्ना नहीं रहती।

सुषुम्ना की लम्बाई पुरुषों में १८ इंच के लगभग होती है; स्त्रियों में कोई $\frac{१}{२}$ इंच कम होती है। उस का भार $\frac{१}{२}$ छटांक के लगभग होता है (कुल शरीर के भार का $\frac{१}{२०००}$ वा अंश समझिये)। उसका गुरुत्व १०३५ के लगभग होता है।

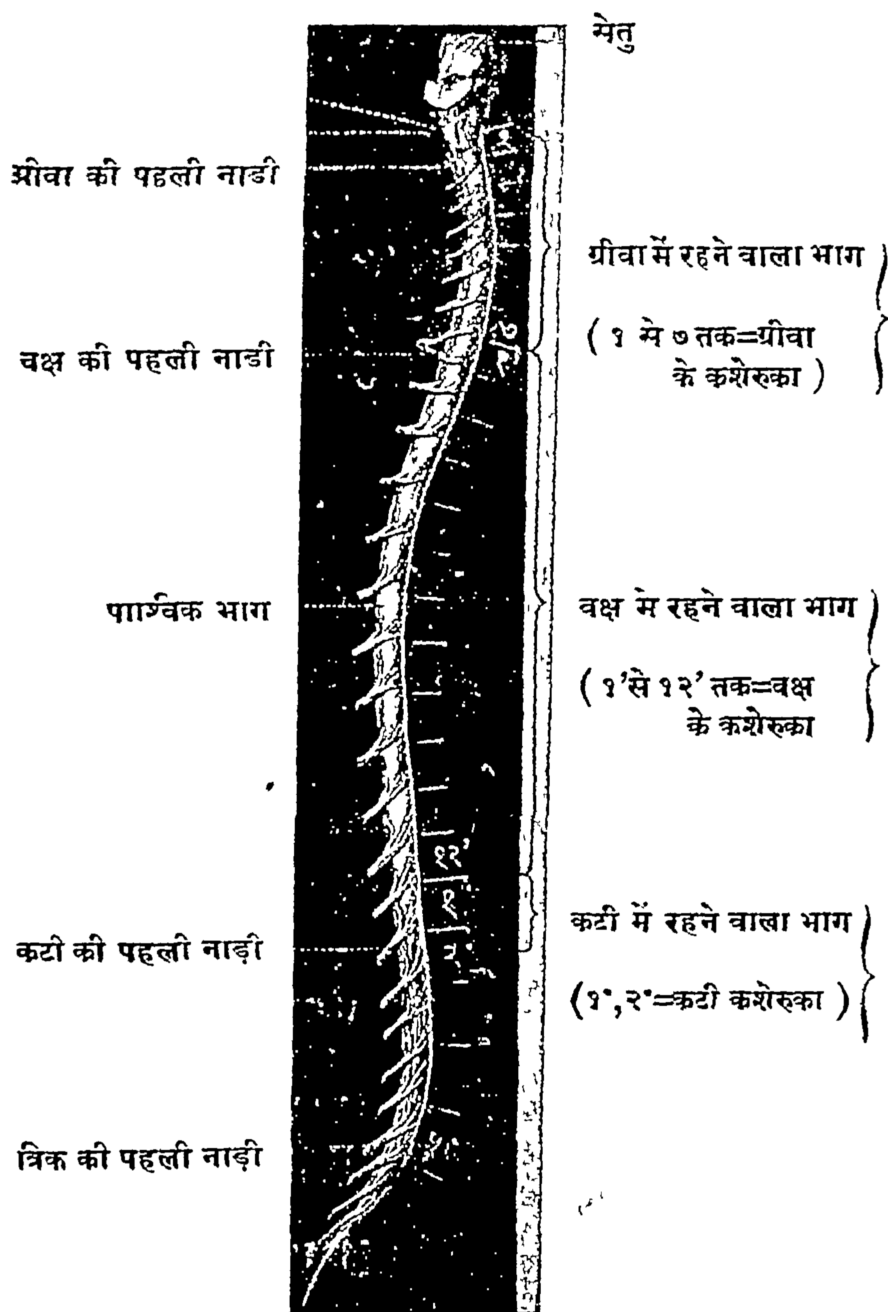
सुषुम्ना कुछ कुछ बेलनाकार और रस्सी के समान होती है। दो स्थानों में शेष स्थानों की अपेक्षा अधिक मोटी होती है (देखो चित्र ३६ और ४०) :-

१. ग्रीवा में ग्रीवा के तीसरे कशेरुका से वक्ष के पहले कशेरुका तक। यहां उस का परिधि (घेरा) १$\frac{१}{२}$ इंच और व्यत्यस्त व्यास (दाहिनी ओर से बाईं ओर तक) $\frac{१}{२}$ इंच के लगभग होता है। इस भाग से उर्ध्व शाखा सम्बन्धी नाड़ियां निकलती हैं।

२. वक्ष के नौवें से १२ वें कशेरुकाओं के सामने। यहां उसका परिधि १$\frac{१}{४}$ इंच के लगभग और व्यत्यस्त व्यास $\frac{१}{२}$ इंच से कुछ कम होता है। इस भाग से अधो शाखा की नाड़ियां निकलती हैं। वक्ष के १२ वें कशेरुका के नीचे सुषुम्ना पतली और शङ्काकार हो जाती है; शङ्कु की शिखर कटी के पहले या दूसरे कशेरुका के सामने रहती है; यह सुषुम्ना का अंतिम भाग है।

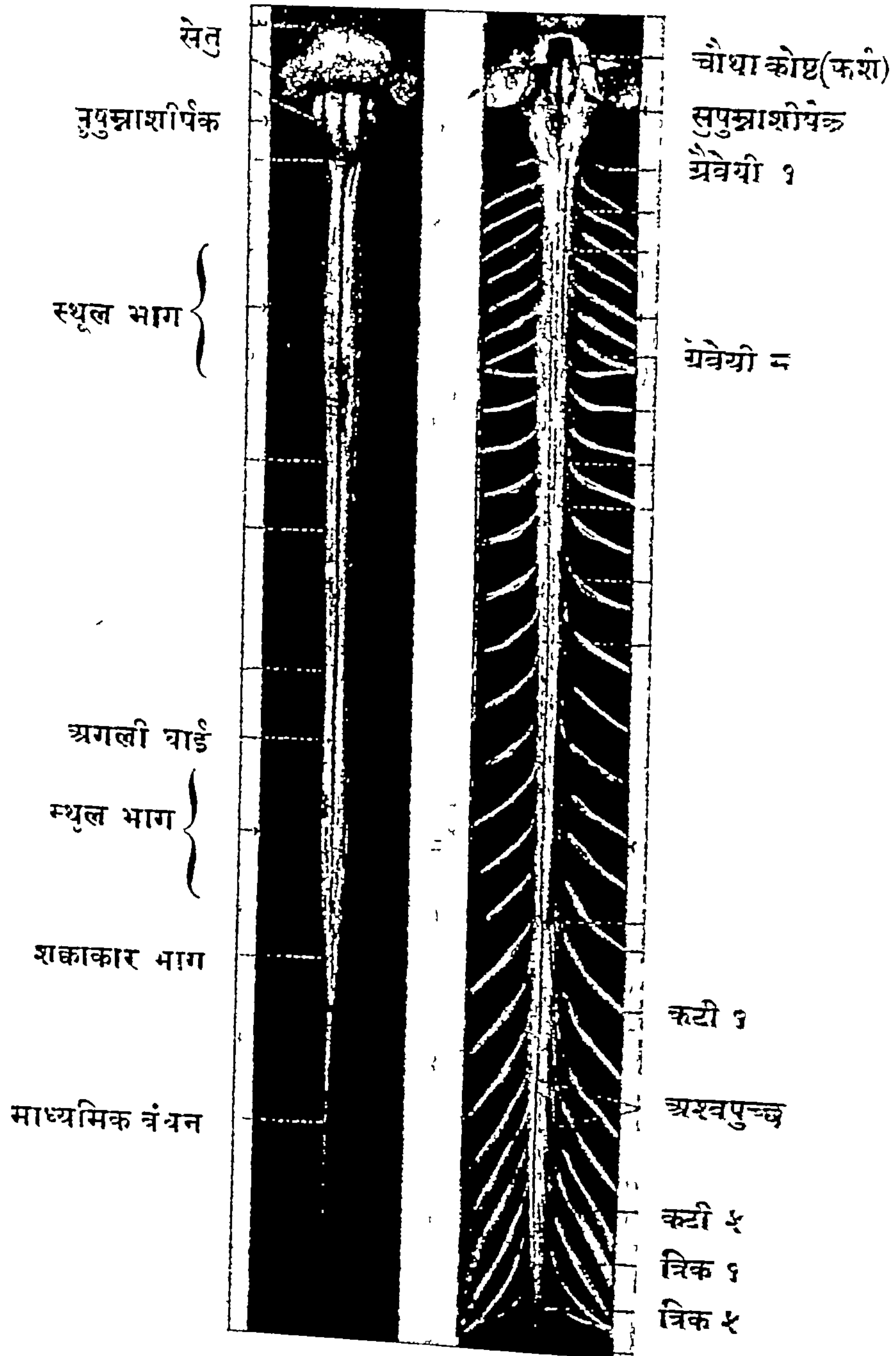
सुषुम्ना के अंतिम भाग की शिखर से एक पतले श्वेत सूत्र का आरंभ होता है। यह सूत्र कोई ६ या ७ इंच लम्बा होता है और नीचे जा कर गुदास्थि से लग जाता है। यह सूत्र सुषुम्ना का मध्य बंधन कहलाता है। मध्य बंधन के

चित्र ३८ सुषुम्ना (पार्श्वदर्शन)



(Spalteholtz from Quain's Anatomy)

चित्र ३९ सुषुम्ना अगला पृष्ठ | चित्र ४० सुषुम्ना पिछला पृष्ठ



(After Spalteholtz from Quain's Anatomy)

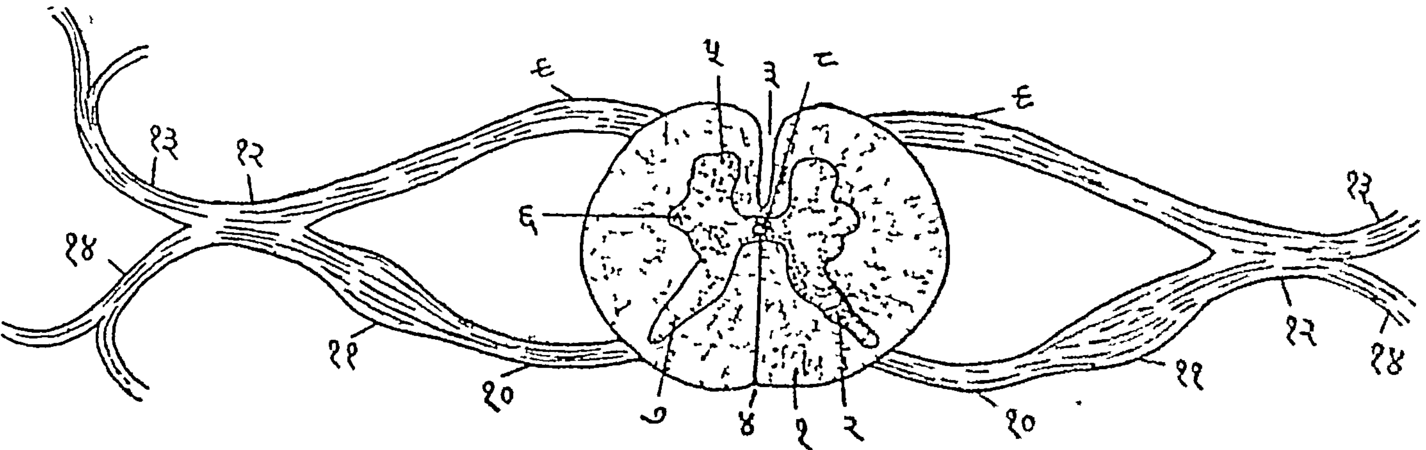
प्रारंभिक भाग में ज़रा सा वात ततु होता है; शेष भाग सौत्रिक तंतु से ही बनता है (चित्र ४०); सुषुम्ना के पार्श्विक बंधन भी होते हैं ।

सुषुम्ना के अगले पृष्ठ पर मध्य रेखा में एक खाई होती है (चित्र ३६) जिस की गहराई $\frac{१}{८}$ इंच के लगभग होती है; पिछला पृष्ठ भी मध्य रेखा में ज़रा दबा रहता है (चित्र ४०) इन दोनों खाइयों के इधर उधर सुषुम्ना के एक ही जैसे दो बराबर भाग (पार्श्वार्ध) होते हैं । सुषुम्ना के दोनों पार्श्वों से थोड़ी थोड़ी दूरी पर नाड़ियां निकलती हैं (चित्र ३८, ४०)

सुषुम्ना का रंग बाहर से श्वेत होता है । मस्तिष्क (वृहत् और लघु) में श्वेत पदार्थ भीतर था और धूसर बाहर ; सुषुम्ना में इसका उलटा होता है, श्वेत पदार्थ बाहर होता है और धूसर उसके भीतर । धूसर भाग में सेलें और श्वेत में सूत्र होते हैं ।

सुषुम्ना का व्यत्यस्त काट (चित्र ४१, ४६)

व्यत्यस्त काट में धूसर पदार्थ अंगरेज़ी भाषा के एच् (H) के आकार से बहुत कुछ मिलता है । धूसर पदार्थ के दो मुड़े हुए पार्श्विक भाग हैं जो एक दूसरे से एक व्यत्यस्त भाग द्वारा जुड़े रहते है । प्रत्येक पार्श्विक भाग मुडा रहता है ; उसका अगला सिरा मोटा और छोटा, और पिछला लम्बा और पतला होता है । अगला सिरा **पूर्व श्रृंग** (चित्र ४१ में ५) पिछला **पाश्चात्य श्रृंग** (चित्र ४१ में २) कहलाता है । सुषुम्ना के बीच के भाग में (उस भाग में जिस से वक्ष और



१=श्वेत भाग

२,७=धूसर भाग का पाश्चात्य शृंग

३=सामने की घाई

४=पिछली घाई

५=अग्र शृंग

६=पार्श्विक शृंग

८=सौषुम्न नाडी

९=पूर्व मूल

१०=पाश्चात्यमूल

११=पाश्चात्य गंड

१२=सौषुम्न नाडी

१३=पूर्व शाखा

१४=पाश्चात्य शाखा

चित्र ४१ सुषुम्ना का व्यत्यस्त काट

पीठ की नाड़ियां निकलती हैं) एक **पार्श्विक श्रृंग** (चित्र ४१ में ६) भी दिखाई देता है।

मध्य भाग में एक छिद्र दिखाई देता है ; (चित्र ४१ में ८) यह उस नली का मुख है जो सुषुम्ना के भीतर होती है। यह **सौषुम्न नाली** मस्तिष्क के चौथे कोष्ठ से मिली रहती है और उसमें ज़रा सा तरल रहता है। जो तरल मस्तिष्क के कोष्ठों में रहता है वही सौषुम्न नाली में भी रहता है।

सुषुम्ना से नाड़ियों के ३१ जोड़े निकलते हैं ; इन का वर्णन आगे किया जायगा।

मस्तिष्क और सुषुम्ना के आवरण

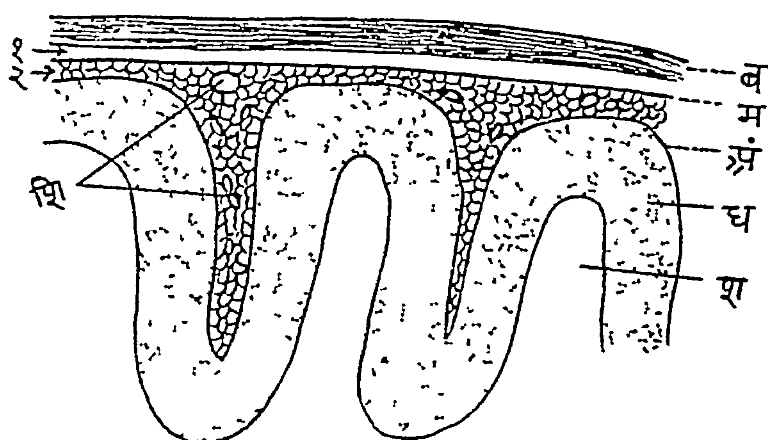
मस्तिष्क के ऊपर तीन झिल्लियां चढ़ी रहती हैं ; ये उस के **आवरण** कहलाते हैं। सब से बाहर का आवरण (बाह्या वरण) मोटा और मज़बूत होता है। इसका वह पृष्ठ जो कपाल के भीतरी पृष्ठ से लगा रहता है खुरदरा होता है ; जो पृष्ठ मस्तिष्क के सम्मुख होता है वह चिकना और चमकदार होता है।

बाह्यावरण के नीचे मध्यआवरण रहता है यह बहुत पतला और कोमल होता है। मध्य आवरण के नीचे अतरावरण रहता है ; यह सब से पैतला होता है और मस्तिष्क से इस प्रकार चिपटा रहता है कि उस को पृथक करना बहुत कठिन है।

तीनों आवरणों में से केवल अतरावरण ही ऐसा है जो मस्तिष्क की सीताओं में भी घुसता है ; शेष दो आवरण सीताओं में नहीं घुसते, उनके ऊपर ही रहते हैं (चित्र ४२)

वाह्यावरण और मध्यावरण के वीच में कुछ अंतर रहता है; इसमें ज़रा सा तरल रहता है जिससे इन आवरणों के सम्मुख पृष्ठ भीगे रहते हैं। मध्य और अतः आवरणों के बीच के अतर में भी तरल रहता है। सूक्ष्म सूत्रों द्वारा इस अंतर में एक जाल सा वन जाता है (चित्र ४२)।

चित्र ४२ मस्तिष्क के आवरण



व्याख्या – व=वाह्यावरण म=मध्यावरण अं=अतरावरण
ध=धूसर भाग श=श्वेत भाग
१=वाह्य आवरण और मध्य आवरण के वीच का अतर
२=मध्यावरण और अतरावरण के वीच का अतर
गि=गिराएं (कटी हुई)

वाह्यावरण मस्तिष्क की रक्षा करने के अतिरिक्त एक और काम करता है। उससे कई परदे वन जाते है जो मस्तिष्क के कई भागों को एक दूसरे से पृथक करते हैं, उदाहरणार्थः-एक दात्राकार परदा वृहत् मस्तिष्क के दोनों गोलार्धों के बीच में रहने वाले अंतर या दरार में रहता है, इस परदे को

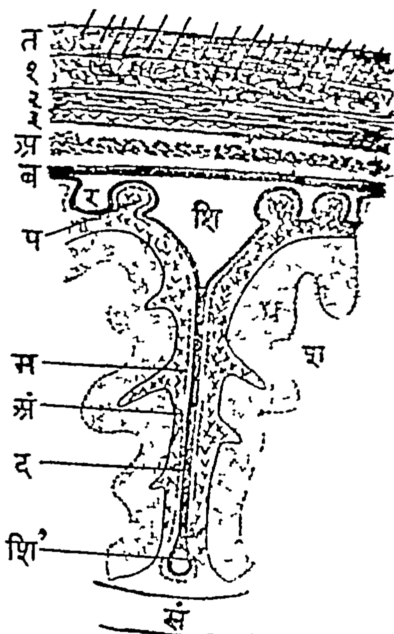
बृहत् दात्रिका कहते हैं; दूसरा परदा बृहत् मस्तिष्क के पिछले भाग के नीचे और लघु मस्तिष्क के ऊपर रहता है, इस को **मास्तिष्क वितान** कहते है क्योंकि यह तंबूकी तरह लघुमस्तिष्क को ऊपर से ढांके रहता है: एक छोटा दात्राकार परदा लघुमस्तिष्क के गोलार्धों के पिछले अंतर में रहता है। यह **लघु दात्रिका** है। इनके अतिरिक्त एक परदा और होता है।

मस्तिष्क की भांति सुषुम्ना के भी तीन आवरण होते है बाह्य, मध्य और अतः; इन आवरणों के बीच में अतर भी होते हैं। जो अंतर मध्य और अंतः आवरण के बीच में रहता है (मध्यावरणाधः प्रदेश) उसका एक छिद्र द्वारा मस्तिष्क के चौथे कोष्ठ से सम्बन्ध होता है। जो तरल मस्तिष्क के कोष्ठों और सौषुम्न नली में रहता है वह इस प्रदेश में भी रहता हैं। बहिरावरणाधः प्रदेश का मध्यावरणाधः प्रदेश और मस्तिष्क के कोष्ठों तथा सौषुम्न नली से कोई सम्बन्ध नहीं है।

जब मस्तिष्क और सौषुम्न नाड़ियां कपाल तथा पृष्ठ वंश से बाहर निकलती हैं तब वे इन आवरणों में से हो कर जाती हैं। बाह्यावरण इन नाड़ियों के ऊपर कुछ दूर तक गिलाफ़ के रूप में चढा रहता है। मस्तिष्क और सुषुम्ना का अतरावरण बहुत रक्तमय होता है।

मस्तिष्क और सुषुम्ना की सूक्ष्म रचना (चित्र ४४)

बृहत् मस्तिष्क—धूसर भाग (वल्क) की सामान्य मोटाई $\frac{१}{८}$ इंच के लगभग होती है; कहीं कही $\frac{१}{१२}$ इंच से भी कम



व्याख्याः—

त से ३ तक = टटरी

त = त्वचा, १ = त्वचा के नीचे रहने वाली वसामय कला २. कडरा३. सौत्रिक ततु की तह अ = कपाल की अस्थि जिस पर अस्थ्यावरक या अस्थि-जनक कला रहती है। व = मस्तिष्क का वाह्यावरण, इस की दो तहें चित्र में दिखाई गई हैं, ये दोनो तहे एक दूसरे से चिपटो रहती हैं और आसानी से अलग नही की जा सकती, परन्तु जहा इस आवरण से पीछे वतलाए हुए परदे वनते हैं (जैसे दात्रिका) वहा भीतर की तह वाहर की तह से अलग हो जाती है और दुहरी हो जाती है, इसी दुहरी तह से ये परदे वनते हैं। इस चित्र में यह दर्शाया गया है कि वृहत् दात्रिका कैसे वनता है। म = मध्य आवरण; अ = अत आवरण व = वूसर भाग, श = श्वेत भाग, स = महा सयोजक द = वृहत् दात्रिका, यह परदा वाह्यावरण की भीतरी तह के दुहरे हो जाने से वनता है और कपाल के भीतरी पृष्ठ से सयोजक के ऊपरी पृष्ठ तक वृहत् मस्तिष्क के गोलाधों के अतर में रहता है। कपाल के पास परदे की दोनो तहे एक दूसरे से पृथक रहती हैं जिस से एक तीन पहलू वाली नाली वन जाती है, इस में शिरा रक्त वहता है, इसी प्रकार सयोजक के समीप वाले किनारे मे भी एक नाली रहती है, इस में भी शिरा रक्त वहता है (देखो चित्र ४३ में शि, शी,)। इस प्रकार की रक्त-वाहिनिया जिनकी दीवारों की रचना शिरा की दीवार की रचना से भिन्न हो अर्थात् जिनकी दीवारें केवल सौत्रिक ततु या सौत्रिक ततु और अस्थि से वनें शिरा कुल्याएं कहलाती हैं। उपरोक्त दात्रिका में रहने वाली दो शिरा

कुल्याओं के अतिरिक्त कपाल में और भी कई छोटी छोटी कुल्याए होती हैं। मस्तिष्क की शिराओं का रक्त बाह्यावरण से या बाह्यावरण और अस्थि से निर्मित शिरा कुल्याओं में इकट्ठा होता है। कपाल की तली में महा छिद्र के पास दो छिद्र होते हैं, यहां से ग्रीवा की दाहिनी और बाई बडी शिराओं का आरंभ होता है और व्यत्यस्त शिरा कुल्याओं का यहीं अंत होता है। इस प्रकार मस्तिष्क का रक्त ग्रीवा की शिराओं में चला जाता है। मस्तिष्क की शिराओं तथा शिराकुल्याओं का विस्तीर्ण वर्णन इससे किसी बडे ग्रन्थ में देखिये। शि—ऊर्ध्व अन्वायाम शिराकुल्या शि'—अधो अन्वायाम शिराकुल्या।

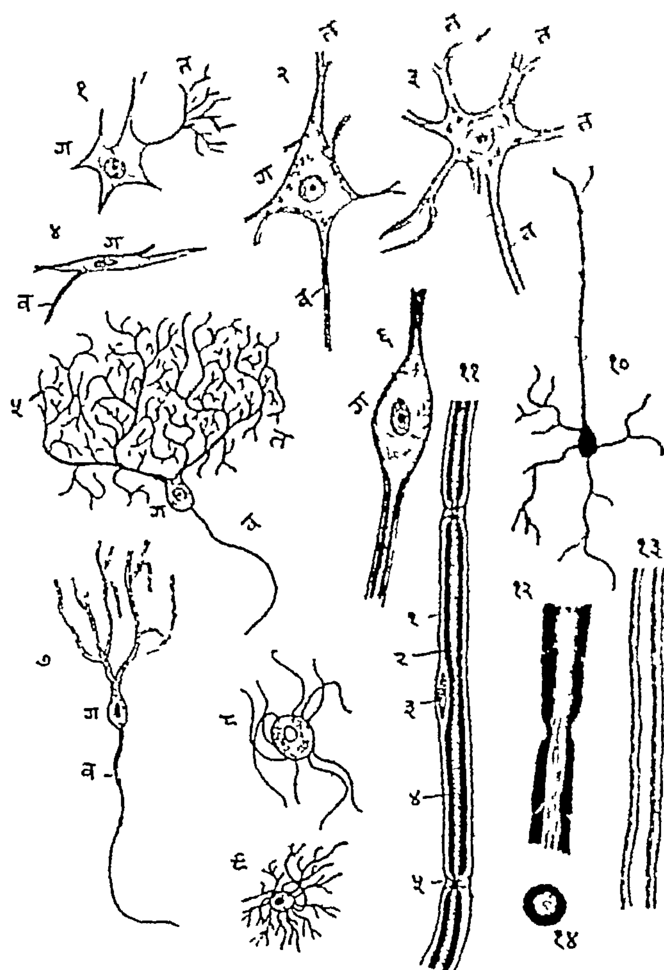
होती है। कहीं $\frac{1}{6}$ इंच से भी अधिक होती है। धूसर भाग बात सेलों से बनता है जो कई प्रकार की होती है।

कुछ सेलें सूच्याकार या शंकाकार होती है और उन से बहुत से तार निकलते है (चित्र ४८ में २)। कुछ तार छोटे छोटे होते हैं और सेल से बहुत दूर नही जाते और सेल के पास ही बहुत पतली पतली शाखाओं में विभक्त हो जाते हैं (चित्र ४८ के २ में त); इन छोटे तारों के अतिरिक्त प्रत्येक सेल से एक लम्बा तार निकलता है (चित्र ४८ में व) जो और तारों की भांति सेल के पास शाखाओं में विभक्त नहीं होता; श्वेत भाग अधिकतर इन्ही तारों से बनता है। सेलों के ये तार वृहत् मस्तिष्क के एक भाग से दूसरे भाग को, एक गोलार्ध से दूसरे गोलार्ध को, और लघुमस्तिष्क, सुषुम्नाशीर्षक और सुषुम्ना को जाते हैं (चित्र ४५)

सूच्याकार सेलों की कई स्तरें (तह) होती हैं, किसी स्तर में छोटी सेलें होती है, किसी में मध्यम आकार की और किसी में बहुत बड़ी।

कुछ सेलें तर्काकार या गिल्लियाकार होती हैं (चित्र ४४ में ४) इनमें भी छोटे और लम्बे दो प्रकार के तार होते हैं।

चित्र ४४ वात सेलें और वात सूत्र



व्याख्या —ग= वात सेल का गात्र या शरीर त= छोटे छोटे तार जो वात सेल के पास ही अंत हो जाते हैं व= वात तार जो दूर तक जाता है १= तारोपम वात सेल २= सूच्याकार वात सेल ३= बहुध्रुव वात सेल

४= तर्क्वाकार वात सेल ५= पुटग्रीवाकार वात सेल (कुछ कुछ सुगही जैसे गात्रवाली) ६ = द्विध्रुव वात सेल ७= सेल ८, ६= वात सेलो को सहारा देने वाली सेलें १० =वात सेल ११ वात सूत्र (१= वाह्य कोष, २= मैदस पिधान २=वाह्य कोष की सेलक। चैतन्य केंद्र या मींगी ४= सूत्र का अक्ष या केन्दीय वेलवनाकार भाग, यह वात सेल का तार है ५= भिचा हुआ भाग १२ =सूत्र का अक्ष अनेक सूक्ष्म तारों से वना है १३ = मैदस पिधान विहीन वात सूत्र १४= वात सूत्र चौडाई के रुख कटा हुआहै।

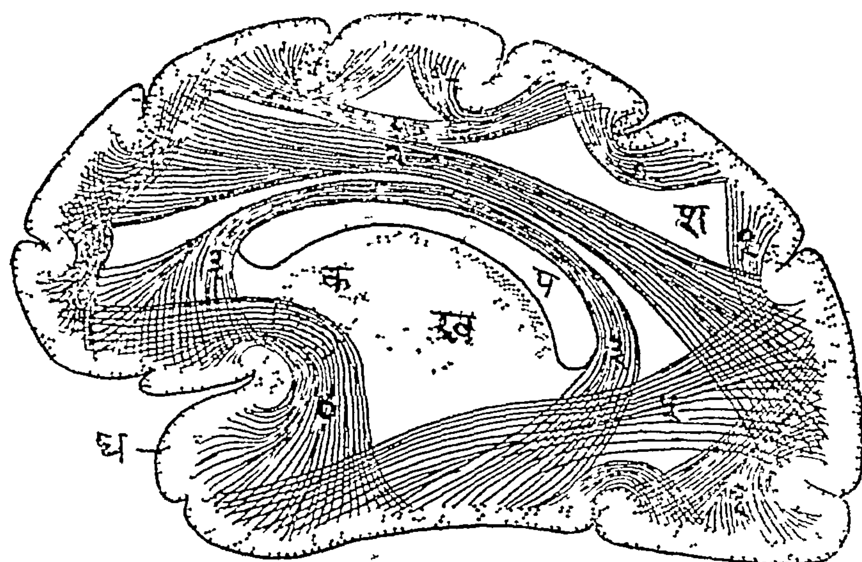
कुछ सेलें तारोपम होती है ; सेलके कोनों से कई छोटे छोटे तार निकले रहते हैं (चित्र ४४ में १) और भी कई प्रकार की सेलें पाई जाती हैं।

उपरोक्त सेलें वात सेलें कहलाती हैं। वात सेलों (या नाड़ो सेलों) के अतिरिक्त कुछ सेलें और होती है , ये वात सेलों के वीच में पड़ी रहती हैं और उनको सहारा देती हैं (चित्र ४४ में ८, ६)

वृहत् मस्तिष्क का श्वेत भाग वात सूत्रों से बनता है जो या तो उसके धूसर भाग की सेलों से निकलते हैं या मस्तिष्क के किसी और भाग से या सुषुम्ना से आते हैं। बहुत से सूत्र वृहत् मस्तिष्क के एक भाग से निकलकर दूसरे भाग को जाते हैं ; इस प्रकार उसके सब भाग एक दूसरे से सूत्रों द्वारा मिले रहते हैं (देखो चित्र ४५)

लघुमस्तिष्क—यदि लघु मस्तिष्क को मध्यरेखा में काट कर उसके दो टुकड़े कर लें तो कटे हुए भाग की वृक्ष जैसी शकल दिखाई देगी जैसा कि चित्र ४६ से विदित होता है। लघुमस्तिष्क का भीतरी भाग श्वेत होता है और बाहरी धूसर। धूसर भाग में सेलें होती है, श्वेत में सूत्र।

चित्र ४५



[From Halliburtons' Handbook of Physiology]

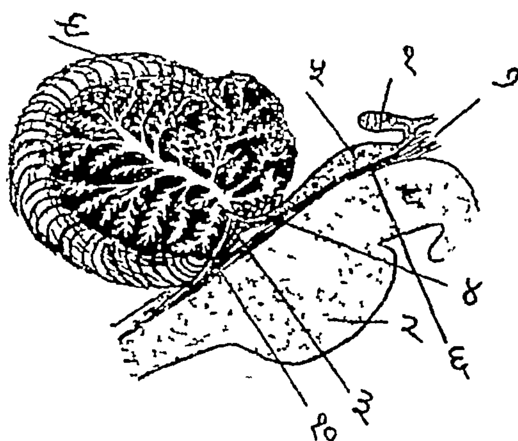
इस चित्र मे यह दर्शाया गया है कि वृहत् मस्तिष्क के विविध भाग किस प्रकार सूत्रों द्वारा एक दूसरे से सम्बन्ध रखते हैं। जिस भाग मे विंदु हैं वह धूसर पदार्थ है। श्वेत भाग के भीतर रहने वाले दो धूसर समूह (क, ख) भी दिखाये गये है। प = महा संयोजक ; क = केत्वाकार पिंड।

धूसर भाग मे विचित्र सेलें होती हैं (चित्र ४४ में ५, ७); ये पुटग्रीवाकार (सुराही जैसी) सेलें कहलाती है। सेल के पतले भाग से अनेक छोटे छोटे तार निकलते हैं जिनकी सहस्रों शाखाओं से एक झाड़ सा बन जाता है। सेल के स्थूल भाग से एक लम्बा वात तार निकलता है। लघुमस्तिष्क में और भी कई प्रकार की सेलें होती हैं।

श्वेत भाग अधिकतर धूसर भाग की सेलो से निकले हुए लम्बे तारों से बनता है। ये वात सूत्र लघुमस्तिष्क के एक

भाग से दूसरे भाग को और वृहत् मस्तिष्क और सुषुम्ना को जाते हैं ; वृहत् मस्तिष्क और सुषुम्ना से भी वात सूत्र लघु-मस्तिष्क में आते हैं।

चित्र ४६



व्याख्या —१ = पीनियल पिंड २ = सेतु ३ = चौथा कोष्ठ ४, १० = इन से चौथे कोष्ठ की छत बनत है। ५ = चतुष्पिण्ड ६ = मध्य मस्तिष्क की सुरंग ७ = तीसरा कोष्ठ ८ = मस्तिष्क स्तंभ ९ = लघुमस्तिष्क के पत्र या दल

सुषुम्ना—धूसर भाग में सेलें होती हैं जो अधिकतर बहुध्रुव होती हैं (चित्र ४४ में ३) ; सेल का एक तार और सभों से लम्बा होता है। श्वेत भाग कुछ तो उन तारों से बनता है जो धूसर भाग की सेलों से निकलते हैं ; शेष भाग उन तारों से बनता है जो वृहत् मस्तिष्क, मध्य मस्तिष्क और सुषुम्ना शीर्षक से आते हैं या जो ऊपर को लघुमस्तिष्क और वृहत् मस्तिष्क को जाते हैं।

अध्याय २१

प्रान्तस्थ नाड़ी मंडल

इसमें ये चीजें शामिल हैं :—

१ मस्तिष्क से निकली हुई २४ नाड़ियां।

२. सुषुम्ना से निकली हुई ६२ नाड़ियां।

३ ग्रीवा, वक्ष और उदर में रहने वाले वात गंड।

नाड़ी या वात रज्जु

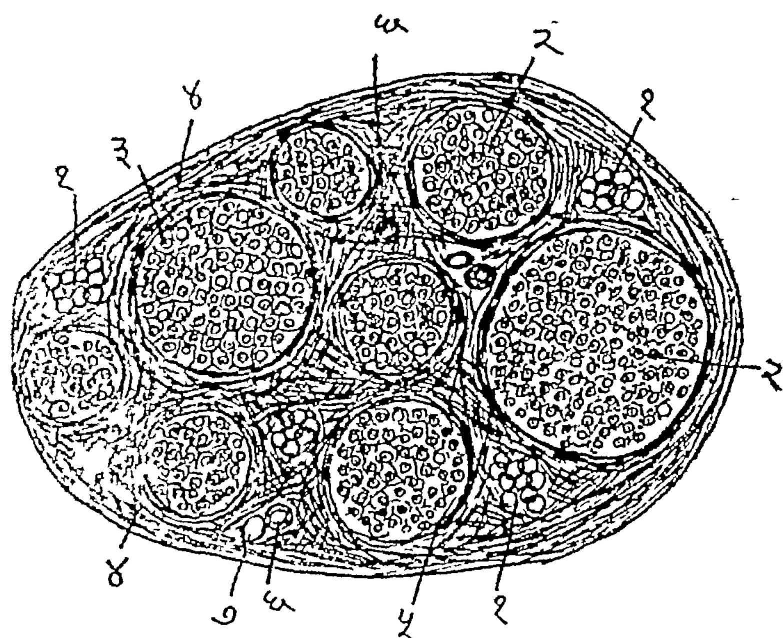
नाड़ी का रंग कुछ कुछ श्वेत होता है। स्पर्श करने में डोरे के समान सख्त मालूम होती है : काटने पर भीतर से ठोस निकलती है : खींचने से ये शीघ्र नही टूटती ; चिमटी की सहायता से नाड़ी बहुत से सूत्रों में विभाज्य होती है।

सब नाड़ियां एक ही जैसी मोटी और लम्बी नहीं होती। कुछ नाड़ियां कनिष्ठा अंगुली जैसी मोटी होती हैं; कुछ बाल जैसी बारीक। कुछ एक इंच से अधिक लम्बी नही होती ; कुछ एक गज़ से भी अधिक लम्बी होती हैं।

प्रत्येक नाड़ी पतले पतले तारों या सूत्रों का एक समूह होती है; ये सूत्र या तार वात सेलों से निकलते हैं ये वात सेलें चाहे मस्तिष्क में हों चाहे सुषुम्ना में चाहे किसी और स्थान में। बहुत से सूत्रों से एक गट्ठा बन जाता है जिस के ऊपर सौत्रिक तंतु का एक गिलाफ़ चढ़ा रहता है जिस के कारण सूत्र इकट्ठे रहते हैं ; ऐसे ऐसे कई गट्ठे आपस में सौत्रिक तंतु द्वारा बंधे रहते हैं और फिर इन सब के ऊपर सौत्रिक तंतु से निर्मित एक कोष होता है।

यदि हम किसी मोटी नाड़ी के मोटाई के रुख पन्ने काटें और उन को अणुवीक्षण से देखें तो उसकी रचना ऐसी दिखाई देगी जैसी चित्र ४७ में दिखाई गई है।

चित्र ४७ नाडी की रचना



१ = वसा २ = नाडी सूत्र समूह या सूत्रों के गट्ठे ३ = नाडी सूत्र ४ = समस्त नाड़ी का सौत्रिक कोप ५ = एक गट्ठे का सौत्रिक कोप ६, ७ = धमनी और शिरा

चाकू और चिमटी द्वारा सौत्रिक तंतु को हटा कर किसी मोटी नाड़ी के पतले पतले भाग किये जा सकते हैं; हर एक भाग में बहुत से वात सूत्र होते हैं

वात सूत्र या नाड़ी सूत्र या तार

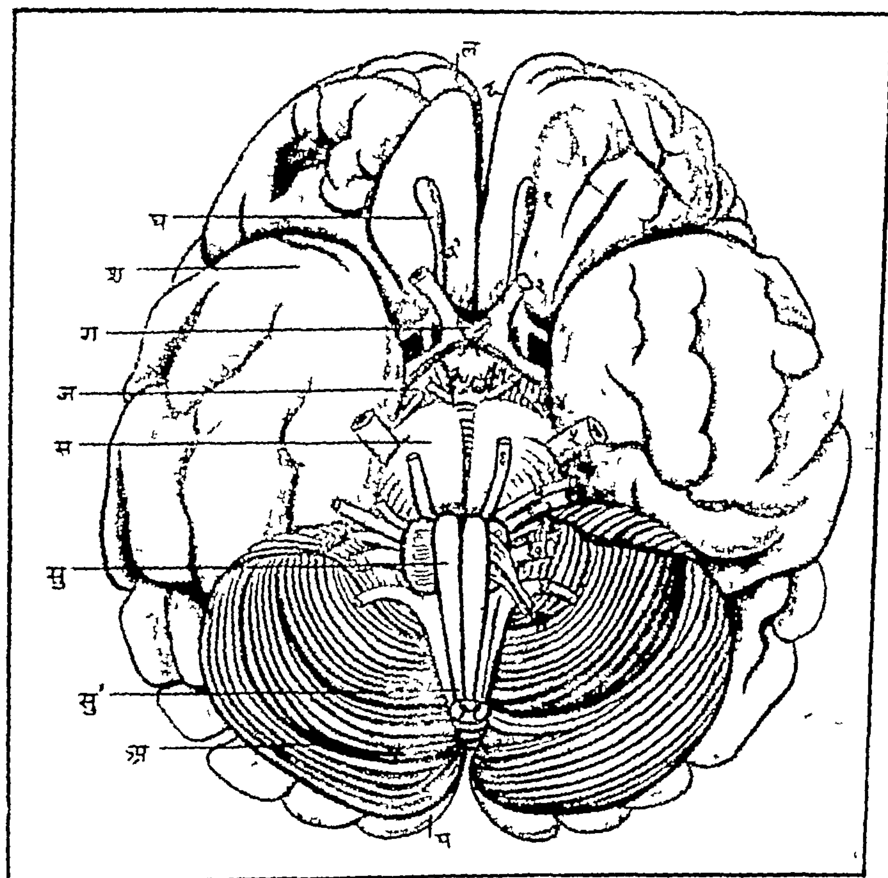
नाड़ी सूत्रों से बनती है। नाड़ी सूत्र की रचना चित्र ४८

चित्र ४८ की व्याख्या —

१ = घ्राण नाडियां २. दृष्टि नाडी ३. नेत्र चालनीनाडी ४ = चतुर्थी नाडी ५ = त्रिशाखा नाडी ६ = षष्ठी नाडी ७ = सप्तमी या मौखिक नाडी ८ = अष्टमी या श्रावण नाडी ९ = नवमी या जिह्वाकंठ नाडी १० = दशमी नाडी ११ = एकादशी नाडी १२ द्वादशी या जिह्वाधोवर्ती नाडी।

ल = ललाट ध्रुव; द = दरार या अंतर; घ = घ्राण खंड, शं = शंखध्रुव, ग = हाइपोफिसिस् ग्रन्थि; ज = मास्तिष्क स्तंभ, स = सेतु, सु = सुषुम्नाशीर्षक, सु' = सुषुम्ना का प्रारंभिक भाग; अ = लघु मस्तिष्क प = पाश्चात्य ध्रुव।

चित्र ४८ मस्तिष्क का अधोभाग



पृष्ठ १८२

६. छठा (षष्ठ) जोड़ा। ये भी आंख की गति से सम्बन्ध रखती हैं (चित्र ४८ में ६)।

७. सातवां (सप्तम जोड़ा)। इनका चेहरे की पेशियों की गति से सम्बन्ध है और इस कारण **मौखिक** नाड़ियां कहाती हैं (चित्र ४८ में ७)

८. आठवां (अष्टम) जोडा। इनका सुनने से सम्बंध है इस कारण इनको **श्रावण** नाड़ियां कहते हैं (चित्र ४८ में ८)

९. नवां (नवम) जोड़ा। इनका जिह्वा और कंठसे सम्बंध है और इस कारण वे **जिह्वाकंठ** नाड़ियां कहलाती हैं (चित्र ४८ में ९)

१० दसवां (दशम) जोड़ा। इनका स्वरयंत्र, फुप्फुस, हृदय, आमाशय, अंत्र, यकृतादि अगों से सम्बध है (चित्र ४८ में १०)

११ ग्यारहवां (एकादश) जोड़ा (चित्र ४८ में ११)

१२ बारहवां (द्वादश) जोड़ा। यह जिह्वा के नीचे रहने के कारण **जिह्वाधोवर्ती** नाडी कहलाती है (चित्र ४८ में १२)।

दो प्रकार की नाड़ियां

नाड़ियां मुख्यतः दो प्रकार की होती हैं:—

१. वे जिन का पेशियों की गति से सम्बन्ध होता है ये **गति सम्बन्धी** या **चालक नाड़ियां** कहलाती हैं। जब हम आंख इधर उधर घुमाते हैं तो जिन नाड़ियों द्वारा आंख की पेशियों को गति करने की आज्ञा मिलती है वे चालक नाड़ियां हैं।

२ वे जिन का चेतना या संवेदन से सम्बन्ध है; ये **सांवेदनिक नाड़ियां** कहलाती है। जब हम कोई चीज़ देखते हैं तो जिस नाड़ी द्वारा प्रकाश का असर मस्तिष्क को पहुंचता है वह सांवेदनिक नाड़ी है।

मास्तिष्क नाड़ियों में से कुछ केवल सांवेदनिक हैं उन का गति से कोई सम्बन्ध नहीं जैसे घ्राण, दृष्टि, श्रावण; कुछ केवल गति सम्बन्धी या चालनी ही है जैसे तीसरी, चौथी, छठी, ग्यारहवीं और बारहवीं, शेष ४, नाड़ियां मिश्रित कहलाती हैं क्योंकि वे सांवेदनिक भी हैं और चालनी भी।

सौषुम्न नाड़ियां (चित्र ४९, ५०,४०, ४१,)

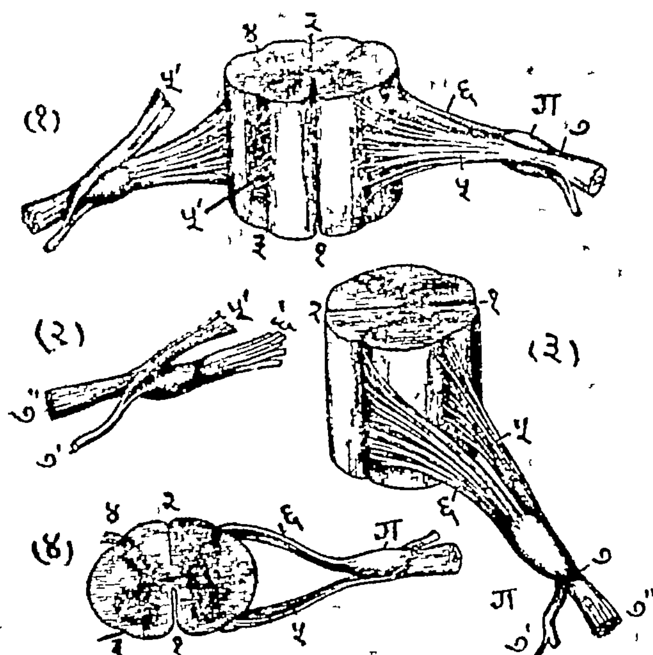
सौषुम्न नाड़ियों के ३१ जोड़े होते हैं। प्रत्येक नाड़ी सुषुम्ना से दो भागों द्वारा जुड़ी रहती है, अगले भाग को **पूर्व मूल** (चित्र ४९ में ५) और पिछले को **पाश्चात्य मूल** (चित्र ४९ में ६) कहते हैं। दोनों मूलें सुषुम्ना के पास ही एक दूसरे से मिल जाती हैं; बहुधा यह मेल कशेरुकांतर में (ऊपर नीचे के दो कशेरुकाओं का अंतर) हुआ करता है। दोनों के मेल से पूरी नाड़ी बनती है। पाश्चात्य मूल पर एक छोटा सा लाली मायल श्वेत रंग का उभार होता है ; यह **नाड़ी गंड** है। नाड़ी गंड वात सेलों और सूत्रों का समूह होता है; ये सेलें एकध्रुव होती हैं। प्रत्येक सेल की ध्रुव से एक तार निकलता है जिस के तुरंत ही दो भाग हो जाते हैं (देखो चित्र ५१)।

एक तार सुषुम्ना की ओर जाता है, दूसरा सुषुम्ना से परे। सुषुम्ना की ओर जाने वाले तारों से ही पाश्चात्य मूल बनती

है, जो तार सुपुम्ना से परे जाते हैं उन से पूरी नाड़ी का आधा भाग वनता है। पाश्चात्य मूल के तार सुषुम्ना के भीतर घुस जाते हैं और फिर ऊपर को चढ़ते हैं; इन से सुपुम्ना के श्वेत भाग का कुछ अंश वनता है।

पूर्व मूल के तार सुपुम्ना के भीतर से आते हैं; ये पूर्व शृंग की वहुध्रुव सेलों से निकलते हैं। पूर्व मूल के तारों का

चित्र ४६ सुपुम्ना के काट



(From Halliburton's Handbook of Physiology)

१ = पूर्व घाई २=पाश्चात्य घाई ३=पूर्व पार्श्विक घाई ४=पाश्चात्य पार्श्विक घाई ५=पूर्वमूल ६=पाश्चात्य मूल ७"=मिश्रित नाडी ७'=पूर्व शाखा ७=पाश्चात्य शाखा ग=नाडी गड ५'=कटी हुई पूर्व मूल ६'=कटी हुई पाश्चात्य मूल।

पेशियों की गति से सम्बन्ध है; पाश्चात्य मूल सांवेदनिक है। दोनों मूलों से बनी हुई नाड़ी मिश्रित नाड़ी है; उसमें दोनों प्रकार के तार हैं।

कशेरुकांतर के पास ही प्रत्येक सौषुम्न नाड़ी से एक छोटी शाखा निकलती है जो पृष्ठ वंश में घुस जाती है, यह शाखा कशेरुका, कशेरुका बंधन, सौषुम्नावरण इत्यादि को जाती है। इस शाखा के निकलने के पीछे प्रत्येक नाड़ी की दो बड़ी शाखाएं हो जाती हैं एक **पूर्व** दूसरी **पाश्चात्य** (चित्र ४६ में ७' = पूर्व शाखा, ७'' = पाश्चात्य शाखा)। पूर्व शाखाएं अधिकतर ग्रीवा, वक्ष और उदर के अगले भागों और ऊर्ध्व और अधो शाखाओं को जाती हैं। पाश्चात्य शाखाएं पूर्व की अपेक्षा पतली होती हैं, वे शिर, ग्रीवा, वक्ष और उदर के पिछले भागों में रहती हैं।

सौषुम्न नाड़ियों का संक्षिप्त वर्णन

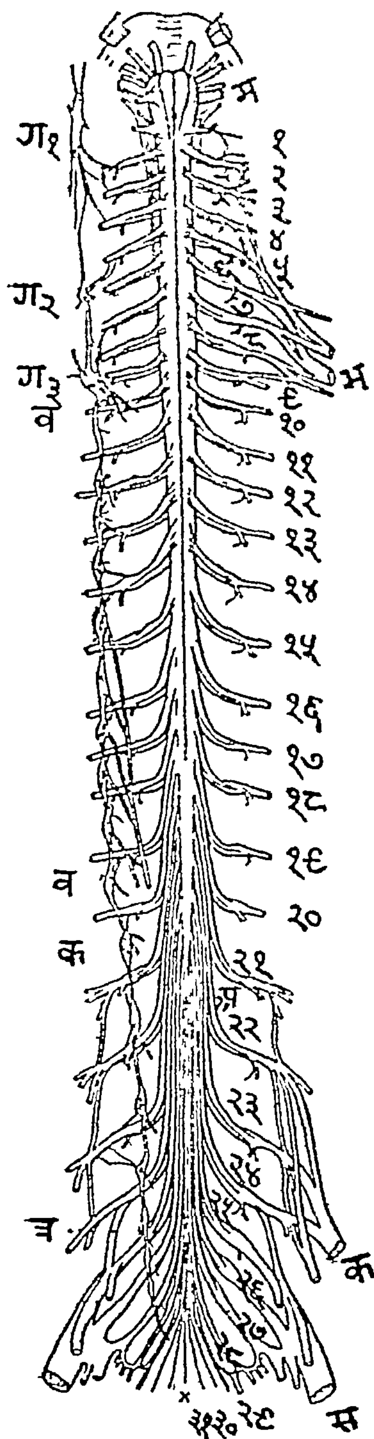
हम पीछे बतला चुके है कि सुषुम्ना का अंत पहले या दूसरे कटी कशेरुका के सामने ही जाता है (चित्र ५० में अ = अत ; चित ३६ और ४०) ; यह भी लिख आये है कि एक कशेरुकांतर से केवल एक नाड़ी बाहर आती है। पहली सौषुम्न नाड़ी पश्चात् अस्थि और ग्रीवा के पहले कशेरुका के बीच में होकर निकलती है; इसलिये पहले कटी कशेरुका और दूसरे कटी कशेरुका के बीच में हो कर २१ वी नाड़ी निकलती है; शेष १० नाड़ियां सुषुम्ना से तो निकल चुकी हैं परन्तु अभी काशेरुक नली के भीतर ही हैं; इन सब के इकट्ठे रहने से घोड़े की पूंछ जैसी चीज़ दिखाई देती है (देखो चित्र ५०);

इस कारण इस नाड़ी समूह को अश्वपुच्छ कह दिया करते हैं। धीरे धीरे नाड़ियों के बाहर निकल जाने से यह अश्वपुच्छ पतली होती जाती है। कटी देश में तो नाड़ियों की पूर्व और पाश्चात्य शखाएं कटी कशेरुकांतरो में से बाहर आती हैं; त्रिक देश की नाड़ियां त्रिक अस्थि के भीतर पूर्व और पाश्चात्य शाखाओं में विभक्त हो जाती हैं; पूर्व शाखाएं त्रिक के अगले छिद्रों में से होकर वस्तिगह्वर में आ जाती है, पाश्चात्य शाखाएं पिछले छिद्रों में से निकल कर त्रिक देश में चली जाती हैं। देशानुसार नाडियों की गिनती इस प्रकार की जाती है:—

ग्रीवा	८
वक्ष	१२
कटी	५
त्रिक	५
चंचु	१
	३१

नाडियों के नाम भी देशानुसार रक्खे जाते है जैसे ग्रीवा की पहली नाड़ी, वक्ष की चौथी नाड़ी, कटी की दूसरी नाड़ी इत्यादि।

सौषुम्न नाड़ियों की पूर्व शाखाएं कई स्थानों में एक दूसरे से मिल जाती हैं; कुछ तार एक नाड़ी से दूसरी मे चले जाते हैं या दो या दो से अधिक शाखाओं से एक नाड़ी बन जाती है और फिर इस संयुक्त नाड़ी से नयी शाखाएं निकलती हैं। इस प्रकार नाड़ियों के जाल बन जाते हैं। हमारे



चित्र ५० सुषुम्ना और गड शृंखला।

(Allen Thomson) from Huxley's Physiology

व्याख्या.—इस चित्र में दाहिनी ओर की गड शृंखला और सुषुम्ना दिखाई गई है। म=मा मस्तिष्क नाडिया। १ से ३१ तक=सौषुम्न नाड़िया। १, २, ३, ४ से ग्रैव नाडी जाल बनता है भ=भुजा नाडी जाल (जो चित्र में दाहिनी ओर है) क=किटी नाडी जाली स= स्कंधि नाडी जाल अ=सुषुम्ना का अन्त= सुषुम्ना का माध्यमिक बंधन का सिरा ग१ ग्रीवा की पहली गड; ग२ =ग्रीवा की तीसरी गड, ग३ =ग्रीवा की तीसरी गड ; व=वक्ष की गड; क(चित्र में बाई ओर)=कटी की गड, त्र=त्रिक देश की गड

शरीर में इस तरह के पांच **नाड़ी जाल** हैं। एक ग्रीवा के ऊपर के भाग में, दूसरा ग्रीवा के नीचे के भाग में और वक्ष मे, तीसरा कटी देश में (उदर मे), चौथे और पांचवे वास्तिगह्वर में त्रिकास्थि के सामने।

ग्रीवा की पहली चार नाड़ियों की पूर्व शाखाओं से **ग्रैव जाल** वनता है; जो शाखाएं इस जाल से निकलती हैं वे ग्रीवा और ग्रीवा के आस पास की त्वचा और पेशियों से सम्बन्ध रखती हैं।

ग्रीवा की शेष चार नाड़ियों की पूर्व शाखाओं तथा वक्ष की पहली नाड़ी की पूर्व शाखा से दूसरा जाल वनता है। यह **भुजा जाल** है; इस जाल के वनाने में ग्रीवा की चौथी और वक्ष की दूसरी नाड़ियां भी कुछ सहायता दिया करती हैं। भुजा जाल से निकली हुई शाखाएं भुजा के विविध भागों को जाती हैं (चित्र ५० में भ); तीसरा जाल **कटी जाल** कहलाता है; इस के वनाने मे वक्ष की १२वीं और कटी की पहली चार नाड़ियों की पूर्व शाखाएं भाग लेती हैं। इस जाल से निकली हुई नाड़ियां कटी और ऊरु को जाती हैं (चित्र ५० में क दाहिनी ओर); चौथा जाल **त्रिक जाल** या **स्कथि जाल** कहलाता है; यह वस्तिगह्वर में होता है; चौथी, पांचवीं कटी नाड़ियों की पूर्व शाखाएं और पहली तीन त्रिक नाड़ियों की पूर्व शाखाएं इस के वनाने में भाग लेती हैं। इस जाल से निकली हुई नाड़ियां अधो शाखा को जाती हैं (चित्र ५० में स)।

दूसरी और तीसरी त्रिक नाड़ियों की पूर्व शाखाओं के

कुछ अंश और चौथी और पांचवी त्रिक नाड़ियों की पूर्व शाखाएं और चचु नाडी के मिलनेसे एक छोटा सा जाल बनाता है। यह **जननेन्द्रिय सम्बन्धी** जाल है। इस जाल से शिश्न, भग, मूत्राशय योनि, गुदा इत्यादि के लिये नाड़ियां निकलती हैं।

वक्ष की ऊपर की ग्यारह नाड़ियों की पूर्व शाखाएं पसलियों के बीच में रहती हैं; इस कारण वे **पर्शुकांतरिक** नाड़ियां कहलाती हैं। इन की शाखाएं वक्ष की त्वचा और पर्शुकांतरिक पेशियों को जाती हैं; वक्ष के नीचे की सात नाडियों की शाखाएं उदर की दीवार की त्वचा और पेशियों को भी जाती हैं।

पाश्चात्य शाखाओं के विषय में हम कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं समझते।

प्रत्येक सौषुम्न नाड़ी का पिंगल नाड़ी मंडल से सम्बन्ध रहता है जैसा कि आगे जा कर बतलाया जायगा (चित्र ५० और ५१)।

पिंगल नाड़ी मंडल (चित्र ५०, ५१)।

ग्रीवा, वक्ष और उदर में पृष्ठवंश के सामने या उस के इधर उधर दो डोरियां पड़ी रहती हैं; प्रत्येक डोरी में थोड़ी थोड़ी दूरी पर छोटे या बड़े गांठो जैसे उभार होते है; इन गांठों के कारण डोरी एक माला के सदृश दिखाई देती है और ये उभार माला के दाने हैं। ये गांठें **नाड़ी गंड** हैः हर एक माला **गंड शृंखला** कहलाती है। गंड कुछ कुछ पिंगल वर्ण (लाली

मायल भूरे रंग की) की होती हैं, इस कारण नाडी मंडल के इस भाग को **पिंगल नाड़ी मंडल** कहते हैं; जो नाड़ियां इस नाड़ी मंडल से निकलती हैं उनको मस्तिष्क और सुषुम्ना से निकली हुई नाड़ियों से भिन्न करने के लिये **पिंगल नाड़ियां** कहते हैं।

गड शृंखला से निकली हुई वे नाड़ियां जो विशेषकर अन्नमार्ग को या अन्नमार्ग सम्बन्धी ग्रन्थियों को जाती हैं **इडा नाड़ियाँ** कहलाती हैं।

पिंगल नाडी मंडल में वे नाडी गड भी अंतर्गत हैं जो गंड शृंखलाओं से पृथक वक्ष और उदर में पृष्ठवंश के सामने या वक्षःस्थ और उदरस्थ अंगों की दीवारों में रहती हैं या जो मास्तिष्क नाड़ियों के संबन्ध में शिर में रहती हैं।

प्रत्येक शृखला में २४ या २५ गंड होती हैं:-

ग्रीवा में	३	(चित्र ५० मे ग १ ग २ ग ३)
वक्ष में	१२	(चित्र ५० में व से व तक)
कटी मे	४	(चित्र ५० मे क)
वस्तिगह्वर में	४ या ५	(चित्र ५० में त्र)
गुदास्थि के सामने	१	
	२४-२५	

नीचे जाकर दोनों ओर की शृंखलाएं गुदास्थि के सामने रहने वाली गंड से मिल जाती हैं।

पिंगल नाड़ी मंडल का मास्तिष्क और सौषुम्न नाड़ियों से सम्बन्ध (चित्र ५०,५१)

नाड़ी गंड सेलों तथा नाड़ी सूत्रों का समूह होता है;

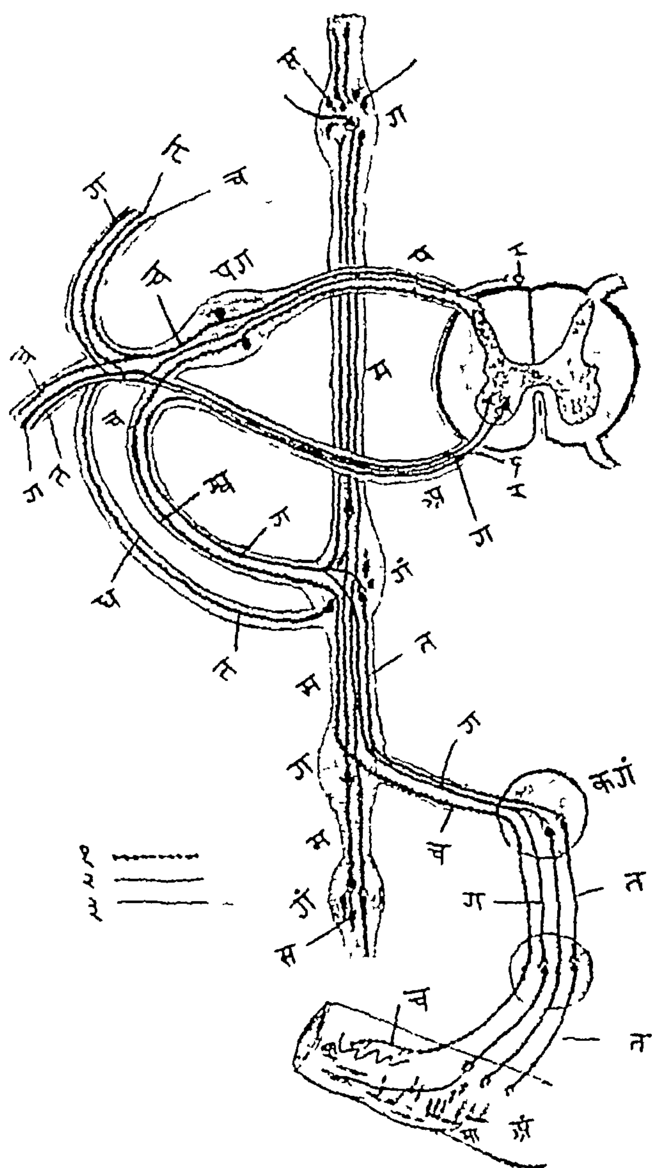
सेलें बहुध्रुव होती हैं। ये गंड सौषुम्न (या मास्तिष्क नाड़ियों से नाड़ी सूत्रों द्वारा सम्बन्ध रखती हैं जैसा चित्र ५०.से विदित है। इन सूत्रों को **सम्बन्धक** कहते हैं।

ये सम्बन्धक दो प्रकार के होते हैं-श्वेत और धूसर श्वेत संबंधक में मैदस-पिधान-सहित सूत्र होते हैं (चि ५१ में श्व) और धूसर संबंधक में मैदस पिधान रहित सू धूसर संबंधक के तार पिंगल गंड की बहुध्रुव सेलों से नि लते है ; ये तार या तो नाड़ी की शाखाओं द्वारा आगे चले जाते हैं अर्थात् जहां नाड़ी की शाखाएं जाती हैं व चले जाते हैं या पाश्चात्य मूल द्वारा सुषुम्ना को चले ज हैं। श्वेत संबधक के तार नाड़ी से निकलकर गंड में ज हैं ; या तो उनका उसी गंड में या किसी अन्य ऊपर वाली नीचे वाली गंड में सेलों के पास अंत हो जाता हैं; इन से से निकले हुए नये तार आगे को जाते हैं (चित्र ५१)।

शृंखला की गंडे एक दूसरे से भी तारों द्वारा सं रखती हैं; ये तार गंडों के बीच की कड़ियों (चित्र ५१ म) में से हो कर गुज़रते हैं।

इन गंडों से और तार भी निकलते है जो शृंखला पृथक रहने वाली गंडों में जाते हैं; इन गंडों से तार शृंख के गंडों में आते भी है (चित्र ५१)। इन तारों और गंडों जाल बन जाते हैं जिन से निकली हुई नाड़ियां वक्षस्थ उदरस्थ अंगों को जाती हैं। शरीर में तीन बड़े **पिंगल ना जाल** हैं-एक वक्ष में जिस से निकली हुई नाड़ियां फुप्फु हृदय, महाधमनी इत्यादि को जाती हैं; दूसरा उदर के ऊ के भाग में (कौड़ी प्रदेश में) पहले कटी कशेरूका के सा

चित्र ५१ पिंगल नाड़ी मंडल



इस की शाखाएं आमाशय, अंत्र, यकृत, क्लोम महा धमनी इत्यादि को जाती हैं. तीसरा उदर के नीचे के भाग में पांचवे कटीकशेरुका के सामने महा धमनी की अंतिम शाखाओं के बीच में रहता है इस की शाखाएं वस्तिगह्वरस्थ अंगों को (मूत्राशय, गर्भाशय इत्यादि) जाती है।

शरीर में जितनी ग्रन्थियां हैं (जैसे लाला ग्रन्थि, यकृत, क्लोम, घर्म ग्रन्थि , अंत्र की दीवारों की ग्रन्थियां इत्यादि) या जहां जहां अनैच्छिक मांस हैं (जैसे त्वचा में लोम कूपों से लगा हुआ. रक्त वाहिनियों की दीवारों में, अंत्र की दीवार में) वहां सब जगह मास्तिष्क और सौषुम्न नाड़ियों के तार किसी न किसी प्रकार पिंगल नाडी मंडल में से हो कर जाते हैं। ये तार धूसर होते है, ऐच्छिक मांस को जाने वाले तार श्वेत होते हैं। ये सब गति संबंधी तार हैं। फुप्फुस,हृदय, अंत्र इत्यादि अंगों से जो नाडी सूत्र मस्तिष्क या सुषुम्ना को जाते हैं वे भी इसी पिंगल नाड़ी मंडल में से हो कर जाते हैं, ये सांवेदनिक हैं।

उपरोक्त से स्पष्ट है कि मास्तिष्क और सौषुम्न नाड़ियों के तारों को ग्रन्थियों तथा अनैच्छिक मांस वाले अंगों में पहुंचने के लिये इन नाड़ी गंडों में से चक्कर खा कर जाना पड़ता है, वे इन जगहों में ऐच्छिक मांस की भांति सीधे नही पहुंच सकते।

चित्र ५१ की व्याख्या

सौषुम्न नाड़ी का पिंगल नाड़ी मडल से क्या सम्बन्ध है यह इस चित्र में दर्शाया गया है।

ग = पिंगल गंड· स = सेल: म = दो गंडों के बीच में रहने वाले नाड़ीसूत्र या कड़ी; प = पाश्चात्य मूल; प गं = पाश्चात्य मूल की गंड; अ = पूर्व मूल; र = रक्त वाहिनियां ; श्व = श्वेत संबंधक; ध = धूसर संबंधक ; क गं = गंड शृंखला से पृथक एक नाड़ी गंड; अं = अंत्र; श = श्लैष्मिक कला: मा = मांस ।

इस चित्र में तीन प्रकार के तार हैं (१,२,३) । जिन तारों में मोटे विन्दुक दिखाए गये हैं (१) वे चेतना संबंधी या सांवेदनिक तार हैं जैसे (च) ये तार सौषुम्न नाडी के पाश्चात्य मूल की गंड की सेलों से निकलते हैं । जिन तारोंमें नन्हे नन्हे विन्दुक हैं (२) वे धूसर तार हैं और पिंगल गंडों की सेलों से निकलते हैं जैसे (ध) । जिन तारों में बिंदुक नहीं हैं (३) वे गति सम्बन्धी हैं और सुषुम्ना के धूसर भाग के अगले शृंग की सेलों से निकलते हैं जैसे (ग) ।

सौषुम्न नाड़ियों के गति संबंधी तार अंत्र तक इस प्रकार पहुंचते हैं:—सुषुम्ना से ये पूर्व मूल में आते हैं (ग) यहां से मिश्रित नाड़ी में जाते हैं; नाडी से श्वेत संबंधक में ; इस के द्वारा शृंखला को किसी गंड मे यहां से या तो सीधे या इस शृखला की किसी और गंड में हो कर पिंगल जाल में पहुंचते हैं, पिंगल जाल की एक दो गंडों में हो कर वे अंत्र की दीवार में जा पहुंचते हैं ।

चेतना संबंधी या सांवेदनिक तार अंत्र से आरम्भ हो कर (चित्र ५१ में अंत्र के पास च) पिंगल जाल में होते हुए शृंखला में पहुचते हैं; वहां से श्वेत संबंधक द्वारा नाड़ी में पहुंचते हैं ; नाड़ी की पाश्चात्य मूल में हो कर सुषुम्ना को जाते हैं । यह याद रखना चाहिये कि यह वास्तव में पाश्चात्य मूल की एकध्रुव सेल का ही तार है।

त्वचा तथा धड़ और शाखाओं की रक्तवाहिनियों के अनैच्छिक मांस में गति संवंधी तार इस प्रकार पहुंचते हैं:-ये तार पहिले पूर्व मूल में आते हैं, फिर श्वेत सवंधक द्वारा शृंखला में पहुंचते हैं और वहां सेलों के पास इनका अन्त हो जाता है, सेलों से नये तार निकलते हैं जो धूसर संवधक द्वारा फिर नाड़ी में जा मिलते हैं, ये धूसर तार फिर नाड़ी की शाखाओं द्वारा त्वचा तथा रक्त वाहिनियों और घर्म ग्रन्थियों में पहुंचते हैं।

धूसर और श्वेत संवंधकों से मिलने के पीछे नाड़ी में तीन प्रकार के तार रहते हैं (च,ग,त)

१. ऐच्छिक मांस के लिये गति सवंधी तार जो मैदस पिधान सहित होते हैं (ग)

२. सांवेदनिक तार (च), इन में भी मैदस पिधान होता है।

३. अनैच्छिक मांस के लिये धूसर तार जो पिधान रहित होते हैं (त)।

अध्याय २२

नाड़ी सूत्रों का कार्य

नाड़ी सूत्र (या तार) विजली (विद्युत्) के तारों के समान काम करते हैं। जिस प्रकार वैद्युत तारों द्वारा समाचार एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचते हैं वैसेही इन जीवित तारों द्वारा शरीर में समाचार एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाते हैं। मस्तिष्क शरीर पर राज्य करता है, नाड़ी तार उस के दूत हैं। मस्तिष्क की आज्ञा शेष अंगों को इन्हीं तारों द्वारा पहुंचती है। जब ये अंग कोई संदेशा या सूचना मस्तिष्क को पहुँचाना चाहते हैं तब यही तार इस सूचना या संदेशे को ले जाते हैं।

वे तार जिन के द्वारा समाचार मस्तिष्क की ओर जाते हैं उन तारों से जो मस्तिष्क की आज्ञा शेष अंगों को पहुंचाते हैं भिन्न होते हैं। इस प्रकार नाड़ी मंडल में दो भांति के तार होते हैं:—

१ **केन्द्रत्यागी** तार—ये मस्तिष्क और सुषुम्ना से आरंभ होकर और अंगों को जाते हैं।

२. **केन्द्रगामी** तार—ये अंगों से आरंभ हो कर मस्तिष्क और सुषुम्ना को जाते हैं।

सब नाड़ियां इन्हीं दो प्रकार के तारों से बनती हैं। कुछ नाडियों में एक ही प्रकार के तार होते हैं केन्द्रगामी या केन्द्रत्यागी, कुछ में दोनों प्रकार के तार मिले रहते हैं। सौषुम्न

नाडियों में दोनों प्रकार के तार होते हैं। मास्तिष्क नाडियों में से कुछ में केवल केन्द्रगामी तार होते हैं (जैसे घ्राण नाड़ियां, दृष्टि नाड़ी); कुछ में केवल केन्द्रत्यागी तार होते हैं जैसे (तीसरी, चौथी और छठी नाड़ियां); कुछ में दोनों प्रकार के तार मिले रहते हैं जैसे (त्रिशाखा नाड़ी, मौखिक नाड़ी)। केन्द्रगामी तार सांवेदनिक होते है; केन्द्रत्यागी तार गत्युत्पादक।

केन्द्रत्यागी नाड़ी तारों का इष्टप्रदेश

केन्द्रत्यागी तारों के इष्टप्रदेश मांस और ग्रन्थियां है। ये तार या तो सीधे या पिंगल नाडीमंडल के गंडों में से हो कर अपने अपने इष्टप्रदेशों में पहुंचते हैं। ऐच्छिक मांस में (पेशियों में) वे सीधे विना पिंगल गंड़ों में घुसे नाड़ियों द्वारा पहुंच जाते है, अनैच्छिक मांस में (धमनियों, हृदय तथा अन्नमार्ग की दीवारों में) और ग्रन्थियों (घर्म ग्रन्थि, लाला ग्रन्थि, यकृत इत्यादि) में ये तार किसी न किसी प्रकार पिंगल नाड़ी मंडल में से हो कर जाते हैं (देखो पिंगल नाड़ी मंडल)

जब नाड़ी मांस में पहुंचती है तो उस के तार अलग अलग हो जाते हैं; प्रत्येक मांस सेल को एक सूक्ष्म तार जाता है। जब हम हाथ उठाना चाहते हैं तो हमारा मस्तिष्क नाड़ियों द्वारा हाथ की विशेष पेशियों को (जिन का उस गति से संबंध है) संकोच और विसार करने की आज्ञा देता है तारों की सूक्ष्म शाखाओं द्वारा यह आज्ञा प्रत्येक सेल को मिलती है; सब सेलें उस आज्ञा का पालन करके संकोच या विसार करती है और इससे इष्ट गति उत्पन्न होती है।

अनैच्छिक मांस की गति का न तो हम को कोई ज्ञान रहता है न हम इच्छानुसार उस में कोई गति उत्पन्न कर सकते हैं। आवश्यकतानुसार मस्तिष्क से इस मांस को आज्ञा आती रहती है, जिससे यह अपना काम ठीक ठीक किया करता है। हृदय का धड़कना, धमनी का फड़कना, अंत्र में कृमिवत् आकुंचन का होना, शीत के प्रभाव से बालों का खड़ा हो जाना—ये सब अनैच्छिक गतियां हैं। ग्रन्थियां भी अपना काम मस्तिष्क की आज्ञानुसार बिना हमारे जाने किया करती हैं।

सौषुम्न नाड़ियों के केन्द्रत्यागी तार सुषुम्ना की सेलों से निकलते हैं। मास्तिष्क नाड़ियों के केन्द्रत्यागी तार धूसर वल्क की सेलों से नहीं निकलते ; वे या तो सुषुम्नाशीर्षक की सेलों से निकलते हैं या उन सेल समूहों से जो मध्य मस्तिष्क और सेतु में रहते हैं। जिस स्थान या सेलसमूह से ये तार निकलते हैं वह उस नाड़ी का **उत्पत्तिस्थान** या **उत्पत्तिकेन्द्र** कहलाता है। इस उत्पत्तिस्थान का मस्तिष्क के वल्क की सेलों से संबंध रहता है जैसा कि हम आगे चलकर बतलायंगे।

केन्द्रगामी तार।

इन तारों द्वारा शरीर के विविध भागों से सूचनाएं मस्तिष्क तक पहुंचती हैं। जब आप के हाथ में कांटा चुभता है तो इस बात की सूचना मस्तिष्क को इन्हीं तारों द्वारा मिलती है। ऐसे ही जब प्रकाश की किरणें चक्षु के अंतरीय पटल या परदे पर पड़ती हैं तो इन किरणों से इस परदे पर जो प्रभाव पड़ता है उस की सूचना मस्तिष्क को इन तारों

द्वारा ही मिलती है। जिस तरह वैद्युत तार खराब हो जाने या कट जाने से समाचार एक स्थान से दूसरे स्थान तक नहीं पहुंचा सकते उसी तरह जब किसी अंग के केन्द्रगामी तारों में कोई विकार हो जाता है (जैसे उपदंश और एक प्रकार के कुष्ट या कोढ़ मे) या वे कट जाते हैं तब उस अंग से सूचना मस्तिष्क तक नहीं पहुंच सकती।

शिर के अगले भाग और मुख को छोड़ कर शेष सब शरीर की त्वचा में सौषुम्न नाड़ियों के तार फैले रहते हैं। शिर के अगले भाग की त्वचा में और दांतों में केन्द्रगामी-तार मस्तिष्क की त्रिशाखा नाड़ियों द्वारा आते हैं। दृष्टि के लिये मस्तिष्क की दूसरी नाड़ी है, घ्राण के लिये पहली नाडियां, रस या स्वाद के लिये सातवी और नौवीं नाडियां और शब्द के ज्ञान के लिये आठवीं नाडियां हैं।

केन्द्रगामी तारों के उत्पत्ति स्थान

सौषुम्न नाड़ियों की पाश्चात्यमूल सम्बन्धी गंडों मे बहुत सी एकध्रुव सेलें होती हैं। प्रत्येक सेल से एक छोटा तार निकलता है जो शीघ्र ही दो तारों में विभक्त हो जाता है (देखो चित्र ५१ में प ग) इन में से एक तार सुषुम्ना की ओर जाता है (इन तारों से नाड़ी की पाश्चात्य मूल बनती है) और सुषुम्ना के भीतर घुस जाता है; दूसरा तार नाडी द्वारा त्वचा को जाता है। त्वचा में बहुत सी छोटी छोटी विशेष कार्य करने वाली चीजें होती हैं जिन को **साँवेदनिक कण** कहते है (देखो पहिला भाग चित्र ५७ में क.)। इन-कणों में उष्णता, शीत, दबाव इत्यादि से विशेष प्रकार का परिवर्तन होता है; इस प्रभाव की सूचना मस्तिष्क

को सांवेदनिक या केन्द्रगामी तारों द्वारा पहुंचा करती है। यह सूचना सुषुम्ना में से हो कर जाती है: यदि सुषुम्ना उस स्थान से ऊपर जहां ये तार उस में घुसें कट जावे तो यह सूचना ऊपर को न जा सकेगी। पाश्चात्य मूल की गंडें सौषुम्न नाडियों के केन्द्रगामी तारों के उत्पत्तिस्थान या केन्द्र हैं। यह स्पष्ट है कि ये केन्द्र सुषुम्ना के वाहर हैं।

मास्तिष्क नाड़ियों के केन्द्रगामी तारों का आरंभ भी मस्तिष्क से वाहर ही होता है। जिन सेलों से ये तार निकलते हैं वे या तो इन नाड़ियों से सम्बन्ध रखने वाली गंडों में रहते हैं या उन स्थानों में रहती हैं जहां से इन नाड़ियों का आरंभ होता है। दृष्टि नाड़ी के तार चक्षु के अंतरीय पटल (सांवेदनिक पटल) में रहने वाली सेलों से निकलते हैं और नाड़ी द्वारा मस्तिष्क के दृष्टि केन्द्र को जाते हैं: श्रावण नाड़ी के तार अंतस्थ कर्ण के कोकला नामक भाग में रहने वाली छोटी छोटीगंडों की सेलों से निकलते हैं और मस्तिष्क के श्रावण केन्द्रों को जाते हैं; ऐसे ही घ्राण और स्वाद तारों के विषय में समझिये।

उपरोक्त से विदित है कि केन्द्रत्यागी तारों के उत्पत्ति स्थान (चाहे ये तार मास्तिष्क नाड़ियों में हों और चाहे सौषुम्न नाडियों में) मस्तिष्क या सुषुम्ना के भीतर होते हैं परंतु केन्द्रगामी तारों के उत्पत्तिस्थान सुषुम्ना और मस्तिष्क से वाहर रहते हैं।

अब हम यह बतलायेंगे कि मस्तिष्क के धूसर भाग (वल्क) का केन्द्रत्यागी तारों के उत्पत्ति स्थानों से क्या सम्बन्ध है और केन्द्रगामी तारों का मस्तिष्क में जा कर कहां अंत होता है।

मस्तिष्क की सेलों का सुषुम्ना की सेलों से संबंध

वृहत् मस्तिष्क के वल्क (वहिःस्थ धूसर भाग) के विविध भागों के जुदा जुदा काम हैं । किसी भाग का शरीर की गतियों से सम्बन्ध है, किसी का पीड़ा, उष्णता, शीत के ज्ञान से सम्बन्ध है; कोई भाग मनन शक्ति से सम्बन्ध रखता है और कोई दृष्टि, स्वाद, घ्राण इत्यादि से । ये भाग वैसे तो पृथक पृथक हैं परंतु इन सब का आपस में तारों द्वारा सम्बंध रहता है (देखो चित्र ५०) जैसे दृष्टि संबंधी भाग से कुछ तार गति या स्पर्श संबंधी भाग को जाते हैं और गति या स्पर्श संबंधी भागों के कुछ तार दृष्टि संबंधी भागों में आते हैं ।

मस्तिष्क का उतना भाग जो एक विशेष काम के लिये नियत है एक **केन्द्र** कहलाता है। केन्द्रों के नाम उन के कार्यानुसार रक्खे जाते हैं । जिस भाग का दृष्टि से सम्बन्ध है वह **दृष्टि केन्द्र** कहलाता है, जिसका सुनने या श्रवण से सबंध है वह **श्रावण केन्द्र** कहलाता है इसी प्रकार **घ्राण, स्वाद, श्वासोच्छ्वास, हृदय** केन्द्र हैं (देखो चित्र ५२,५३)। जब कोई केन्द्र बडा होता है या दूर में फैला रहता है तो उसको **क्षेत्र** कहते हैं जैसे **गति क्षेत्र, संवेदना क्षेत्र ।**

वृहत् मस्तिष्क का श्वेत भाग तारों से बनता है जो अधिकतर धूसर भाग की सेलो से निकलते हैं । ये तार एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते हैं (चित्र ५०) । बहुत से तार एक गोलार्ध से निकलकर महा संयोजक में से हो कर दूसरे गोलार्ध में चले जाते हैं और वहां की सेलों के पास उनका अंत होता है । कुछ तार नीचे उतरते हैं और मध्य मस्तिष्क,

सेतु या सुषुम्नाशीर्षक में रहनेवाले मास्तिष्क नाड़ियों के उत्पत्ति स्थानों की सेलों के पास पहुंचते हैं : कुछ तार सेतु वाहु में से होकर लघुमस्तिष्क में जाते हैं ; शेष तार सुषुम्ना में नीचे उतरते हैं, और जगह जगह धूसर भाग में सेलों के पास रह जाते हैं, इन में से कुछ तारों को थोड़ी ही दूर जाना पड़ता है, कुछ को सुषुम्ना के अंत तक।

इसी प्रकार लघुमस्तिष्क की सेलों से निकले हुए तारों का हाल है, इन में से कुछ तो सेतु में होकर वृहत् मस्तिष्क की सेलों के पास पहुंचते हैं ; कुछ नीचे को सुषुम्ना में चले जाते हैं।

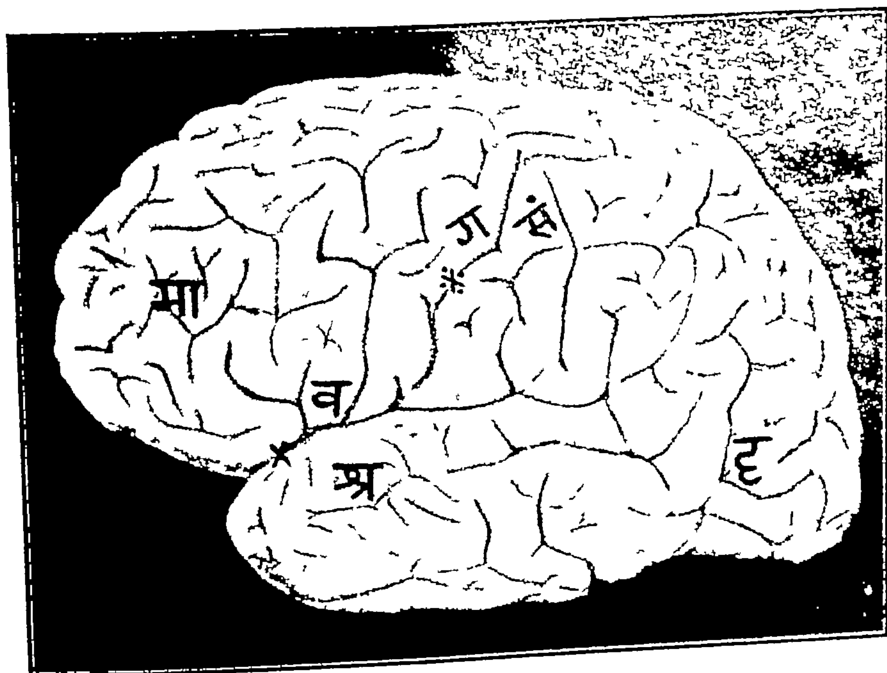
सुषुम्ना, सुषुम्ना शीर्षक, सेतु इत्यादि से तार लघुमस्तिष्क और वृहत् मस्तिष्क को जाया करते हैं।

जब एक तार किसी सेल के निकट पहुंचता है तब उसकी अनेक पतली पतली शाखाएं हो जाती हैं जिन से एक झाड़ सा बन जाता है। इस झाड़ के तार सेल के छोटे छोटे तारों से मिले रहते हैं। ये तार आपस में उसी प्रकार मिले रहते हैं जिस प्रकार पास पास उगी हुई झाड़ियों की शाखाएं। इस मेल का अभिप्राय यह है कि जो सूचना या आज्ञा तार द्वारा आवे वह सेल को मिल जावे। यदि आवश्यकता हो तो सेल से यह आज्ञा सेल के तार द्वारा आगे को जा सकती है।

मस्तिष्क के केन्द्र (चित्र ५२,५३)

जिस प्रकार नाड़ियां दो दो होती है एक दाहिनी दूसरी बाईं उसी प्रकार वृहत् मस्तिष्क के केन्द्र भी दो दो होते : एक दाहिनी ओर दूसरा बाईं ओर। वृहत् मस्तिष्क का दाहिना भाग शरीर का बाएं भाग पर और बायां भाग शरीर

चित्र ५२ वृहत् मस्तिष्क का पार्श्विक पृष्ठ



के दाहिने भाग पर शासन करता है। किसी राज्य के विभागों की तरह या किसी ज़िले के अफ़सरों की तरह ये केन्द्र अपने अपने कामों के लिये ज़िम्मेदार हैं, आवश्यकतानुसार ये केन्द्र एक दूसरे से मिलकर काम करते हैं।

बृहत् मस्तिष्क के बाहरी पृष्ठ पर माध्यमिक सीता (चित्र ५२ में *) के सामने जो चक्रांङ्ग है (चित्र ५२ में ग) वह **गति क्षेत्र** है; इस का शरीर की गतियों से सम्बन्ध है। माध्यमिक सीता के पीछे जो चक्रांग है वह **संवेदन क्षेत्र** कहलाता है; इस का स्पर्श, शीत, उष्णता के ज्ञान से सम्बन्ध है (चित्र ५२ में सं)। गति क्षेत्र के सामने जो भाग है उस का बुद्धि, ज्ञान, और मनन शक्ति से सम्बंध माना जाता है (चित्र ५२ में मा); यह **मानस क्षेत्र** है। संवेदन क्षेत्र के पीछे ऊपर के किनारे के पास **रूप** और **आकार** के केन्द्र हैं (चित्र ५३)। शख खंड में पार्श्विक सीता के नीचे **श्रावण केन्द्र** है (चित्र ५२ में श्र, चित्र ५३ मे श्रावण)। गति क्षेत्र के नीचे के भाग के पास और पार्श्विक सीता के ऊपर **वाणी केन्द्र** है (चित्र ५३ में वाद, ५२ में व); इसका सम्बंध बोलने से है। वाणी केन्द्र एक ही होता है, जो लोग दाहिने हाथ से अधिक काम करते हैं उनमें वाणी केन्द्र बाईं ओर होता है; जो लोग खब्बे होते हैं उन में यह केन्द्र दाहिनी ओर होता है। पाश्चात्य खंड में **दृष्टि केन्द्र** होता है (चित्र ५२,५३) आकार केन्द्र के नीचे पार्श्विक खंड में पढ़ने का केन्द्र है, यह **पाठ केन्द्र** है (चित्र ५३)। घ्राण और **स्वाद** केन्द्र

के स्थान शंखभ्रुव के मुडे हुए भाग में (जो मध्य पृष्ठ पर दिखाई देता है) समझे जाते हैं ; सुभीते के लिये चित्र ५३ में ये स्थान वाह्य पृष्ठ पर दिखा दिये गये हैं।

उपरोक्त क्षेत्रों और केन्द्रों में से कुछ के थोड़े थोड़े भाग मध्य पृष्ठ पर भी रहते हैं।

बृहत् मस्तिष्क के कोष्ठों की तली में धूसर पदार्थ से निर्मित तीन बड़े पिंड होते हैं ; इन में से एक को **केत्वाकार पिंड** कहते हैं क्योंकि यह कुछ पुच्छल तारे जैसा होता है ; दूसरा पिंड अंडाकार होता है और केत्वाकार पिंड के पीछे रहता है . इस को **थैलेमस*** कहते हैं ; तीसरा पिंड **नालूपम** पिंड कहलाता है। ये पिंड अधिकतर सेलों से बनते हैं ; इन में मस्तिष्क के कई भागों से तार आते हैं और यहां से नये तार निकलकर और जगह भी जाते हैं कुछ वैज्ञानिकों का विचार है कि इन पिंडों का **चित्तवृत्तियों** से और तापक्रम स्थिर रखने से सम्बंध है।

गतिक्षेत्र के केन्द्र (चित्र ५३)

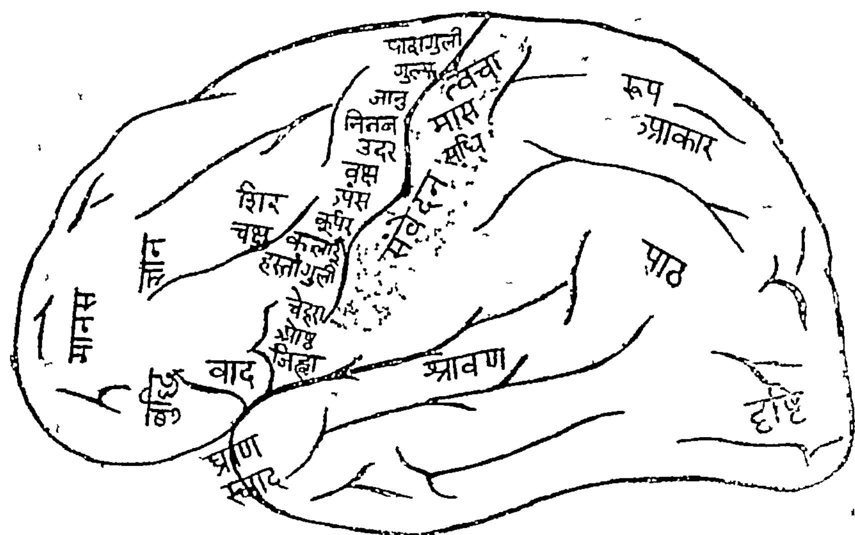
गतिक्षेत्र के ऊपर के भाग में अधो शाखा के विविध भागोंकी गति से सम्बन्ध रखने वाले केन्द्र हैं ; सब से ऊपर पादांगुली केन्द्र है, उसके नीचे गुल्फ, जानु. नितंब केन्द्र हैं। अधोशाखा के केन्द्रों के नीचे उदर और उदर के नीचे वक्ष की गतियों के केन्द्र है, फिर ऊर्ध्व शाखा के जैसे अंस (स्कन्ध कूर्पर, कलाई, हस्तांगुली) । ऊर्ध्व शाखा के सामने शिर और चक्षु के केन्द्र हैं। ऊर्ध्व शाखा के नीचे चेहरा, जिह्वा इत्यादि हैं ।

* अंग्रेजी भाषा

गति केन्द्रों का चालक नाड़ियों के उत्पत्ति स्थानों से सम्बन्ध

गति केन्द्रों की सेलों से जो तार निकलते हैं वे चालक नाड़ियों के उत्पत्ति स्थानों तक जाते हैं जहां कहीं भी ये स्थान हों। मास्तिष्क चालक नाड़ियों के उत्पत्ति स्थान मध्य मस्तिष्क, सेतु और सुषुम्ना शीर्षक में रहते हैं, सौषुम्न चालक नाड़ियों के उत्पत्ति स्थान धूसर भाग के पूर्व शृंग ही हैं। इस लिये गति केन्द्रों के कुछ तारों का मध्य मस्तिष्क, सेतु और सुषुम्ना शीर्षक में अंत होता है और कुछ का सुषुम्ना में।

चित्र ५३ बृहत् मस्तिष्क के केन्द्र।



मस्तिष्क के अधो भाग में जो दो स्तंभ देखे थे (चित्र ४८ में ज) उनका अधिक भाग इन तारों से बनता है; इन स्तंभों के

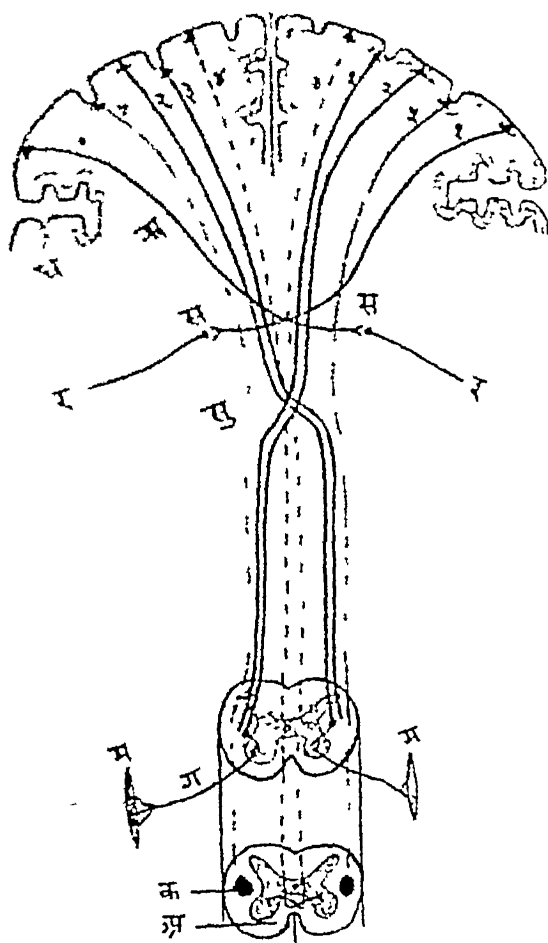
कुछ तार सेतु में, कुछ सुषुम्नाशीर्षक में रह जाते हैं ; शेष सुषुम्ना में चले जाते हैं।

दाहिने गति क्षेत्र का शरीर के बाएं भाग की गति से और बाएं का दाहिने भाग की गति से सम्बन्ध है। इसलिये जो तार दाहिने गति क्षेत्र से निकलते हैं वे मध्यरेखा को पार कर के बाईं ओर के उत्पत्ति स्थानों में पहुंचते हैं ; बाएँ गति क्षेत्र के तारों को दाहनी ओर जाना पड़ता है। सुषुम्नाशीर्षक के अगले भाग में दो सूच्याकार पिंड होते हैं, (चित्र ३६ में १६) ये गति क्षेत्र के उन तारों के समूह हैं जो सुषुम्ना को जाने वाले हैं ; इन में से बहुत से तार एक ओर से दूसरी ओर हो जाते हैं और फिर सुषुम्ना के पार्श्विक भाग में रहते हैं, इन तारों का एक ओर से दूसरी ओर जाना नंगी आंखों से भी दिखाई देता है (चित्र ३६ में २३)। ज्यों ज्यों ये तार नीचे को जाते हैं उन की संख्या कम होती जाती है क्योंकि जगह जगह कुछ तारों का अंत होता रहता है (चित्र ५४ में २,३)

गति क्षेत्र से आये हुए तारों में से कुछ तार सुषुम्ना शीर्षक में मध्य रेखा को पार नहीं करते ; वे (जिस ओर से आये हैं उसी ओर) सुषुम्ना में सीधे जाते हैं। इनमें से बहुत से तार तो सुषुम्ना के भीतर मध्यरेखा को काट कर एक ओर से दूसरी ओर हो जाते हैं (चित्र ५४ में ४,२) ; कुछ ऐसे हैं कि मध्य रेखा को कभी भी नहीं काटते, जिस ओर से आये हैं उसी ओर उनका अंत होता है— (चित्र ५४ में ५)

तारों का उपरोक्त वर्णन चित्र ५४ से स्पष्ट हो जायगा।

चित्र ४४ गति पथ



ध=स्हत्व मस्तिष्क का धूसर भाग श्र = श्वेत भाग

१=ये तार गति क्षेत्र से मास्तिष्क नाड़ियों के उत्पत्ति स्थानों तक (स) जाते हैं जो मध्य मस्तिष्क, सेतु और सुषुम्ना शीर्षक मे रहते हैं । यहां की सेलों के नये तारों मे चालक नाड़ियां बनती हैं (र)

२ और ३=ये तार सुषुम्ना शीर्षक में मध्य रेखा को पार करके एक ओर

नाड़ियां जाती हैं वहां गति पथ मस्तिष्क और मास्तिष्क नाड़ियों से ही बनता है, सुषुम्ना से उस का कोई सम्बन्ध नही होता।

किसी इष्ट गति के लिये किन किन चीज़ों की आवश्यकता है

१. मानस क्षेत्र की सेलें।

२ विशिष्ट गति केन्द्र की सेलें।

३. गति केन्द्र की सेलों के तार।

४ नाड़ी या नाड़ियों के उत्पत्ति स्थान की सेलें।

५ उत्पत्ति स्थान की सेलों के तार जिन से नाड़ी बनती है।

६ मांस सेलें।

इन छः चीज़ों से पूरी मशीन बनती है ; यदि इस मशीन का कोई पुर्ज़ा भी खराब हो जावे तो गतियां ठीक ठीक या बिलकुल न होंगी।

हिस्टीरिया इत्यादि रोगों में मानस क्षेत्रों के ठीक ठीक काम न करने से गतियों में फर्क़ आ जाता है ; कभी कभी रोगी बोल नहीं सकता या चल नही सकता। गति क्षेत्र की धमनी में रक्त के जम जाने के कारण या रक्त का बहाव रुक जाने से या धमनी के फट जाने से इस स्थान की सेलें ठीक ठीक काम नहीं कर सकती या बिलकुल बेकार हो जाती हैं ; इस से दूसरी ओर का चेहरा, हाथ या पैर शिथिल हो जाते हैं। मस्तिष्क के भीतर धमनी कभी कभी फट जाती है ; इस रक्त के दबाव से नीचे को जाने वाले तार टूट जाते

हैं; तारों के टूट जाने से शरीर का आधा भाग शिथिल हो जाता है; इसी को पक्षाघात (या फालिज) कहते हैं; यदि रक्तक्षरण दाहिनी ओर हो तो पक्षाघात बाईं ओर होगा अर्थात् चेहरे के बाएं भाग में गति न हो सकेगी, बायां हाथ और बायां पैर न उठेगा। कभी कभी रक्तक्षरण मस्तिष्क में ऐसे स्थान पर होता (जैसे सेतु में) है कि जहां चेहरे के तार तो मध्य रेखा को पार कर चुके हैं परन्तु शाखाओं के तार उसी ओर हैं; ऐसे रक्त क्षरण से एक ओर के चेहरे और दूसरी ओर के हाथ पावों पर असर पड़ता है। ज़ोर से बोलने या अधिक क्रोध करने या अधिक शारीरिक या मानसिक परिश्रम करने से कुछ लोग अकस्मात् बेहोश हो जाते हैं और उन का आधा शरीर निश्चेष्ट हो जाता है, इस का कारण बहुधा मस्तिष्क की धमनी का फटना या धमनी में रक्त का जमना या रक्त के बहाव का रुक जाना होता है।

सुषुम्ना के प्रदाह से या रक्तक्षरण से या उस के कट जाने से भी पक्षाघात हो जाता है। यह पक्षाघात अपूर्ण होता है; इस में चेहरा बच जाता है। जिस ओर अपकार होता है या चोट लगती है उसी ओर पक्षाघात भी होता है। एक हाथ, या दोनों हाथ, एक पैर या दोनों पैर, दोनों हाथ और दोनों पैर या केवल दोनों पैर पक्षाघातग्रस्त हो सकते हैं।

नाड़ियों के रोगों के कारण या चोट के कारण उन के कट जाने से भी निश्चेष्टता उत्पन्न हो सकती है जैसे मौखिक नाड़ी के वातग्रस्त होने से चेहरे की एक ओर की बहुत सी पेशियां निश्चेष्ट हो जाती हैं (इसी को लक़वा मारना कहते हैं)।

पेशियां अपने रोगों के कारण भी निश्चेष्ट हो जाती हैं।

व्याख्या—इन चित्रों मे ऊर्ध्व शाखा की त्वगीया नाडिया दिखाई गई हैं

चित्र ५५ में —१,२=पाश्चात्य और मध्य उपाक्षिका त्वगीया नाड़िया।

३=कक्षीया नाडी की त्वगीया शाखा।

४, ५, ६, १०=प्रकोष्ठ की मध्य त्वगीया।

४,६=प्रगड की मध्य त्वगीया।

७=प्रगड की वाह्य त्वगीया।

८=प्रकोष्ठ की वाह्य त्वगीया।

११,१२=हस्त तल की त्वगीया नाडिया।

१३,१४=अगुष्ठ तथा अगुलियो की त्वगीया नाडिया।

चित्र ५६ मे —१=पाश्चात्य उपाक्षिका त्वगीया।

२=कक्षीया नाडी की त्वगीया शाखा।

३=दूसरी पर्शुकातरिक नाडी की प्रगड को जाने वाली त्वगीया शाखा।

४=प्रगड की मध्य त्वगीया।

५=प्रकोष्ठ की पाश्चात्य त्वगीया।

६,७=प्रकोष्ठ की मध्य त्वगीया की शाखाए।

८=प्रकोष्ठ की वाह्य त्वगीया।

९=करभ तथा अगुलियो की मध्य त्वगीया।

१०=करभ तथा अगुलियो की वाह्य त्वगीया।

चित्र ५५ ऊर्ध्वशाखा का सामने का भाग



चित्र ५६ ऊर्ध्व शाखा का पिछला भाग

मास्तिष्क वा सौषुम्न नाड़ियों के केन्द्रगामी तारों का मस्तिष्क के संवेदना क्षेत्र और विशेष ज्ञान केन्द्रों से सम्बन्ध

हमारी मुख्य* ज्ञानेन्द्रियां ये हैः—त्वचा, चक्षु, कर्ण, नासिका और जिह्वा। केन्द्रगामी तार इन इन्द्रियों से आरंभ होकर मास्तिष्क या सौषुम्न नाड़ियों द्वारा मस्तिष्क में पहुंचते हैं। चक्षु, कर्ण, नासिका और जिह्वा के केन्द्रगामी तार विशेष नाड़ियों द्वारा बृहत् मस्तिष्क के विशेष ज्ञान केन्द्रों में जाते हैं; इन ज्ञान केन्द्रों में पहुंचने से पहले वे मध्य रेखा को काट कर एक ओर से दूसरी ओर हो जाते हैं।

त्वचा के सांवेदनिक तार तीन प्रकार की सूचनाएं मस्तिष्क को ले जाते हैं—१. स्पर्श की, २ शीत या उष्णता की ३. पीड़ा की। पेशियों के सांवेदनिक तारों द्वारा उन के संकोच करने की सूचना मस्तिष्क को पहुंचती है; संधियों और अस्थियों के सांवेदनिक तारों द्वारा पीड़ा इत्यादि की सूचना और इस बात की सूचना की गति हो रही है मस्तिष्क को मिलती है।

त्वचा, मांस, संधियों तथा अस्थियों से आरंभ हो कर ये सांवेदनिक तार सौषुम्न नाड़ियों की पाश्चात्य मूलों द्वारा सुषुम्ना में घुसते हैं (शिर के अधिक भाग की त्वचा, और पेशियों इत्यादि के तार मस्तिष्क में सीधे घुस जाते हैं)।

---

* पेशिया और सधिया भी ज्ञानेन्द्रियो का काम करती हैं। पेशियो मे दोनों प्रकार के तार होते हैं—केन्द्रगामी और केन्द्रत्यागी। पहले तारो द्वारा यह सूचना कि पेशी सकोच कर रही है मस्तिष्क को पहुंचा करती है।

व्याख्या —इन चित्रों मे अधोशाखा का त्वगीया नाडिया दिखाई गई हैं।

चित्र ५७ मे —वं=वंक्षण की त्वगीया।

व=ऊरू की वाह्य त्वगीया।

म=ऊरू की मध्य त्वगीया।

अ=ऊरू की अतरीय त्वगीया।

ज=जानु।

पि=जघा की मध्य त्वगीया।

१,२,३=जघा की पूर्व नाडी की त्वगीया शाखाए।

चित्र ५८ में —१२वी वाक्षसी नाडी की त्वगीया शाखा।

न=पहली कटी नाडी की नितव में रहने वाली त्वगीया।

त्र=त्रिक नाडियो की त्वगीया शाखाए।

व=ऊरू की वाहय त्वगीया नाडी को शाखाए।

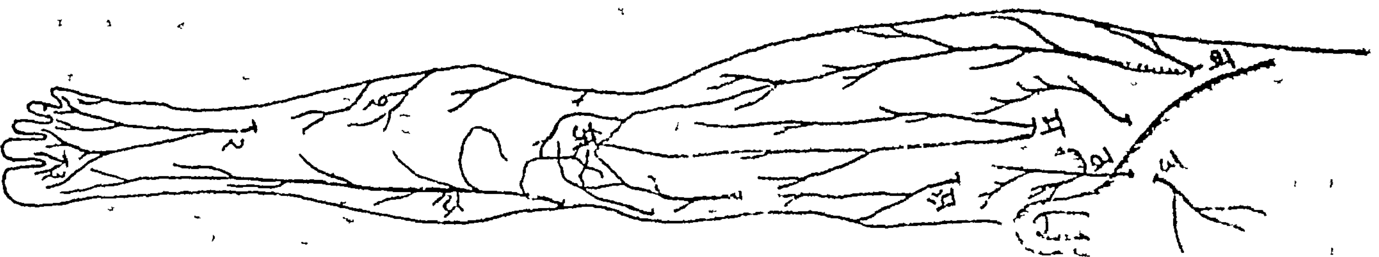
प=ऊरू की पाश्चात्य त्वगीया नाडी की शाखाए।

अ=ऊरू की अत त्वगीया नाडी की शाखा।

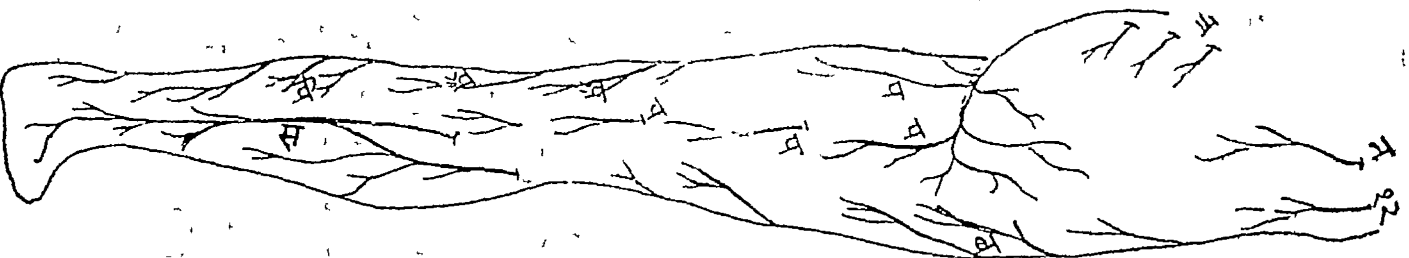
पि=जंघा की मध्य त्वगोया।

स=जघा की सयुक्त त्वगीया।

चित्र ५७ अधो शाखा का सामने का भाग



५८ अधो शाखा का पिछला भाग



सुषुम्ना में पहुंच कर तापक्रम और पीड़ा सम्बन्धी तार और स्पर्श सम्बन्धी तारों में से अधिक तार मध्य रेखा को पार करके एक ओर से दूसरी ओर हो जाते हैं और फिर सुषुम्ना-शीर्षक, सेतु और मस्तिष्क स्तंभ में से हो कर **थैलेमस** नामक धूसर पिंड में पहुंचते हैं ; यहां बहुत से तारों का अंत हो जाता है और नये तार आरंभ हो कर माध्यमिक सीता के पीछे रहने वाले संवेदना क्षेत्र में पहुंचते हैं (चित्र ५३)

शेष सांवेदनिक तार (पेशी, अस्थि तथा संधि सम्बन्धी और मध्य रेखा को पार करने वाले स्पर्श सम्बन्धी) सुषुम्ना में चढ़ कर सुषुम्नाशीर्षक के पिछले भाग में रहने वाले सेल समूहों (चित्र ३७ में १८, १९) में पहुंचते हैं; यहां उनका अंत हो जाता है और सेलों से नये तार निकलते हैं जो शीघ्र ही एक ओर से दूसरी ओर चले जाते हैं और फिर ऊपर चढ़ कर थैलेमस में पहुचते हैं ; यहां से नये तार निकल कर संवेदना क्षेत्रमें पहुंचते हैं।

सुषुम्ना के पाश्चात्य शृंगों की कुछ सेलों के तार ऊपर चढ़कर लघुमस्तिष्क में जाया करते हैं ; इन तारों का **साम्य-स्थिति** से सम्बन्ध है जैसा कि हम आगे चल कर समझावेंगे। ये तार जिस ओर आरंभ होते हैं लघुमस्तिष्क के उसी ओर के भाग में उन का अंत होता है।

विशेष ज्ञानेन्द्रियों के सम्बन्ध में हम इतना ही कहना काफ़ी समझते हैं कि उन के तार मस्तिष्क में पहुंच कर दूसरी ओर के विशेष ज्ञानकेन्द्रों में पहुंचते हैं।

संवेदना क्षेत्र का गति क्षेत्र से और विशेष ज्ञानकेन्द्रों (दृष्टि, घ्राणादि) का आपस में एक दूसरे से और संवेदना क्षेत्र

से और इन में से प्रत्येक का गति क्षेत्र से तारों द्वारा सबंध रहता है। इन सब का मानस क्षेत्र से भी सबंध रहता है। अब हम केन्द्रगामी तारों का कार्य समझाते हैं।

माने आपके दाहिने हाथ पर गरम जल गिर पड़ा ; इस गरम जल की गरमी से हाथ की त्वचा के सांवेदनिक कणों पर एक विशेष प्रकार का प्रभाव पड़ा या परिवर्तन हुआ। इस परिवर्तन की सूचना त्वगीया तारों द्वारा सुषुम्ना को तुरंत जाती है; ऊर्ध्व शाखा की नाड़ियां सुषुम्ना के ऊपर के भाग से निकलती हैं ये तार सुषुम्ना में पाश्चात्य मूलों द्वारा सुषुम्ना में घुसते हैं। सुषुम्ना में इन तारों की छोटी छोटी शाखाएं तो सेलों के पास रह जाती हैं परन्तु वे स्वयं शीघ्र ही सुषुम्ना के बाएं भाग में पहुंच कर सुषुम्नाशीर्षक और सेतु में होते हुए स्तंभ में पहुंचते हैं। स्तभ द्वारा बाएं थैलेमस में पहुचते है और यहीं रह जाते हैं ; यहां से फिर नये तार निकलते है जो ऊपर चढ़ कर बाएं संवेदना क्षेत्र मे पहुंचते हैं। इस क्षेत्र की सेलों का गति क्षेत्र की सेलों से और मानस क्षेत्र से सम्बन्ध है, यदि हम गरम जल को पसन्द नहीं करते तो मानस क्षेत्र हाथ के उस स्थान से हटाने की गति क्षेत्र को आज्ञा देता है और हाथ वहां से हट जाता है।

ज्ञानपथ

त्वचा, चक्षु इत्यादि ज्ञानेन्द्रियों से मस्तिष्क के संवेदना वा विशेष ज्ञानकेन्द्रों तथा मानस क्षेत्र तक ज्ञान या संवेदना के जाने का जो रास्ता है उसको ज्ञानपथ कहते है। किसी विशेष ज्ञान के लिये इन इन चीजों की आवश्यकता है:—

१. ज्ञानेन्द्रिय–त्वचा, नासिका इत्यादि ।

२. सांवेदनिक या ज्ञानवाही (केन्द्रगामी) तार जो नाड़ियों द्वारा सुषुम्ना या मस्तिष्क में पहुंचते हैं ।

३ ज्ञान केन्द्र ।

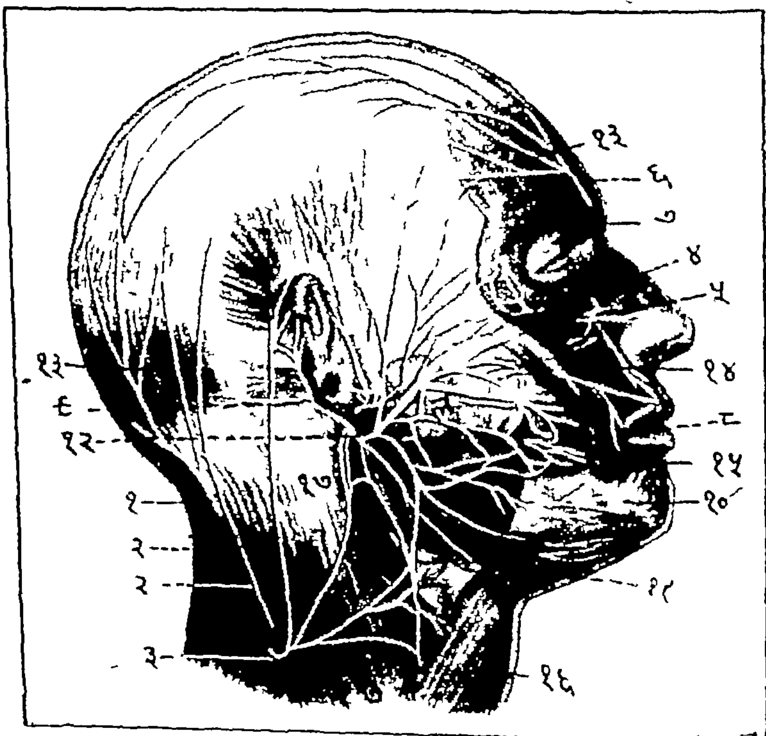
४ मानस क्षेत्र ।

ज्ञानेन्द्रिय न हो या रोगों के कारण खराब हो जावे तो हम को वह विशेष ज्ञान न होगा; चक्षु के न होने से प्रकाश का ज्ञान नहीं होता । जब त्वगीय नाड़ियां रोगों के कारण खराब हो जाती हैं तब स्पर्श, तापक्रम इत्यादि की सूचना मस्तिष्क तक नहीं पहुंच पाती, एक प्रकार के कुष्ट में त्वगीय नाड़ियां खराब हो जाती हैं, आप त्वचा में सुई चुभा दें तब भी रोगी को कुछ भी पीड़ा न होगी । सुषुम्ना के कट जाने से (जैसे जब रीढ़ टूट जाती है) या मस्तिष्क के उस भाग में जिस में से हो कर सांवेदनिक तार ऊपर चढ़ते हैं रक्तक्षरण होने से शरीर का आधा भाग सुन्न हो जाता है। ज्ञानेन्द्रियों और नाड़ियों और सुषुम्ना और मस्तिष्क में से जाने वाले तारों के ठीक रहते हुए भी ऐसा हो सकता है कि हम को प्रकाश, शब्द इत्यादि का ज्ञान न हो ; यदि दृष्टि केन्द्र चोट लगने से बिगड जावे तो मनुष्य अन्धा या काना हो सकता है आंख चाहे ज्यों की त्यों दिखाई दे। जब मानस क्षेत्र के बिगड़ने के कारण मनुष्य पगला हो जाता है तब भी उस को चीजों का ज्ञान भली प्रकार नहीं रहता ।

लघुमस्तिष्क का कार्य

जब हमारे शरीर में कोई गति होती है तो कुछ पेशियों का संकोच होता है और कुछ का विसार ; प्रत्येक गति के

चित्र ५९ शिर की नाड़ियां



चित्र ५६ को व्याख्या —इस चित्र मे शिर को मुख्य नाडिया दर्शाइ गई हैं।

१, २ शिर का पाश्चात्य त्वगीया नाडिया।

३ ग्रैवेयी त्वगीया नाडी।

४ गंड नाडी की शाखाए।

५ नेत्राधरीय नाडी।

६ अधिभ्रु नाडी।

७ नेत्रनिमीलनी पेशी।

८ त्रिशाखा नाडी की कपोलीय शाखा।

९ मौखिक नाडी की एक शाखा।

१० चिबुक नाडी।

११ १२वीं मास्तिष्क नाडी (जिह्वाधो वर्ती नाडी)

१२ मौखिक नाडी।

१३ शिरश्छदा (कपालच्छदा) पेशी।

१४ ऊर्ध्वोष्ठगत चतुरस्रा पेशी।

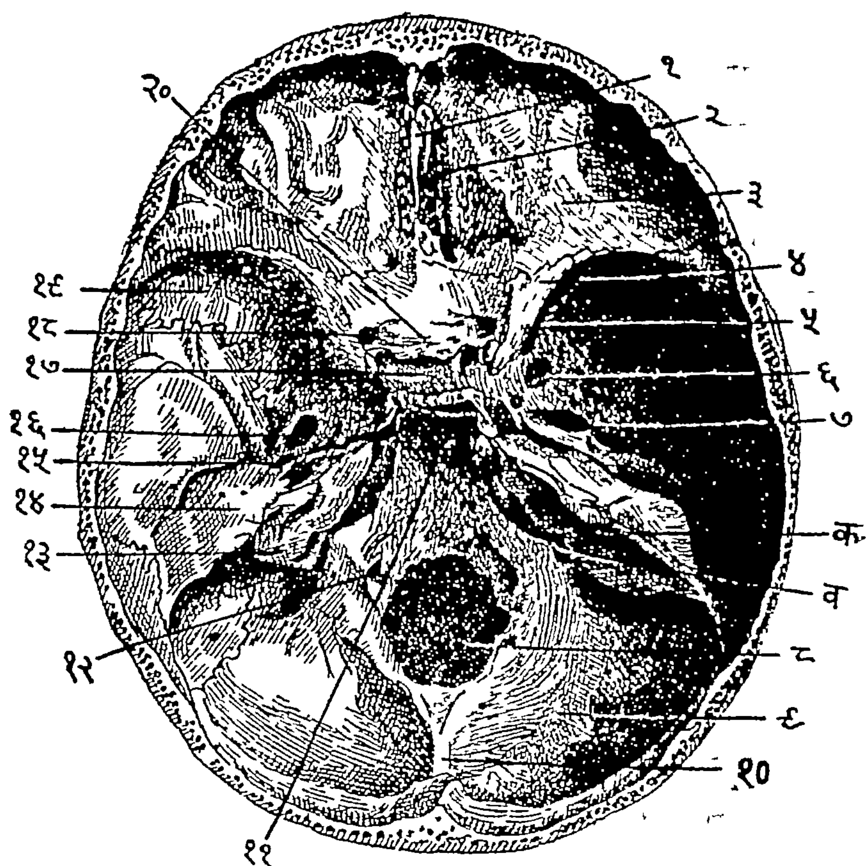
१५ मुख सकोचनी पेशी।

१६ गलपार्श्वच्छदा पेशी।

१७ उर कर्णमूलिका (शिर चालनी) पेशी

ल=कर्णाग्रवर्ती लाला ग्रन्थि।

चित्र ६०—कपाल की तली (करोटि पीठ)



व्याख्या —१=चहुछिद्र या झर्झरास्थि का शिखर कण्टक। २=झर्झरास्थि का चालनी पटल जिस में घ्राण नाडियो के लिये छिद्र हैं। ३=ललाटास्थि का नेत्रच्छदि फलक, यह भाग कपाल का अग्र महाखात है; इस पर वृहत् मस्तिष्क का ललाट खड टिकता है। ४=जतूकास्थि का लघुपक्ष। ५=पक्षान्तरालम्। ६=वृत्त छिद्र। ७=जाम्बव (अडाकार) छिद्र। ८=महा छिद्र। ९=कपाल का पाश्चात्य खात; यहा लघुमस्तिष्क का एक गोलार्ध रहता है। १०=यहा लघु दात्रिका लगता है। ११=यहा सेतु और

सुषुम्नाशीर्षक रहते हैं। १२=जिह्वाधोवर्ती नाडी के निकलने के लिये छिद्र १३=शखास्थि के सूच्याकार भाग (या अश्म कूट) का पाश्चात्य पृष्ठ। १४=अश्म कूट का पूर्व पृष्ठ। १५=जतूकास्थि का कोण छिद्र। १७=इस खात में हाइपोफिसिस नामक अंग रहता है। १८=दृष्टि नाडी छिद्र। १९=जतूकास्थि का बृहत् पक्ष। २०=दृष्टि नाडी परिखा। क=कर्णान्त-द्वार। व=मन्याविवरम्।

लिये इन दोनों बातों का होना आवश्यक है। जब हम कुहनी मोड़ते हैं तो प्रगंड के सामने की पेशियां (द्विशिरस्का तथा कूर्पर नमनी) सिकुड़ती हैं परन्तु प्रगंड की पिछली पेशियां (त्रिशिरस्का वा कूर्पर प्रसारणी) ढीली पड़ जाती हैं, यदि नमनी पेशियां संकोच करें और प्रसारणी पेशियां ढीली न पड़ें तो कुहनी का मुड़ना असम्भव हो। यह बात चलना, बैठना, खड़ा होना इत्यादि गतियों के विषय में भी समझनी चाहिये।

जहां एक ओर मस्तिष्क कुछ पेशियों को चालक नाडियों द्वारा संकोच करने की आज्ञा देता है वहां दूसरी ओर विरोधिनी पेशियों को संकोच बंद करने की भी आज्ञा देता है। जब ये दोनों प्रकार की आज्ञाएं ठीक ठीक मिलती हैं तब गतियां अच्छी तरह से होती हैं। लघुमस्तिष्क इस बात के लिये ज़िम्मेदार है कि गतियां ठीक ठीक होवें। लघु मस्तिष्क की सेलों के कुछ तार बृहत् मस्तिष्क के गतिक्षेत्र में पहुंचते हैं; इन तारों द्वारा लघुमस्तिष्क का उपदेश गति क्षेत्र की सेलों को मिलता रहता है। लघुमस्तिष्क का दाहिना भाग बृहत् मस्तिष्क के बाएं भाग का और बायां भाग दाहिने भाग का सहकारी है। इस तरह से शरीर के बाएं भाग की गतियों का लघुमस्तिष्क के बाएं भाग से और दाहिने भाग की गतियों का लघुमस्तिष्क के दाहिने भाग से सम्बन्ध है।

कुछ रोगों में लघुमस्तिष्क खराब हो जाता है: कभी कभी उसमें फोड़ा बन जाता है। उसके बिगड़ जाने पर गतियां ठीक ठीक नहीं हो पातीं। रोगी की चाल ऐसी हो जाती है जैसी कि मद्यपान करने वाले की; उसके पैर ज़मीन पर ठीक ठीक नहीं टिकते और वह घूमता हुआ और लड़खड़ाकर चलता है।

गतियों के ठीक ठीक होने से शरीर में साम्यस्थिति रहती है। लघुमस्तिष्क का कार्य शरीर मे **साम्यस्थिति** रखने का है

त्वचा से, संधियों से, पेशियों से, चक्षु से और कर्ण की अर्धचक्राकार नालियों से जो सांवेदनिक तार मस्तिष्क को जाते हैं उन में से कुछ लघुमस्तिष्क में भी पहुंचते हैं। इन ज्ञानेन्द्रियों से उसको समय समय पर समाचार पहुंचते रहते हैं, उन्ही समाचारों के अनुसार वह गतिक्षेत्र को उपदेश देता है। साम्यस्थिति के लिये कर्ण की अर्धचक्राकार नालियां शेष ज्ञानेन्द्रियों की अपेक्षा अधिक आवश्यक हैं; जब हम चलते फिरते हैं या करवट बदलते हैं तो इन नालियों के भीतर रहने वाला तरल हिलता है जिस से इन नालियों की नाड़ियों पर विशेष प्रकार का प्रभाव पड़ता है; इस प्रभाव की सूचना लघुमस्तिष्क को मिलती है जिसके अनुसार पेशियों को (गतिक्षेत्र द्वारा) संकोच और विसार करने की आज्ञा मिलती है। जब श्रोतेन्द्रिय के रोगों के कारण यह नलियां बिगड़ जाती हैं तो कभी कभी घुमेर या चक्कर आने लगते हैं; हिन्डोले में घूमने से या रेल में या जहाज़ में पहली बार चलने से बहुत से मनुष्यों को घुमनी-आ जाती है, बहते हुए जल की ओर देर तक टकटकी बांधकर देखने से भी चक्कर

आ जाया करते हैं। ये सब बातें साम्यस्थिति बिगड़ जाने के उदाहरण हैं।

प्रत्यावर्तन ; परावर्तित क्रिया (चित्र ६१)

जब हम अन्धेरे से उजाले में जाते हैं तब हमारी पुतली तुरंत ही सिकुड़ कर छोटी हो जाती है, अन्यतः जब हम उजाले से अन्धेरे में जाते हैं तब पुतली फैल कर चौड़ी हो जाती है : दोनों दशाओं में हम को मालूम भी नहीं होता कि पुतली के आकार में कोई परिवर्तन हुआ है या नहीं।

जब कोई मनुष्य हमारी आंख की ओर अंगुली लाता है या जब कोई चीज़ अकस्मात् आंख में लगने वाली होती है तब पलक एक दम झपक जाते हैं या हमारा हाथ आंख के सामने आ जाता है, इस क्रिया में हमारी इच्छा का कोई दखल नहीं है। यह काम इतनी फुरती से होता है कि हम को सोचने विचारने और इच्छा करने का अवकाश ही नहीं मिलता।

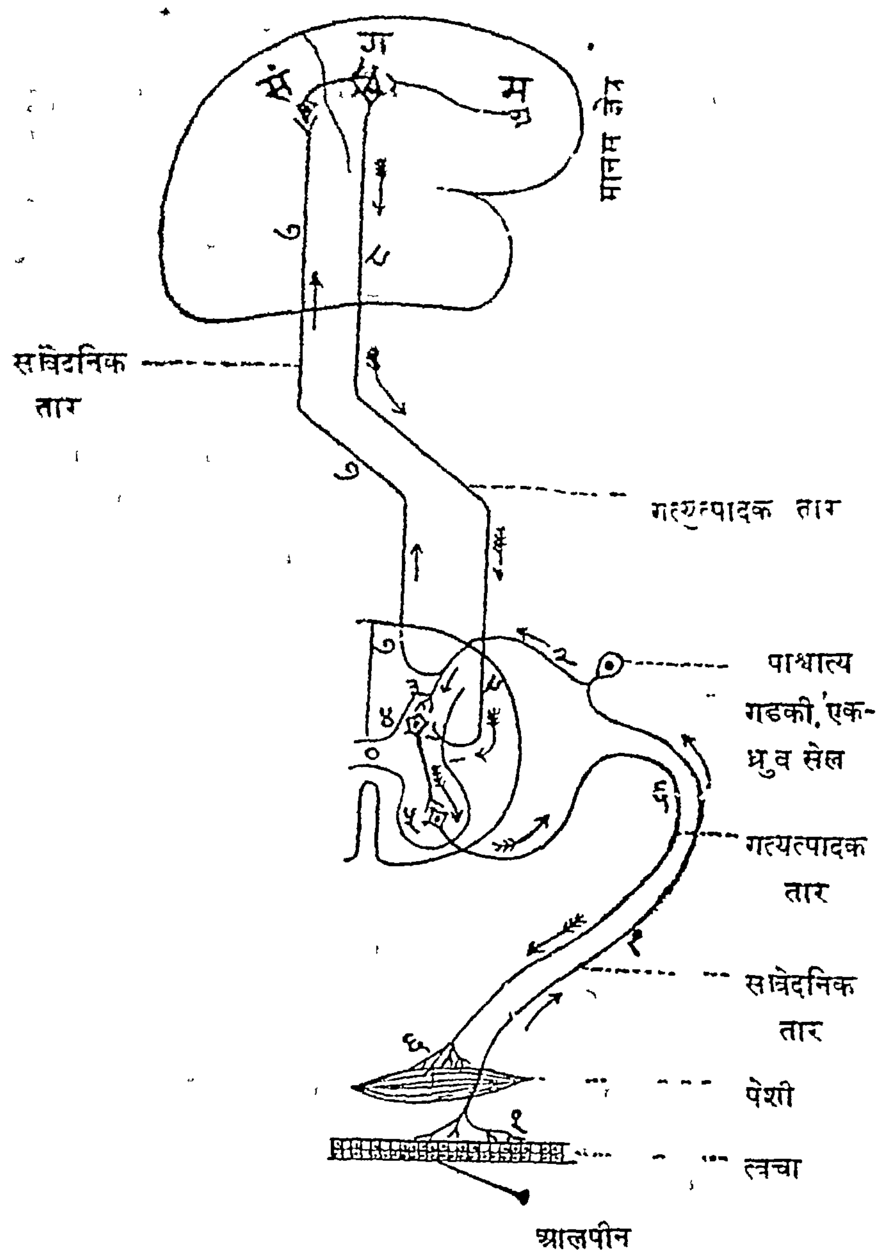
यदि कोई मनुष्य बिना आप से कहे आप के पैर के तलवे को अंगुली से या लकड़ी से खुजावे तो आप का अंगूठा ऊपर को मुड़ेगा और अंगुलियां नीचे को मुड़ेगी, या पैर उस स्थान से हट जावेगा। आप चाहें तो अंगुलियों और अंगूठे को न मुड़ने दें या पैर को वहां से न हटने दें परन्तु जब तक आप की इच्छा काम नहीं करती उस समय तक ये गतियां अवश्य होंगी।

स्वादिष्ट रोचक और प्रिय भोजन को देख कर मुंह में लाला और आमाशय में आमाशयिक रस बनने लगते हैं।

वह क्रिया जो किसी दूसरी क्रिया के उत्तर में विना हमारी इच्छा के या विना हमारे जाने होती है **परावर्तित क्रिया** कहलाती है। अब हम वतलाते हैं कि इस प्रकार की क्रियाएं कैसे हो पाती हैं :—

जब पैर का तलवा खुजाया जाता है तव त्वचा के सांवेदनिक (केन्द्रगामी) तारों द्वारा यह सूचना सुषुम्ना में पहुंचती है (चित्र ६१ में १,२) और वहां से मस्तिष्क को जाती है। सुषुम्ना में घुसकर केन्द्रगामी तार के कई भाग हो जाते हैं; एक छोटा भाग सुषुम्ना में ही अंत हो जाता है (चित्र ६१ में ३) बड़ा भाग ऊपर चढ़ता हुआ मस्तिष्क को जाता है (चित्र ६१ में ७); जो तार सुषुम्ना में रह जाता है उसका पूर्व शृंग की सेल से संवंध होता है (चित्र ६१ में ४, ५)। मस्तिष्क तक सूचना पहुंचने में कुछ देर लगती है ; इस बीच में सुषुम्ना की सेलें अपने आप काम करती हैं और वे केन्द्रत्यागी तारों द्वारा पेशियों को संकोच करने की आज्ञा देती हैं और पैर उस स्थान से हट जाता है या अंगुलियां मुड़ती हैं। इतने में सूचना मस्तिष्क को पहुंचती है और वह निश्चय कर लेता है कि क्या करना चाहिये। इस परावर्तित क्रिया में सुषुम्ना की सेलें उसी प्रकार काम करती हैं जिस प्रकार कि आवश्यकता पड़ने पर छोटा अफ़सर बड़े अफ़सर की अनुपस्थिति में या उसके दूर होने के कारण किसी बात की आज्ञा दे देता है। छोटे अफ़सर को जितना अधिकार है वह उसके अनुसार उस समय के लिये जो कुछ वह सब से उत्तम समझता है उस की आज्ञा देता है और साथ ही साथ बड़े अफ़सर को भी सूचना पहुंचाता है। बड़ा अफ़सर विचार करता है और यदि वह छोटे अफ़सर की आज्ञा से सहमत

चित्र ६१　परावर्तित क्रिया



है तो वह आज्ञा को वहाल रखता है ; यदि उसको अनुचित समझता है तो उस.को वदल कर नई आज्ञा देता है ।

जब पैर का तलवा अचानक खुजाया गया तो यह सूचना पाकर सुषुम्ना की सेलें पैर को वहां से हटाये जाने की आज्ञा दे देती हैं क्योंकि शायद शरीर को हानि पहुंचाने वाली चीज़ निकट हो। सुषुम्ना की सेलें निकट हैं और मस्तिष्क की दूर; इतने में मस्तिष्क को विचार करने का समय मिल जाता है (चक्षु,कर्ण इत्यादि ज्ञानेन्द्रियों से मस्तिष्क को निश्चय करने में सहायता मिलती है) ; यदि पैर का हटना अच्छा है तो वह हटा रहता है नहीं तो फिर अपनी जगह आ जाता है।

हमारे शरीर में वहुत सी परावर्तित क्रियाएं होती हैं ; इनका मुख्य प्रयोजन वहुधा शरीर की रक्षा करने का होता है।

चित्र ६१ की व्याख्याः—

इस चित्र में यह समझाया गया है कि परावर्तित क्रिया (प्रत्यावर्तन) किस प्रकार होती है।

१ – त्वगीया नाड़ी का तार।

२ = यह तार सूचना को सुषुम्ना मे ले जाता है। सुषुम्ना में इस के कई भाग हो जाते हे. एक तार (३) पाश्चात्य शृंग की सेल (४) के पास रह जाता है; यह सेल सूचना को पूर्व शृंग की सेल (५) तक पहुंचाती है जो अपने तार (६) द्वारा पेशी को संकोच करने की आज्ञा देती है।

३ = केन्द्रगामी तार का सुषुम्ना में ही अन्त हो जाने वाला भाग।

४ = सेल।

५ = पूर्व शृंग की सेल।

६=मांस में अंत होने वाला तार।

७=मस्तिष्क को जाने वाला केन्द्रगामी तार।

सं=सांवेदनिक क्षेत्र जिस की सेलें अपने तारों द्वारा गतिक्षेत्र की सेलों से संबन्ध रखती है।

ग=गति क्षेत्र।

म=मानस क्षेत्र जिस की सेलों का गति क्षेत्र की सेलों से सम्बन्ध है।

८=इस तार द्वारा गति करने की आज्ञा सुषुम्ना की सेलों को पहुंचती है।

(१) ऐच्छिक क्रिया:—जब हम कोई गति अपनी इच्छा से करते हैं तो मानस क्षेत्र की सेलों की आज्ञा पाकर गति क्षेत्र की सेलें सुषुम्ना (यदि गति का सम्बन्ध मास्तिष्क नाडियों से है तो उन नाड़ियों के उत्पत्ति स्थान) की सेलों को आज्ञा देती हैं और गति हो जाती है। आज्ञा **म** से आरम्भ हो कर **ग, ८, ४, ५,** में से होती हुई **६** में पहुंचती है।

(२) परावर्तित क्रिया:—इस का मार्ग यह है—त्वचा, १, २, ३, ४, ५, ६ मांस।

अध्याय २३

चक्षु

हमारे दो चक्षु या नेत्र होते हैं। भ्रूओं के नीचे नासिका के दाहिनी और बाईं ओर कर्पर में दो गढ़े होते हैं; इन को **अक्षिखात या नेत्र गूहा** कहते हैं। आंख का गोला (**अक्षि गोलक**) इसी गढ़े में रहता है। चक्षु एक बड़ा उपयोगी और परमावश्यक अंग है। बिना चक्षु के जीवन में आनन्द प्राप्त नहीं होता। इस अंग के द्वारा हम को प्रकाश का ज्ञान होता है, इसी के द्वारा हम सब संसार को देखते हैं; रंग, रूप, आकार का बोध भी इसी की सहायता से होता है।

जितना आवश्यक यह अंग है उतना ही उस की रक्षा का प्रबन्ध भी किया गया है। अस्थि से बनी हुई कोठरी जिस में वह रहता है उस के अगले भाग को छोड़ कर शेष भाग की अच्छी तरह से रक्षा करती है। अगले भाग की रक्षा के लिये दो पलक या **नेत्रच्छद** हैं। जब कोई मनुष्य आंख के सामने अंगुली लाता है तो ये पलक तुरंत बंद हो जाते हैं; सोते समय भी इन पलकों के बंद हो जाने से आंख का अगला भाग सुरक्षित रहता है। पलकों के किनारो पर बाल लगे रहते हैं; ये **अक्षि पक्ष्म** या **अक्षि लोम** कहलाते हैं। इन बालो से भी आंख की रक्षा होती है, धूल मिट्टी के छोटे छोटे ज़र्रे इन मे फस जाते है और वायु में उडने वाले छोटे छोटे कीड़े भी बहुधा इन में फंस कर आंख के बाहर ही रह जाते

हैं। अक्षिखात के ऊपर बालों की एक महाराब होती है जिस को भ्रु या भौं कहते हैं। माथे का पसीना भौं के कारण आंख में जाने से रुक जाता है।

चक्षु की बनावट

चक्षु की बनावट छाया चित्र खींचने वाले यंत्र की बनावट से बहुत कुछ मिलती है। हम पहिले इस यंत्र की साधारण बनावट बतलायेंगे और फिर उस की चक्षु की बनावट से तुलना करेंगे। यह यंत्र वास्तव में एक अंधेरी कोठरी है; इस कोठरी में एक ओर एक छिद्र होता है जिस में एक शीशा या ताल लगा रहता है; दूसरी ओर अर्थात् ताल के सम्मुख कांच का एक तख़्ता या सेट लगा रहता है जिस पर मसाला चढ़ा रहता है वस्तुओं का प्रतिबिंब इस मसाले चढ़े हुई सेट पर ही पड़ा करता है। प्रकाश की किरणें ताल में से हो कर कोठरी में घुसती हैं और फिर इस सेट से टकराती हैं। ताल के सामने एक यंत्र ऐसा लगा रहता है जिस के द्वारा हम इच्छानुसार यह कर सकते हैं कि प्रकाश उस ताल में से हो कर कम जावे या अधिक जावे या बिलकुल न जावे। जब मसला साफ़ होता है और धूप तेज़ होती है तब तसवीर खींचने के लिये कम प्रकाश की आवश्यकता होती है, जब बादल होते हैं या धूप हलकी होती है तब ताल के सामने वाले यंत्र का छिद्र चौड़ा कर देने की आवश्यकता होती है ताकि जितने प्रकाश की आवश्यकता है उतना प्रकाश सेट पर पड़े। कोठरी की बनावट ऐसी होती है कि हम उस को आवश्यकतानुसार लम्बी या छोटी कर सकते हैं ताकि प्रतिबिंब ठीक सेट पर पड़े। छाया चित्रण

यंत्र की स्थूल बनावट यही है, उस में तरह तरह के पेच लगे रहते हैं जिन से इस समय हम को कोई मतलब नहीं।

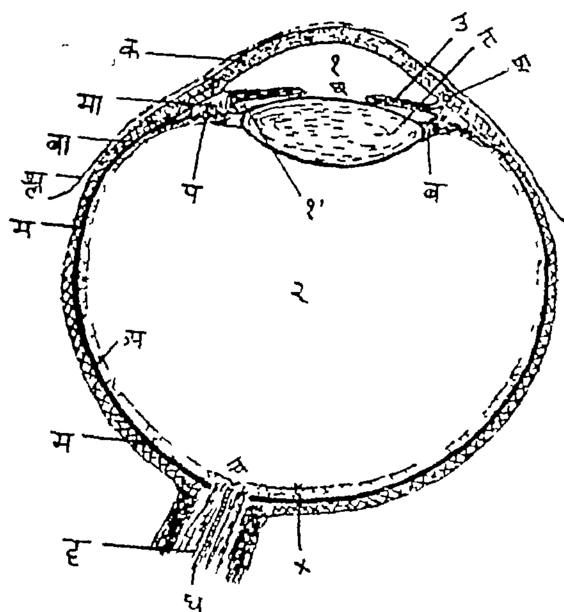
हमारी चक्षु की बनावट उपरोक्त यंत्र की बनावट से बहुत कुछ मिलती है। यंत्र की तरह उस में भी एक अंधेरी कोठरी है जिस के अगले भाग में एक ताल लगा रहता है. यह कोठरी गोल होती है चौकोर नहीं· छाया चित्रण यंत्र की कोठरी की लम्बाई कम और अधिक की जा सकती है परंतु चक्षु की कोठरी का परिमाण कम अधिक नहीं किया जा सकता; जो काम यंत्र मे कोठरी की लम्बाई को कम या अधिक करने से होता है वह चक्षु में ताल की मोटाई को कम या अधिक करने से निकलता है अर्थात् चक्षु का ताल मोटा और पतला हो सकता है। चक्षु में प्रकाश के कम या अधिक प्रवेश कराने के लिये ताल के सामने एक परदा लगा रहता है जिस में एक छिद्र होता है: यह छिद्र आवश्यकतानुसार छोटा या बड़ा हो सकता है प्रकाश को बिलकुल रोकने के लिये दो पलक होते हैं। चक्षु के पिछले भाग में छाया चित्रण यंत्र के मसाला चढ़ी प्लेट के स्थान में एक सांवेदनिक झिल्ली लगी रहती है; वस्तुओं का प्रतिबिंब इसी पर पड़ता है।

चक्षु का आकार (चित्र ६२)

यदि हम दो गोले लें एक बड़ा और एक छोटा और फिर प्रत्येक गोले के काट कर दो टुकड़े करलें एक छोटा और दूसरा बड़ा और अब बड़े गोले के बड़े टुकड़े में छोटे गोले का छोटा टुकड़ा जोड़ दे तो चक्षु का आकार इस संयुक्त गोले के सदृश होगा। आंख का अगला $\frac{१}{६}$ भाग छोटे

गोले के छोटे भाग के और पिछला ५/६ भाग बड़े गोले के बड़े भाग के बराबर है। अगला भाग स्वच्छ होता है पिछला अस्वच्छ। पिछला भाग छाया चित्रण यंत्र की अंधेरी कोठरी के सदृश है और अगला भाग उस भाग की तरह है जिसमें से प्रकाश की किरणें कोठरी के भीतर प्रवेश करती हैं।

चित्र ६२ चक्षु का क्षितिज काट



१=आँख का अगला कोठ १'=पिछला कोठ २=बृहत् कोठ क=कनीनिका उ=उपतारा, छ=तारा, त=ताल ; ब=ताल बधन श=चक्रवत् शिराकुल्या का छिद्र ; प-उपतारानुमडल, मा-मास, वा-बाह्य पटल, श्ल-श्लैष्मिक कला म-मध्य पटल ; अ-अंतरीय पटल, च-चक्षु बिंब द-दृष्टि नाडी, ध-धमनी, ×-पीत बिन्दु

अक्षि गोलक की दीवार तीन तहों या **पटलों** से बनती है, इन का रंग जुदा जुदा होता है। जब आप आंख को देखते हैं तो अगला भाग काला सा दिखाई देता है और पिछला श्वेत। आंख का सब से बाहरी पटल श्वेत होता है, आंख का श्वेत भाग इसी से बनता है (चित्र ६२ में बा)। बाह्य पटल के भीतर मध्य पटल होता है जिस का रंग काला होता है (चित्र ६२ में म)। मध्य पटल के भीतरी पृष्ठ से अंतरीय पटल जिस का रंग नीललोहित होता है लगा रहता है (चित्र ६२ में अं)। अक्षिगोलक के पिछले $\frac{५}{६}$ भाग में तीनों पटल एक दूसरे से मिले रहते हैं, अगले $\frac{१}{६}$ भाग में इन का संविधान और प्रकार से है।

आंख का अगला भाग काला (कुछ जातियों में नीला) दिखाई देता है। यदि ग़ौर से देखा जावे तो मालूम होगा कि जो काली चीज़ दिखाई देती है वह पृष्ठ पर नहीं है; वास्तव में वह आंख के भीतर है और एक कांच जैसी स्वच्छ चीज़ में से चमकती हुई दिखाई देती है। यह स्वच्छ चीज़ आंख के अगले भाग की दीवार है (चित्र ६२ में क); यह पीछे जाकर श्वेत पटल से मिल गई है, वास्तव में यह समझना चाहिये कि आंख का बाह्य या श्वेत पटल आगे जा कर स्वच्छ और विवर्ण हो गया है। इस स्वच्छ भाग को **कनीनिका** कहते हैं (चित्र ६२ में क)।

कनीनिका में से चमकता हुआ एक काला (कुछ जातियों में भूरा या नीला) परदा दिखाई देता है; यह परदा मध्य पटल का अगला भाग है। इस परदे के बीच में एक गोल

छिद्र होता है जो फैलता हुआ और सिकुड़ता हुआ (बडा या छोटा होता हुआ) दिखाई दिया करता है। जब किसी अन्धेरी कोठरी की दीवार में कोई छिद्र होता है तो वह दूर से काला काला ही दिखाई देता है और ऐसा मालूम होता है कि वह एक काला धब्बा है, इसी प्रकार आंख में भी यह छिद्र काला काला ही दिखाई देता है। इस छिद्र (चित्र ६२ में छ) को पुतली या **तारा** कहते हैं और जिस परदे में यह छिद्र होता है उस को **उपतारा** कहते हैं (चित्र ६२ में उ)।

आंख के पिछले $\frac{५}{६}$ भाग में काला (मध्य) पटल श्वेत (बाह्य) पटल से बिलकुल मिला रहता है ; अगले $\frac{१}{६}$ भाग में यह मध्य पटल कनीनिका से (जो वास्तव में बाह्य पटल का ही भाग है) अलग हो जाता है और उस के पीछे उस से कुछ दूरी पर रहता है , कनीनिका के पीछे परन्तु उस से कुछ दूरी पर रहने वाले मध्य पटल के भाग को ही उपतारा कहते हैं।

नीललोहित पटल ज्यों ज्यों आगे को आता है पतला होता जाता है, उपतारा के पास पहुंच कर अत्यंत सूक्ष्म हो जाता है, यह सूक्ष्म भाग उपतारा के पिछले पृष्ठ से लगा रहता है।

उपतारा के पीछे आंख का **ताल** रहता है (चित्र ६२ में त)। इस का वही काम है जो छाया चित्रण यन्त्र के ताल का। ताल स्वच्छ होता है, बुढ़ापे में अस्वच्छ या धुंधला हो जाता है। ताल के धुंधले हो जाने को मोतिया बिंद रोग कहते हैं। जिस प्रकार धुंधले शीशे में से होकर प्रकाश की किरणें नहीं

गुज़र सकती उसी प्रकार आंख के ताल के धुंधले हो जाने के पश्चात् प्रकाश की किरणें उसमें से हो कर आंख के भीतर नही पहुंच पाता और मनुष्य को कम दिखाई देने लगता है या वह अंधा हो जाता है।

मसूर के दाने की तरह ताल गोल होता है। उस के दोनों पृष्ठ (सामने के और पीछे के) उभरे होते हैं अर्थात् वह युग्लोन्नतोदर होता है। अगला पृष्ठ पिछले से कम उभरा हुआ होता है। ताल का बाहरी भाग भीतर के (कैन्द्रिक) भाग से अधिक मुलायम होता है। अगले पृष्ठ के केन्द्र से पिछले पृष्ठ के केन्द्र तक का माप $\frac{१}{५}$ इंच (५ सहस्रांशमीटर) होता है, उस का व्यास (एक किनारे से दूसरे किनारे तक का माप) $\frac{१}{३}$ इंच (९ सहस्रांश मीटर) से कुछ कम होता है। ताल का भार सामान्यतः २ रत्ती (२१२-२५० सहस्रांश ग्राम) के लगभग होता है।

ताल के ऊपर एक पतला गिलाफ चढ़ा रहता है, इस को **ताल कोष** कहते है। ताल एक बंधन द्वारा उपतारानुमंडल से बंधा रहता है (चित्र ६२ में बं), उपतारा के पीछे जो उभरा हुआ भाग होता है उस को उपतारानुमंडल कहते हैं (चित्र ६२ मे प); इसमें अनैच्छिक मांस होता है (चित्र ६२ में मा) जिस के ऊपर मध्य पटल रहता है। ताल का बंधन एक ओर ताल की परिधि पर तालकोप से लाग रहता है दूसरी ओर उपतारानुमडल से। मांस के सकोच और विसार से ताल का बंधन ढ़ीला या तंग हो जाता है जिस की वजह से ताल का उन्नतोद्रत्व बढ़ या घट जाता है। जो काम छाया

चित्रण यंत्र में कोठरी की लम्बाई को कम या अधिक करने से निकलता है वह आंख में ताल की मोटाई को कम या अधिक करने से निकलता है : इस उन्नतोद्वत्व के कम या अधिक होने से वस्तुओं का प्रतिबिंब ठीक नीललोहित पटल पर पड़ता है ।

ताल के पीछे आंख का बड़ा कोष्ट है (चित्र ६२ में २); इस में एक गाढ़ा कुछ लसदार स्वच्छ अर्धतरल द्रव्य भरा रहता है: इस स्फटिकोपम वस्तु का काम चक्षु के आकार को स्थिर रखने का है: यदि इस कोष्ट में कुछ न होता तो आंख जरा से दबाव से पिचक जाया करती । इस द्रव्य के दबाव से आंख के तीनों पटल भी एक दूसरे से मिले रहते हैं । इस चीज़ में ९८.५०% जल होता है ।

आंख के पटलों की बनावट

बाह्य पटल—यह पीले और श्वेत सौत्रिक तंतु से निर्मित है और शेष दोनों पटलों की अपेक्षा अधिक मजबूत, मोटा और सख़्त होता है । नेत्रचालनी पेशियां इसी पटल से लगी रहती हैं । इस पटल का पिछला भाग अगले से अधिक मोटा होता है । पिछले भाग की मोटाई $\frac{१}{२४}$ इंच के लगभग होती है ।

कनीनिका—अणुवीक्षण द्वारा देखने से मालूम होता है कि उस में पांच तहें हैं । अगले पृष्ठ पर सेलों की चार या पांच स्तरें एक दूसरे के ऊपर बिछी रहती हैं । सेलों की तह के नीचे (या पीछे) एक सूक्ष्म कला होती है जिस मे सेलें नहीं देख पड़तीं; इस कला के नीचे सौत्रिक तंतु की मोटी तह होती है जिस में बहुत सी चपटी तर्काकार सेलें होती हैं ।

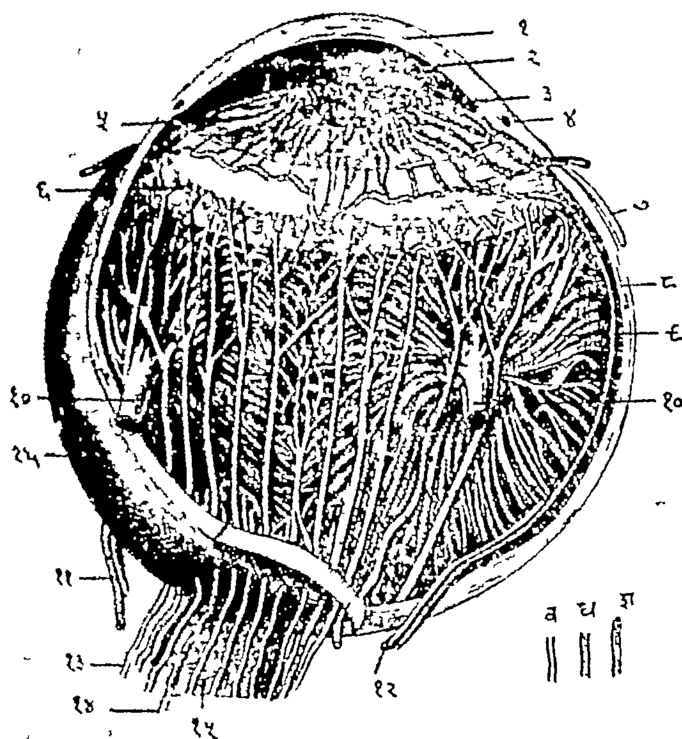
सौत्रिक तह के पीछे एक पतली स्थितिस्थापक कला रहती है। कनीनिका के पिछले पृष्ठ पर सेलों की एक तह बिछी रहती है।

कनीनिका केन्द्र के पास पतली होती है और परिधि के पास मोटी। परिधि के पास उस की मोटाई $\frac{१}{२४}$ इंच के लगभग होती है। कनीनिका में न रक्त वाहिनियां रहती हैं न रक्त परन्तु नाड़ियां बहुत होती हैं।

मध्य पटल—यह पीले सौत्रिक ततु से निर्मित है। इस पटल में बड़ी विशेषता यह है कि इस में रक्त वाहिनियां अधिक होती हैं। (चित्र ६३ में ८) इस पटल के भीतरी (अर्थात् अतरीय पटल से मिले रहने वाले) पृष्ठ पर रक्त केशिकाओं का एक घना जाल होता है। केशिकाओं के बीच मे और सौत्रिक तंतु में जो सेलें रहती हैं उन में एक स्याही मायल रंग भरा रहता है। इस रंग के कारण यह पटल काला दिखाई देता है। इस पटल का अगला भाग पिछले की अपेक्षा पतला होता है। दृष्टि नाड़ी के निकट इस की मोटाई $\frac{१}{२४०}$ इंच के लगभग होती है; उपतारानुमंडल के पास इस की मोटाई $\frac{१}{३५०}$ इंच के लगभग रह जाती है।

उपतारानुमंडल--(चित्र ६२ में प, ६३ में ६) इस के अतरीय पृष्ठ पर ७० या ८० **वलियां** (मेंढे) या झुर्रियां होती हैं ; ये वलियां एक दूसरे के समान्तर होती हैं और ताल की परिधि के पास रहती हैं। ताल का बंधन इन वलियों से ही लगा रहता है। उपतारानुमंडल में अनैच्छिक मास रहता है।

चित्र ६३



व्याख्या—इस चित्र में चक्षु की नाडियां तथा रक्त वाहिनियां दिखाई गई हैं। बाह्य पटल और कानीनिका के कुछ भाग काट कर हटा दिये गये हैं, इस से बाह्य पटल और मध्य पटल के बीच में रहने वाली नाडियां और मध्य पटल की रक्त वाहिनियां दिखाई देने लगी हैं।

१=कनीनिका २=पूर्व (अगला) कोष्ठ ३=तारा ४=चक्रवत् शिरा कुल्या ५=उपतारा ६=उपतारानुमंडल ८=बाह्य पटल ६=मध्य पटल १०=मध्य पटल की एक शिरा ११,१४=मध्य पटल, उपतारा तथा उपतारानुमंडल की धमनियां १२,१३=मध्य पटल, उपतारा तथा उपतारानुमंडल की नाड़ियां १५=दृष्टि नाडी १६=बाह्य पटल व=नाडी ध=धमनी श=शिरा।

उपतारा—यह सौत्रिक तंतु से निर्मित है जिस में बहुत सी सेलें रहती हैं, इन सेलों में रंग रहता है। उपतारा में अनैच्छिक मांस भी होता है; कुछ मांस तारा के चारों ओर चक्रवत् लगा रहता है और कुछ पहिये के आरों के समान तारा के किनारे से आरंभ हो कर परिधि की ओर जाता है। चक्रवत् लगे हुए मांस के संकोच से पुतली छोटी हो जाती है; जब इस मांस का विसार होता है या जब दूसरे मांस का संकोच होता है तो पुतली फैलती है।

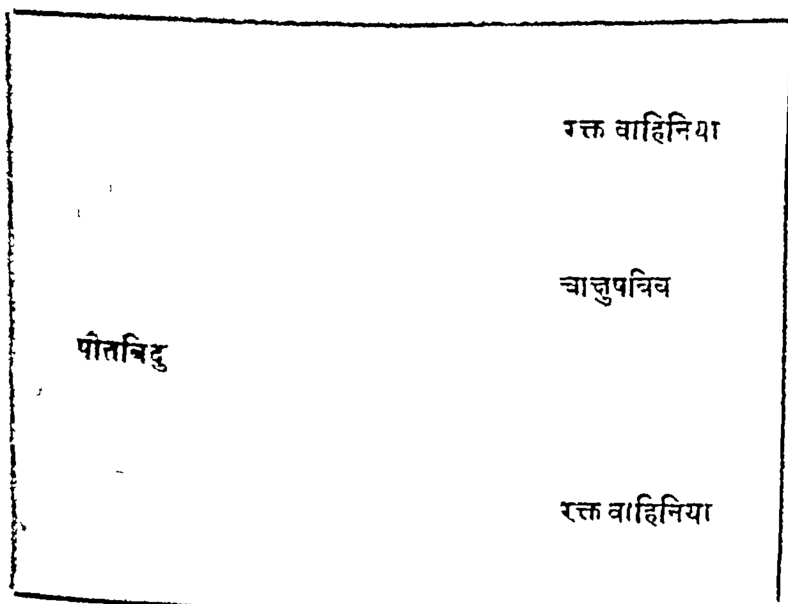
उपतारा के अगले पृष्ठ पर सेलों की एक तह होती है, जिन में रंग रहता है। पिछले पृष्ठ पर भी सेलों की तह होती है; इन में नीललोहित रंग रहता है; वास्तव में यह अन्तरीय पटल का ही भाग है।

उपतारा में रक्त केशिकाओं और नाड़ियों के घने जाल होते हैं।

उपतारा का रंग सब जातियों में एक सा नहीं होता। जब उपतारा के सब भागों की सेलों में रंग रहता है तब वह स्याही मायल दिखाई दिया करती है (जैसे भारतवासियों में); जब अगले पृष्ठ की सेलों में रंग नहीं होता तब उसका रंग धूसर या भूरा सा होता है। जब पिछले पृष्ठ की सेलों को छोड़ कर शेष भाग में रंग नहीं होता तब रंग नीला सा होता है जैसे कि अंगरेज़ों में। यदि उपतारा के किसी भाग में भी रंग नहीं है तो वह लाल लाल दिखाई देती है।

अंतरीय या सांवेदनिक पटल— इस पटल का वही काम है जो छायाचित्रण यंत्र में मसाला चढ़ी हुई प्लेट का होता है। यह पटल नाड़ी सूत्रों से और विशेष-प्रकार की

चित्र ६४



चित्र ६४ चाक्षुष बिंब और पीत बिंदु

२  १

Reproduced by permission from Swanzy's "Diseases of the Eye" Edited by Dr L Werner, London. H K Lewis & Co., Ltd, 1915

सेलों से बनता है; सेलों की कई तहे होती हैं। पिछले भाग में इस की मोटाई $\frac{१}{६०}$ इंच के लगभग होती है; उपतारानुमंडल के पास यह बहुत पतला हो जाता है और उसकी मोटाई $\frac{१}{२४०}$ इंच से अधिक नही होती। इस पटल के उस भाग में जो उपतारा के समीप रहता है या उसके पिछले पृष्ठ से लगा रहता है नाड़ी सूत्र और सांवेदनिक सेलें नहीं पाई जातीं। जीवितावस्था में यह पटल स्वच्छ होता है और उस का रंग सेलों के भीतर एक विशेष रंग रहने के कारण नील-लोहित होता है; मृत्यु के पश्चात् यह पटल अस्वच्छ और धूसर रंग का हो जाता है।

चक्षु के पाश्चात्य ध्रुव पर इस पटल के भीतरी पृष्ठ मे एक गोल या अंडाकार पीला धब्बा होता है; इस को **पीतबिंदु** कहते हैं (चित्र ६४); पीत बिंदु का व्यास $\frac{१}{२४}$ से $\frac{१}{१२}$ इंच तक होता है, उसके बीच में एक गढ़ा होता है जब हम कोई चीज़ देखते है तो अक्षिगोलक इस प्रकार गति करता है कि जिससे यह स्थान उस चीज़ के सम्मुख आजावे ताकि प्रतिबिंब का कुछ भाग उस पर भी पड़े।

और स्थानों की अपेक्षा पीत बिंदू मे देखने की शक्ति सब से अधिक होती है।

पीत बिंदु से $\frac{१}{८}$ इंच नासिका की ओर हट कर वह स्थान है जहां से दृष्टि नाड़ी का आरंभ होता है। इसको **चाक्षुष बिंब** कहते हैं (चित्र ६४), चाक्षुष बिंब के केन्द्र

में बहुधा एक गढ़ा रहा करता है जिस को **विंब नाभि** कहते हैं ; बिंव नाभि से अन्तरीय पटल का पोषण करनेवाली रक्त वाहिनियां निकलती हुई दिखाई देती है (चित्र ६४); चाक्षुष बिंव अंतरिय पटल का असांवेदनिक स्थान है : यहां पर वे सेलें नही होती जिनके द्वारा हम को प्रकाश का ज्ञान होता है।

दृष्टि नाड़ी (चित्र ६५)

यह चक्षु के पिछले भाग से आरंभ होती है : जिन तारों से यह नाड़ी बनती है वे अतरीय पटल में रहने वाली नाड़ी सेलों से निकलते हैं ; ये तार केन्द्रगामी और सांवेदनिक हैं और इकट्ठे हो कर चाक्षुष बिंव से मध्य और बाह्य पटलों में से हो कर बाहर निकलते हैं। जब अन्धेरे कमरे में लेम्प की रोशनी की सहायता से **चक्षुदर्शक** यंत्र द्वारा चक्षु को परीक्षा की जाती है तब चाक्षुष बिंव पूर्णिमा के चद्र की भांति अति सुंदर और चमकदार दिखाई देता है (चित्र ६४)। कई रोगों में चाक्षुष बिंव के रूप, रंग और आकार बदल जाते हैं।

अनुमान है कि दृष्टि नाड़ी में ५००००० के लगभग तार होते हैं। अक्षि खात के पिछले भाग से दृष्टि छिद्र में से हो कर यह नाड़ी कपाल के भीतर पहुंचती है। मस्तिष्क के अधोभाग में और जतूकास्थि के गात्र के ऊपर एक ओर की दृष्टि नाड़ी दूसरी ओर की दृष्टि नाड़ी से जा मिलती है; दोनों नाड़ियो के मिलने से जो चीज़ बनती है उसको **दृष्टि नाड़ी योजिका** (चित्र ६५)। कहते है यहां पर एक ओर

की नाड़ी के कुछ तार मध्य रेखा को पार करके दूसरी ओर चले जाते हैं ; जो तार चक्षु के कनपुटी की ओर के भाग से आते हैं वे तो उसी ओर रहते है परन्तु जो तार नासिका की ओर के भाग से आते हैं वे दूसरी ओर चले जाते हैं। दृष्टि-नाड़ी योजिका से दृष्टिपथ का आरंभ होता है (चित्र ६५)। हर एक दृष्टिपथ में थोड़े थोड़े दोनों चक्षुओं के तार होते हैं ($\frac{२}{३}$ उसी ओर की चक्षु के और $\frac{१}{३}$ दूसरी ओर की चक्षु के)। दृष्टि पथ बृहत् मस्तिष्क मे घुस जाते हैं और उनके तारो का **दृष्टि केन्द्रों** में जो बृहत् मस्तिष्क के पाश्चात्य खंडों में होते हैं अन्त होता है। दृष्टि केन्द्रों का न केवल एक दूसरे से प्रत्युत गति क्षेत्र और लघुमस्तिष्क से भी सम्बन्ध है।

दृष्टि

प्रकाश की किरणें कनीनिका पर पड़ती हैं ; कनीनिका में से होकर वे चक्षु के भीतर प्रवेश करती हैं ; जलीय रस, तारा, ताल, और बृहत् कोष्ठ में रहने वाले स्वच्छ द्रव्य में से होकर वे दृष्टि पटल पर पड़ती हैं। इस पटल पर वस्तु का प्रतिबिम्ब बनता है। यह प्रतिबिंब उलटा होता है ; हम दूसरे मनुष्य को देख रहे हों तो प्रतिबिंब में पैर ऊपर होंगे और शिर नीचे जैसे कि छाया चित्रण यंत्र में होता है। प्रकाश*

* जहा तक प्रकाश का सबध है पदार्थ तीन प्रकार के होते हैं —

१ स्वच्छ या **पारदर्शक**—जिन मे से प्रकाश की किरणें अच्छी तरह से गुज़र सकें जैसे जल, वायु, काच, कनीनिका, चक्षु ताल।

२ अस्वच्छ या **अपारदर्शक**—जिन में से प्रकाश बिलकुल न जा सके जैसे लकडी, लोहा, चमडा इत्यादि।

की किरणों से दृष्टि पटल की सेलों में एक विचित्र रसायनिक क्रिया होती है ; इस क्रिया का प्रभाव दृष्टि नाड़ी द्वारा मस्तिष्क को पहुंचता है और हमको रंग, आकार इत्यादि का ज्ञान होता है।

जब साफ़ प्रतिबिंब ठीक दृष्टि पटल पर पड़ता है तब चीज़ें साफ साफ़ दिखाई देती हैं। जब किसी कारण प्रतिबिंब ठीक दृष्टि पटल पर नही पडता तो चीज़ें साफ़ दिखाई नहीं

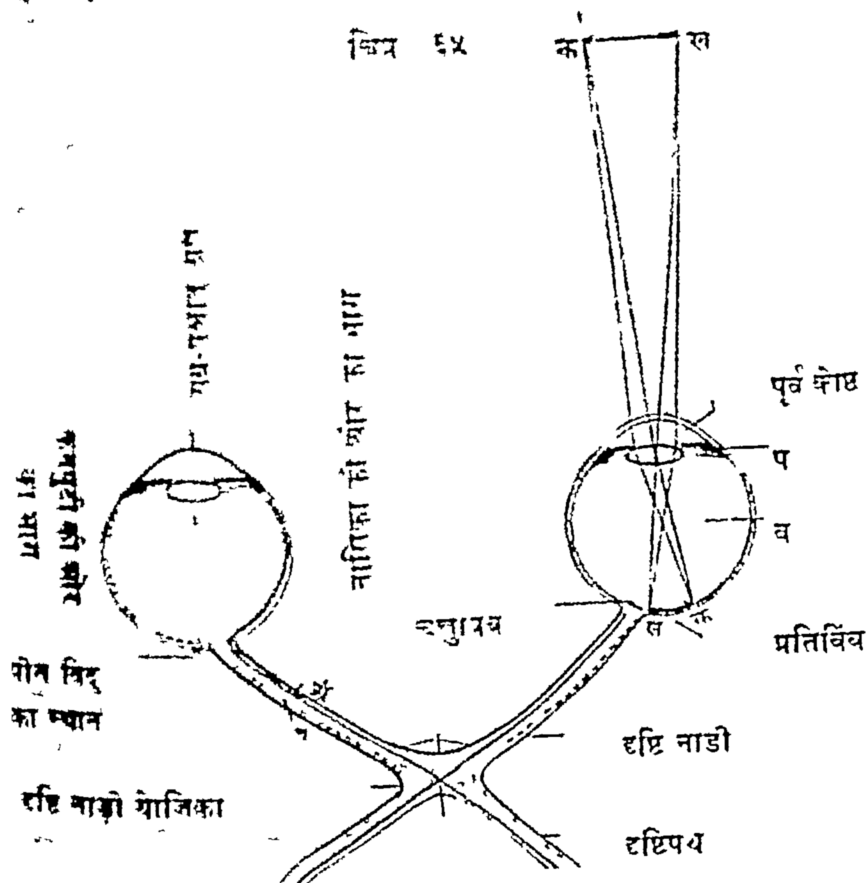
---

३ **अर्धस्वच्छ**—जिन में से प्रकाश जा सके परन्तु अच्छी तरह से नहीं जैसे कई प्रकार के तेल, पतला कागज, धुंधला कांच।

जिस चीज मे से होकर प्रकाश जाता है उसको **'माध्यम'** कहते हैं, वायु एक माध्यम है, जल दूसरा माध्यम है इत्यादि। सब माध्यमों का घनत्व एक जैसा नहीं होता। जब तक प्रकाश एक ही माध्यम मे रहता है उस की किरणें सीधी रहती हे परन्तु जब एक माध्यम से दूसरे कम या अधिक घनत्व वाले माध्यम में जाता है तब दोनों माध्यमों के मेल के स्थान पर किरणें मुड जाती हैं, इस भौतिक क्रिया को **वर्तन** कहते हैं जितना घना कोई माध्यम होता है उतना ही अधिक वह किरणों का वर्तन करता है। वायु से किसी विशेष माध्यम मे जाने से प्रकाश की किरणो का कितना वर्तन होता है यह मापा जा सकता है, यह माप उस विशेष माध्यम की 'वर्तनीय सख्या' कहलाती है।

हमारी चक्षु में ये माध्यम हैं —कनीनिका, जलीय द्रव, ताल और वृहत कोष्ठ का द्रव्य। इन सभो का घनत्व वायु से भिन्न है; इस कारण प्रत्येक चीज की वर्तनीय सख्या भी जुदा जुदा है। जब प्रकाश की किरणें कनीनिका मे घुसती हैं तो उन का वर्तन होता है, कनीनिका से जलीय द्रव मे जाते हुए और जलोय द्रव से ताल में जाते हुए और फिर ताल से वृहत कोष्ठ के द्रव्य में जाते हुए वर्तन होता है, तत्पश्चात् वे दृष्टि पटल से टकराती है। इन विविध माध्यमों की वर्तनीय सख्या भिन्न भिन्न तो है परन्तु बहुत भेद नही होता, इस कारण वर्तन भी अधिक नही होता (चित्र ६५)।

देगी। प्रतिबिंब को ठीक दृष्टि पटल पर बनाने के लिये ताल का उभाराकृत्य आवश्यकतानुसार कम या अधिक होता रहता है।



तार एक ओर से दूसरी ओर को जा रहे हैं

प=पाश्चात्य कोष्ठ ,   वृ=वृहत् कोष्ठ ,

हमारी आंख की बनावट ऐसी है कि जितनी वस्तुएं आंख से २० फुट या २० फुट से अधिक दूरी पर हैं उन का प्रतिबिंब

ठीक दृष्टि पटल पर पड़ता है ; ताल का उन्नतोद्रत्व न घटता है न बढ़ता है और तारानुमंडल के मांस को भी संकोच नहीं करना पड़ता। परन्तु जितनी वस्तुएं आंख से २० फुट से कम दूरी पर हैं उनका प्रतिबिंब ताल का आकार स्थिर रहते हुए दृष्टिपटल पर नहीं पड़ेगा। इस कारण २० फुट से कम दूरी की चीज़ों को देखने के लिये ताल का उन्नतोद्रत्व अधिक करना पड़ता है ; यह काम उस मांस के संकोच से होता है जो उपतारानुमंडल में रहता है। सामान्यतः हम ८,६ इंच से नज़दीक की चीज़ों को साफ़ साफ़ नहीं देख सकते क्योंकि ताल का उन्नतोद्रत्व उतना नहीं हो सकता जिसे से इन चीज़ों का प्रतिबिंब दृष्टि पटल पर पड़ सके।

कुछ मनुष्यों के अक्षिगोलक की बनावट ऐसी होती है कि उन में २० फुट या इससे अधिक दूरी की वस्तुओं का प्रतिबिंब ठीक दृष्टिपटल पर नहीं पड़ता ; ये चीज़ें या तो दिखाई नहीं देतीं या धुंधली मालूम होती हैं। जब आंख दूर की चीज़ें न देख सके तब यह रोग **दूरदर्शनासामर्थ्य** कहलाता है (इस को "निकट दृष्टि" भी कह देते हैं)। ऐसे मनुष्य नज़दीक की चीज़ें खूब देख सकते हैं। बहुत से बालक पढ़ते समय पुस्तक को आंख के बहुत पास रखते हैं और मेज़ पर बहुत झुक कर पढ़ते और लिखते हैं, ऐसे बालकों को बहुधा निकटदृष्टि रोग होता है। यह दोष ऐनक से दूर हो जाता है ; ऐनक के ताल युगलनतोदर होते हैं ; यदि ऐनक का प्रयोग न किया जावे तो रोग बढ़ता जाता है।

कुछ मनुष्यों की आंख की बनावट इस प्रकार होती है कि उन को दूर की चीज़ें देखने में आम तौर से कोई कठिनाई

नहीं होती परन्तु वे नज़दीक की चीज़ें साफ़ साफ़ और आसानी से नहीं देख पाते ; पढ़ने लिखने में उनको कष्ट होता है ; उनकी आंखें शीघ्र थक जाती हैं और माथे और आंखों में दर्द होने लगता है ; यह निकटदर्शनासामर्थ्य या "दूर दृष्टि" रोग है। यह दोष युगलोन्नतोदर तालों से दूर हो जाता है। ४०, ४५ वर्ष की आयु के पश्चात् बहुत से लोगों को पुस्तक इत्यादि पढ़ने में कुछ कठिनाई होने लगती है, छोटी छोटी चीज़ें साफ़ साफ़ दिखाई नहीं देती ; चीज़ों को अच्छी तरह देखने के लिये तेज़ प्रकाश की आवश्यकता मालूम होती है। यह दोष भी युगलोन्नतोदर तालों से दूर हो जाता है।

चक्षु उसी समय तक ठीक काम कर सकती है जब तक सब माध्यम स्वच्छ हों। यदि कनीनिका, जलीय द्रव, ताल और ताल के पीछे रहने वाले द्रव्य में से कोई भी अस्वच्छ हो जावे तो दृष्टि में फर्क़ आ जायगा। जब रोहों की रगड़ से कनीनिका धुंधली हो जाती है या ज़ख़मों के परिणाम से उस में श्वेत अस्वच्छ तिल बन जाते हैं तब प्रकाश अच्छी तरह भीतर नहीं जा सकता। वृद्धावस्था में (कभी कभी बचपन और जवानी में भी) ताल के धुंधले हो जाने से भी दृष्टि कम हो जाती है या जाती रहती है ; धुंधला ताल निकलवा देने से दृष्टि फिर आ जाती है। दृष्टि पटल, मध्य पटल, दृष्टि नाड़ी, दृष्टि केन्द्र के रोगों से भी दृष्टि खराब हो जाती है।

२० फुट से अधिक दूरी की चीज़ों के देखने से आंखों पर ज़ोर नहीं पड़ता ; उपतारानुमंडल के मांस को संकोच करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। इस से कम दूर की

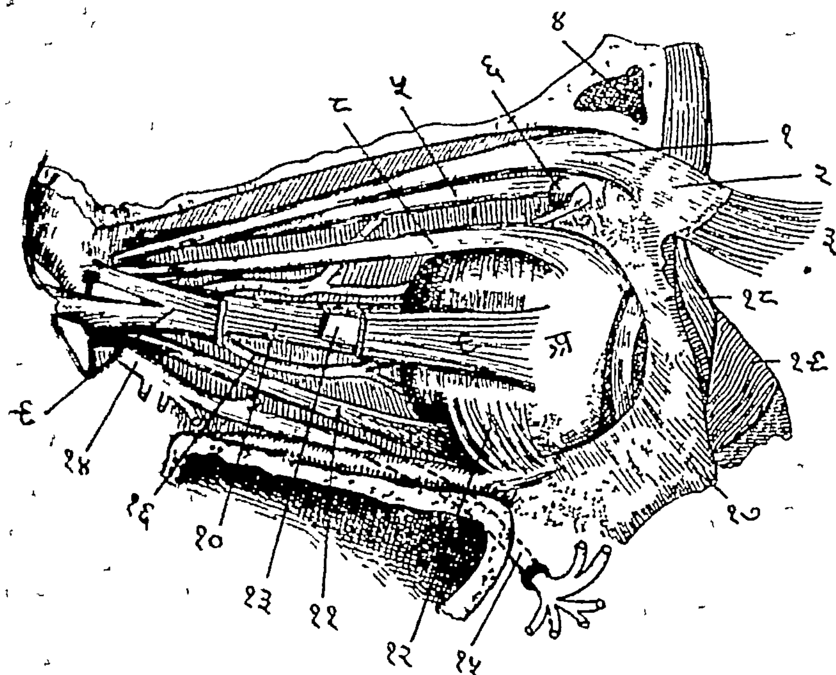
चीजों के देखने के लिये मांस को संकोच करना पड़ता है। बारीक अक्षरों का पढना, सीना, काढना, चित्रकारी, नक़्शे खींचना, स्वर्णकारी, घड़ी साज़ी, सूक्ष्म दर्शक यंत्र से काम लेना—इन सब कामों से आंख पर ज़ोर पड़ता है; जहां तक हो सके ये काम लगातार बहुत देर तक नहीं करने चाहियें। कम प्रकाश में पढ़ना या कोई और काम करना आंखों को हानि पहुंचाता है: अधिक प्रकाश—जैसे सूर्य की ओर देखना या भट्टी की ओर बहुत देर तक देखना—भी हानिकारक है। पुस्तक के ऊपर झुक कर या शिर बहुत नीचा करके बैठना और लेट कर पढ़ना भी अच्छा नहीं। पढ़ते और लिखते समय प्रकाश हमेशा बाईं ओर से या पीछे से आना चाहिये, दाहिनी ओर से आयेगा तो हाथ की छाया पड़ने के कारण अच्छी तरह से न लिखा जायगा। सामने से प्रकाश आयेगा तो वह आंखों पर पड़ेगा जो न केवल अनावश्यक है परन्तु आंखों को हानि भी पहुंचाता है। पुस्तक को आंख से १२ या १३ इंच से ज़्यादा नज़दीक न रखना चाहिये।

नेत्रचालनी पेशियां (चित्र ६६)

अक्षिगोलक को इधर उधर घुमाने के लिये उस में ६ पेशियां लगी हैं। ये पेशियां अक्षिगुहा के पिछले भाग से (उस छिद्र के किनारों से जिस में से हो कर दृष्टि नाड़ी कपाल में जाती है) आरंभ होती हैं और बाह्य पटल से लगी रहती हैं। इन मे से चार पेशियां सीधी (सरल) हैं—एक ऊपर, एक नीचे, एक अंदर के कोये की ओर एक बाहर के कोये की ओर; दो पेशियां तिर्छी या वक्र हैं एक ऊपर और दूसरी नीचे। इन पेशियों के नाम ये हैः—**सरलोर्ध्वनेत्र-**

चालनी (चित्र ६६ में ८); सरलाधो नेत्रचालनी (११) सरलांतर्नेत्रचालनी (१०) सरलवहिर्नेत्रचालनी (९) वक्रोर्ध्व नेत्रचालनी (५) वक्राधो नेत्रचालनी (१२)।

चित्र ६६—नेत्रचालनी पेशिया



व्याख्या:—

१=ऊर्ध्वनेत्रच्छदोत्थापिका पेशी २=ऊर्ध्वनेत्रच्छद फलक ३=अक्षि पक्ष्मन् ४=ललाट कोटर ५=वक्रोर्ध्व नेत्रचालनी ६=घिडरी ७=न ४ की कहरा ८=सरलोर्ध्व नेत्रचालनी ९=वहिर्नेत्रचालनी १०=सरलांत-र्नेत्रचालनी ११=सरलाधो नेत्रचालनी १२=वक्राधो नेत्रचालनी १३=दृष्टि नाड़ी १४, १५=नेत्राधरीय नाडी १६=चाक्षुप धमनी १७=ऊर्ध्वहनु का ललाट प्रवर्द्धन १८, १९=नासिका की पेशिया

इन पेशियों के संकोच से आंख चारों ओर अच्छी तरह घूम सकती है। जब हम किसी ओर (जैसे दाहिनी ओर या बाईं ओर) देखते हैं तो दोनों आंखें साथ साथ घूमती हैं। कभी कभी पेशियों के ठीक ठीक संकोच न करने से या उनके पक्षाघातग्रस्त हो जाने से दोनों आंखें साथ साथ नहीं घूमतीं ; आंखों में भेंगापन आ जाता है-इसी को **तिर्यकदृष्टि** या **वक्रदृष्टि** कहते हैं।

चक्षुसम्बन्धी और अंग

१ पलक या **नेत्रच्छद**

२ **अश्रु ग्रन्थियां**

पलक

प्रत्येक आंख में दो पलक होते हैं एक ऊपर (उर्ध्व नेत्र-च्छद) दूसरा नीचे (अधोनेत्रच्छद)। पलक के बाहरी पृष्ठ पर त्वचा लगी रहती है, भीतरी पृष्ठ पर श्लैष्मिक कला होती है; इन दोनों के बीच में सौत्रिक तंतु से निर्मित एक मुड़ी हुई मोटी पट्टी (या फलक) रहती है जिस के कारण पलक में कुछ दृढ़ता रहती है और उस का आकार स्थिर रहता है। दोनों पलकों में त्वचा और फलक के बीच में **नेत्रनिमीलनी** (चित्र ५८ में ७) पेशी का कुछ भाग रहता है ; इस पेशी के संकोच से पलक झपकते तथा बंद होते हैं। श्लैष्मिक कला पतली होती है और रक्त केशिकाओं के कारण उस के रंग में कुछ लाली रहा करती है।

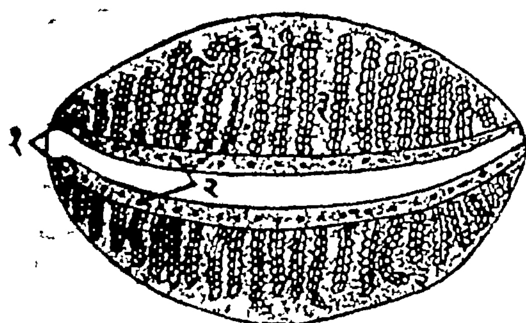
ऊर्ध्व नेत्रच्छद में नेत्रफलक के ऊपर के किनारे से एक विशेष पेशी की कंडरा लगी रहती है ; इस पेशी को

ऊर्ध्वनेत्रच्छदोत्थापिका कहते हैं; यह अक्षिखात के इसी भाग से आरंभ होती है जहां और ६ पेशियां आरंभ होती हैं (चित्र ६६ में १); इस पेशी का काम पलक को ऊपर उठाना है। अधोनेत्रच्छद में ऐसी कोई पेशी नही होती।

दोनों पलकों में नेत्रफलक और श्लैष्मिक कला के बीच में पतली परन्तु लम्बी नल्याकार ग्रन्थियां रहती हैं। ऊपर के पलक में कोई ३० ग्रन्थियां होती है; नीचे के पलक में कुछ कम होती हे। पलक उलटने पर ये ग्रन्थियां श्लैष्मिक कला में से चमकती हुई श्वेतधारियों जैसी दिखाई देती है (चित्र ६७ में ३)

चित्र—६७

इस चित्र मे नेत्रच्छद ग्रन्थिया दर्शाई गई हैं।



पलकों के किनारों पर बाल होते हैं; ये **अक्षिपक्ष्मन्** कहलाते हैं। ऊपर के पलक के बाल ऊपर मोड़ खाये रहते हैं (उन्नतोदरत्व नीचे को रहता है), नीचे के पलक के बाल नीचे को मुड़े रहते हैं (उन्नतदोदरत्व ऊपर को रहता है); इस से यह होता है कि जब पलक बंद होते हैं तब बाल एक

दूसरे में फंसने नहीं पाते। बालों की जड़ों (लोमकूपों) से कुछ चिकनी वस्तु बनाने वाली ग्रन्थियां लगी रहती हैं। इन ग्रन्थियों के प्रदाह को ही गोहाई या अजनयारी कहते हैं।

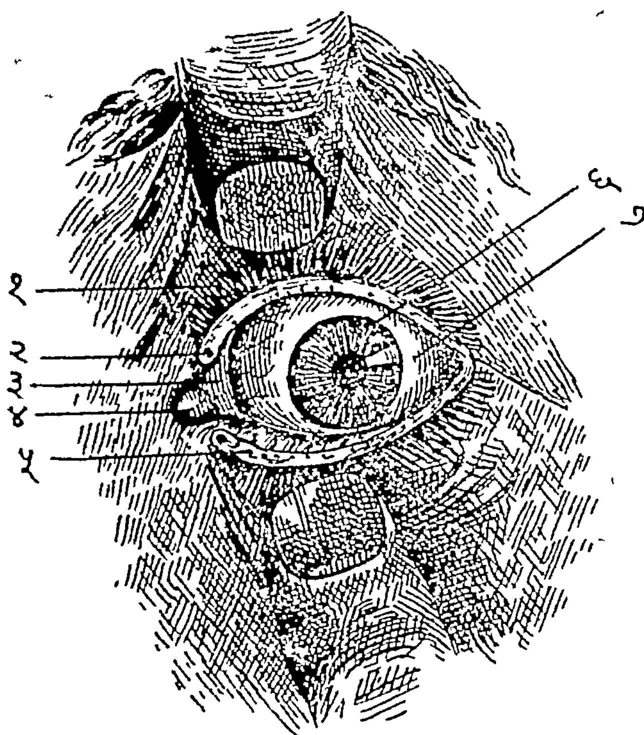
ऊर्ध्वनेत्रच्छद में पक्ष्मन् की पंक्ति के पीछे (कनीनिका की ओर) और अधोनेत्रच्छद में पक्ष्मन् की पंक्ति के आगे (कनीनिका की ओर) ध्यान से देखने से छोटे छोटे छिद्रों की एक पंक्ति दिखाई देती है। ये श्लैष्मिक कला और नेत्र फलक के बीच में रहने वाली ग्रन्थियों के मुख हैं (चित्र ६७ में २ चित्र ६८ में ५); कभी कभी विकारों के कारण इन ग्रन्थियों में एक चेपदार वस्तु बनने लगती है जिस के कारण सोते समय पलकों के किनारे एक दूसरे से चिपक जाया करते हैं। कभी कभी इन ग्रन्थियों का प्रदाह हो जाता है या उन के स्राव के इकट्ठा होने से अर्बुद (रसौली) बन जाते हैं।

जहां दोनों पलक आपस में एक दूसरे से जुड़ते हैं, उस स्थान को **कोया** या **अपांग** कहते हैं।

नासिका की ओर वाले अपांग में दोनों पलकों के सम्मुख किनारों पर दो छोटे उभार होते हैं। प्रत्येक को अश्रु अंकुर कहते हैं; अश्रु अंकुर की शिखर पर एक छिद्र होता है जिस का नाम **अश्रुछिद्र** है (चित्र ६८ में २) अश्रुछिद्र में से ही हो कर अश्रु आंख से नासिका में जाया करते हैं। इस अपांग में दो चीज़ें और दिखाई देती हैं। एक तो छोटा सा लाल लाल पिंड है (चित्र ६८ में ४); यह वास्तव में त्वचा का भाग है; इसमें नन्हे नन्हे बाल और कुछ ग्रन्थियां होती हैं; इस कोये में जो मैल (ढीड) बनता है वह इसी पिंड की ग्रन्थियों में बनता है। इस लाल पिंड के नीचे एक त्रिकोण

या अर्धचन्द्राकार चीज़ रहती है (चित्र ६८ में ३); यह श्लैष्मिक कला का भाग है।

चित्र ६८



१=अक्षि पक्ष्मन् २=अश्रु छिद्र ३=अर्धचन्द्राकार पिंड
४=शङ्काकार पिंड ५=ग्रन्थियों के मुख ६=कनीनिका
७=श्लैष्मिक कला जिसमें से बाह्य पटल दिखाई देता है

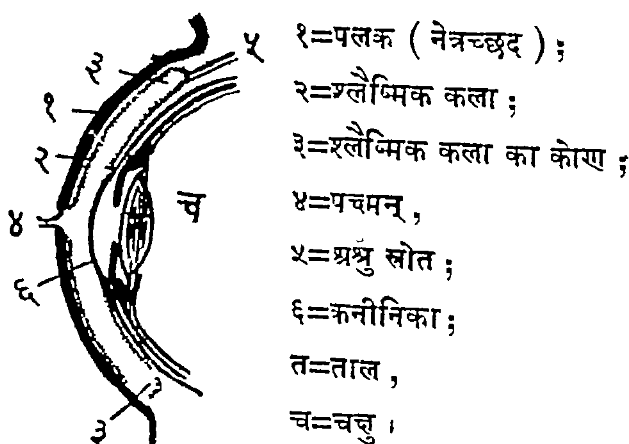
आँख की श्लैष्मिक कला (चित्र ६९)

यह झिल्ली दोनों पलकों के भीतरी पृष्ठों पर और अक्षि गोलक के अगले भाग पर लगी रहती है। जिस स्थान पर

यह झिल्ली पलक को छोड़कर अक्षिगोलक पर आती है या यूं समझो कि जहां पलक की झिल्ली अक्षि गोलक की झिल्ली से मिलती है वहां एक कोण बनता है (चित्र ६९ में ३) ; एक कोण ऊपर होता है, दूसरा नीचे ।

कनीनिका के पृष्ठ पर इस झिल्ली की सब तहें नहीं रहतीं ; केवल सेलों की तह ही रहती है ; सौत्रिक तंतु और रक्त केशिकाएं नही रहती ।

चित्र ६९



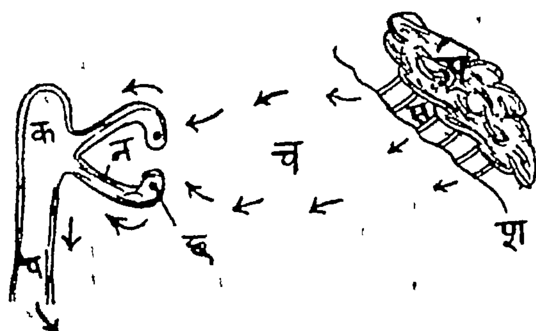
१=पलक (नेत्रच्छद) ;
२=श्लैष्मिक कला ;
३=श्लैष्मिक कला का कोण ;
४=पक्ष्मन्,
५=अश्रु स्रोत ;
६=कनीनिका ;
त=ताल ,
च=चक्षु ।

श्लैष्मिक कला वाह्य पटल से खूब नहीं चिपटी रहती यदि आप चाहें तो चिमटी से उसके किसी भाग को वाह्य पटल से उठा सकते हैं। 'आंख का दुखने आना' साधारणतः इसी कला के प्रदाह को कहते हैं । पलकों की झिल्ली में कभी कभी नन्हे नन्हे दाने बन जाया करते हैं ; यह रोहों का रोग है । रोहों की रगड़ से कनीनिका के धुंधले हो जाने का डर रहता है ।

अश्रु ग्रन्थि (चित्र ७० और ७१)

यह ग्रन्थि बादाम के बराबर होती है। नेत्रगूहा की छत में (नेत्रच्छदिफलक में) कनपुटी की ओर एक गढ़ा होता है जिसको अश्रुग्रन्थिखात कहते हैं (देखो चित्र ७१), अश्रुग्रन्थि इसी खात में रहती है; ग्रन्थि और अक्षिगोलक के बीच में आंख की दो पेशियां रहती हैं। ग्रन्थि के नीचे के पृष्ठ का कुछ भाग श्लैष्मिक कला से ढका रहता है। इस ग्रन्थि से दस बारह पतली पतली नलियां निकलती हैं जो श्लैष्मिक कला के ऊपर के कोण में खुलती हैं (देखो चित्र ८० में स, चित्र ६८ में ५)।

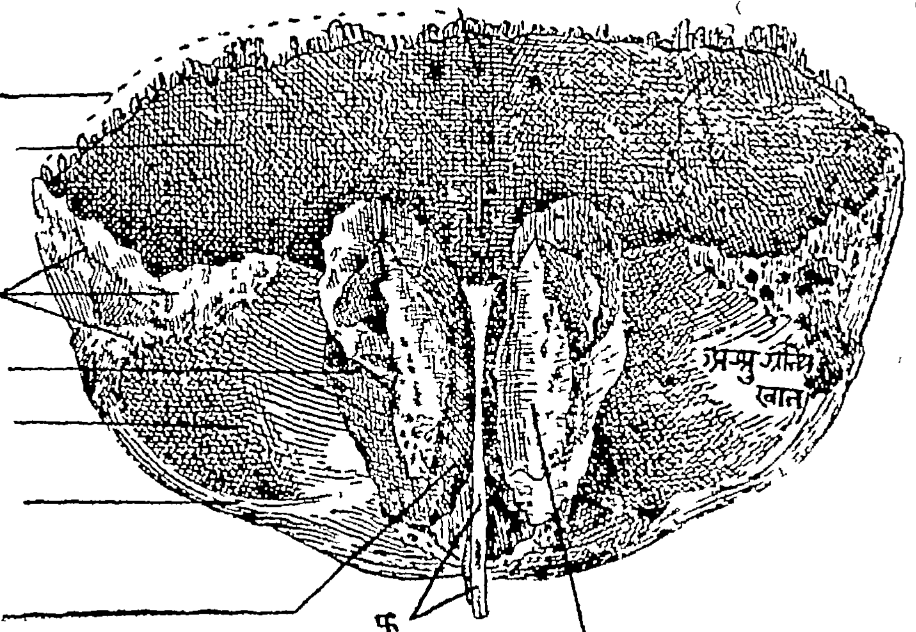
चित्र ७० बाईं अश्रु ग्रन्थि



अ=अश्रु ग्रन्थि स=अश्रु स्रोत श=श्लैष्मिक कला का कोण च=चक्षु छ=अश्रु अंकुर का अश्रु छिद्र न=अश्रुवाहिनिया क=अश्रु कोष प=अश्रु प्रनाली

इस ग्रन्थि में जो रस बनता है उसको अश्रु या आंसू कहते हैं। यह एक स्वच्छ जलीय रस है; इसका स्वाद लवण होता है। इसका काम पलकों और अक्षिगोलक के सम्मुख पृष्ठों को तर रखना है। साधारणतः यह रस इतना ही बनता

चित्र ७१—ललाटास्थि जिससे झर्झरास्थि (वहुछिद्रास्थि) जुडी हुई है। अस्थि का अतगीय पृष्ठ दिखलाया गया है।



है कि जिस से श्लैष्मिक कला कुछ तर रहे क्योंकि उसकी तरी का हर दम वाष्पीभवन होता रहता है; जब हम रोते हैं तब अश्रु अधिक बनते हैं और आंखों से टपकने लगते है। नासिका का आंख से सम्बन्ध है इसलिये रोते समय अश्रु कभी कभी-नासिका में चले जाते हैं और नासारन्ध्र में से टपकने लगते हैं (देखो चित्र ७० और अध्याय २४)

अध्याय २४

नासिका–घ्राणेन्द्रिय।

चेहरे के ऊपर के भाग में दोनों नेत्रों के बीच में मस्तक के नीचे और मुख के ऊपर नासिका रहती है। नासिका के वास्तव में दो भाग हैं :—

१ वह भाग जो बाहर से दिखाई देता है; इसको **बहिर्नासिका** या **नाक** कहते हैं।

२ वह भाग जो नथुनों में से दिखाई देता है; यह भाग एक परदे द्वारा दाहिने और बाएं दो भागों में विभक्त है; प्रत्येक भाग को **नासा गुहा** या **नासा खात** कहते हैं।

बहिर्नासिका या नाक

नाक का नीचे का भाग मुलायम होता है और दबाने से भिच जाता है; ऊपर का भाग जो मस्तक के निकट है दृढ़ होता है; मुलायम भाग त्वचा, मांस और कारटिलेज से बनता है; कड़े भाग में अस्थि है (नासास्थि)। नाक के दो ढालू पार्श्व हैं और उसकी तली में दो छिद्र होते हैं जिनको नकने, नथुने या **नासारंध्र** कहते हैं। नाक का वह भाग जो मस्तक के नीचे है और जिस पर ऐनक टिका करती है **नासा वंश** या **नासा सेतु** कहलाता है; इस भाग में नासास्थियां होती हैं (देखो चित्र २)।

चित्र ७२ कपाल के दाहिने भाग का भीतरी पृष्ठ

चित्र ७२ कपाल के दाहिने भाग का भीतरी पृष्ठ

१=ललाटास्थि का ऊर्ध्व भाग २=ललाटास्थि का समस्थ भाग (नेत्र-च्छदि फलक) ३=ललाट कोटर ४=शिखर कण्टक ५=झर्झरास्थि के मध्य फलक का अंश ६=ऊर्ध्व सुरगा ७=ऊर्ध्व हन्वस्थि का ललाट प्रवर्धन (या कूट) ८=ऊर्ध्व हन्वस्थि का तालु फलक ९=तालवस्थि का समस्थ भाग १०=हाइपोफिसिस खात ११=सेवनी १२=सेवनी १३=जतूकास्थि के वृहत् पक्ष का भाग १४=सेवनी १५=सेवनी १६=शख चक्र १७=पश्चात् अस्थि का वृहत्मस्तिष्क खात १८=लघुमस्तिष्क खात १९=पार्श्व शिराकुल्या परिखा २०=पार्श्व शिराकुल्या परिखा २१=अश्मकूट २२=पश्चात् अस्थि का समस्थ भाग २३=अर्बुद जो पहिले कशेरुका पर टिकता है २४=सेवनी २५=जिह्वाधोवर्ती नाडी का छिद्र २६,२७=धमनी परिखा २८=पाश्चात्य अर्बुद २९=ऊर्ध्व अन्वायाम शिराकुल्या परिखा ३०=कीलाकार या शिफा प्रवर्द्धन ३१=कर्णान्तर्द्वार ३२,३३=अश्रुवाहिका का नासिका की अधोसुरगा मे सम्बन्ध है, यह डोरा अक्षि गृहा से नासिका मे निकल आया ३४=ऊर्ध्व हन्वस्थि कोटर।

म=सींक मध्य सुरगा मे है , अ=सींक अधो सुरगा मे है ,
ल=ललाटास्थि , पा=पार्श्वास्थि ,
प=पश्चात् अस्थि , शं=शखास्थि ,
ज=जतूकास्थि ; झ=झर्झरास्थि ,
न=नासास्थि ऊ=ऊर्ध्व शुक्तिका , म–मध्य शुक्तिका ,
अ–अधो- शुक्तिका , ह—ऊर्ध्व हन्वस्थि ,
त—तालवस्थि

नासा गूहा

नासारन्ध्रों में से देखने से मध्य रेखा के इधर उधर एक एक नाली दिखाई देती है; यही नासा गूहा या खात है। दोनों नासा खातों के बीच में एक खड़ा परदा लगा रहता है। परदे का अगला भाग कारटिलेज से बनता है; पिछला भाग अस्थिकृत है। अस्थिकृत भाग का अधिक भाग नासा-फलकास्थि और झर्झरास्थि (बहुछिद्रास्थि) के मध्य फलक से बनता है, जतूकास्थि, नासास्थियां, ऊर्ध्व हन्वस्थियां, तथा ताल्वस्थियां भी कुछ सहायता देती हैं। परदा प्रायः दाहिनी या बाईं ओर को कुछ झुका रहता है। अस्थियों और कारटिलेज के पृष्ठों पर श्लैष्मिक कला चढ़ी रहती है (चित्र ७३ में प--परदा)।

प्रत्येक नासा गूहा के सम्बन्ध में ये चीज़ें होती हैं:—

१. फ़र्श (या गूहा भूमि); २ छत (या गूहाच्छदि)। ३–भीतरी दीवार या अन्तः प्राचीर, ४. बाहरी दीवार या बहिः प्राचीर ५. नासा रंध्र या नासा पुरोद्वार ६. नासा पश्चिमद्वार।

फ़र्श—जिन अस्थियों से कठिन तालु बनता है उन्हीं अस्थियों के ऊपर के पृष्ठों से नासा गूहा का फ़र्श बनता है। ये अस्थियां दो हैं; फ़र्श का अगला $\frac{3}{4}$ भाग ऊर्ध्व हन्वस्थि के ताल्व प्रवर्धन (या तालु फलक) से बनता है, पिछला $\frac{1}{4}$ भाग ताल्वस्थि के समस्थ भाग से। अस्थियों के ऊपर श्लैष्मिक कला चढ़ी रहती है। फ़र्श का ढलान पीछे को

कठ की ओर होता है। उस के पिछले किनारे से कोमल तालु लगा रहता है (चित्र ७४ में त ।

छत–यह कई अस्थियों के अशों के आपस में जुड़ने से बनती है। छत का बीच का भाग क्षितिज होता है और अगले और पिछले भाग ढालू। बीच का क्षितिज भाग झर्झरास्थि के चालनी पटल से बनता है; अगला भाग नासास्थि और ललाटास्थि के अंशों से बनता है; पिछले भाग के बनाने में जतूकास्थि का गात्र, नासाफलकास्थि और तालवस्थि का जतूक प्रवर्धन सहायता देते हैं। छत के क्षितिज भाग के छिद्रों में से हो कर घ्राण नाड़ियां कपाल में घुसती हैं। छत की चौड़ाई बहुत थोड़ी होती है।

भीतरी दीवार–यह परदे से बनती है जिस का वर्णन पीछे हो चुका है।

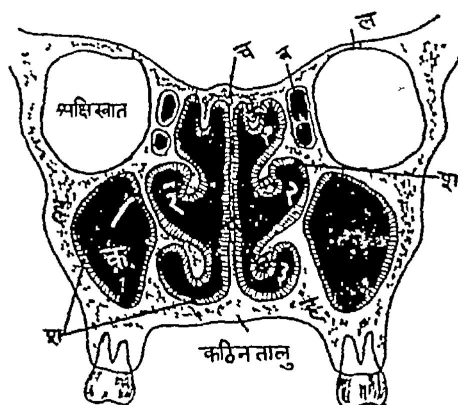
बाहरी दीवार–(देखो चित्र ७२, ७३, ७५)–इस का अगला भाग जिस से नकना बनता है मुलायम होता है; इस में कारटिलेज होता है जिसके ऊपर त्वचा चढ़ी रहती है; त्वचा में मोटे बाल होते हैं। शेष भाग अस्थिकृत है। उसके बनाने में नासास्थि, ऊर्ध्व हन्वस्थि का गात्र और ललाट प्रवर्धन, अधो शुक्तिका (निम्न सीपाकृति), झर्झरास्थि (बहुछिद्रास्थि) का पार्श्व पिंड, और तालवस्थि का ऊर्ध्व भाग सहायता देते हैं (देखो चित्र ७२ में न, ७, अ, त, म, ऊ)। झर्झरास्थि की दोनों शुक्तिकास्थियां इस दीवार पर रहती हैं (चित्र ७२ में ऊ, म); इस प्रकार इस दीवार में तीनों शुक्तिकाएं दिखाई देती हैं–अधो शुक्तिका सब से नीचे (अ), मध्य शुक्तिका उसके ऊपर (म), ऊर्ध्व शुक्तिका सब से

ऊपर और पिछले भाग में (ऊ)। यदि हम नासारंध्रों में से देखें तो मध्य और अधो शुक्तिका के अगले सिरे दिखाई देंगे। इन तीनों शुक्तिकाओं द्वारा नासा गूहा में तीन नालियां या सुरंगें बन जाती हैं:-

(१) एक अधो शुक्तिका के नीचे (चित्र ७२ मे इस में अ सींक है); इस को **नासाधः सुरंगा** कहते हैं (चित्र ७३ में ३)।

(२) दूसरी मध्य शुक्तिका और अधो शुक्तिका के बीच में (चित्र ७२ में इस में म सींक है), इस को **नासा मध्य सुरंगा** कहते हैं (चित्र ७३ में २)।

चित्र ७३—इस चित्र मे नासा गूहा की सुरगें दर्शाई गई हैं।



च=चालनी पटल ; ब=बहुछिद्रास्थि कोटर ल=ललाटास्थि का नेत्र-च्छद पटल ऊ=ऊर्ध्व शुक्तिका ,म=मध्य शुक्तिका, न=अधो शुक्तिका ; १=ऊर्ध्व सुरंगा , २=मध्य सुरगा ; ३=अध सुरगा ; क=ऊर्ध्व हन्वस्थि कोटर , इसका संबध मध्य सुरगा से श्वेत रेखा द्वारा दिखाया गया है श=श्लैष्मिक कला ; प=परदा ; ह=ऊर्ध्व हनु

(३) तीसरी ऊर्ध्व शुक्तिका और मध्य शुक्तिका के बीच में (चित्र ७२ में ६) ; इस को **नासा ऊर्ध्व सुरंगा** कहते है (चित्र ७३ में १) । यह तीनों में सब से छोटी होती है ।

इस दीवार के सब भागों पर श्लैष्मिक कला लगी रहती है। यदि आप अपनी नाक के पार्श्व को अतरीय अपांग के पास दबावें तो आपको एक गढ़ा सा मालूम होगा, यहां से अश्रुवाहिका नामक नाली का आरंभ होता है; यह नाली नासिका की वाहरी दीवार मे रहती है और इस का अंत नासा गूहा के अगले भाग में होता है; चित्र ७२ मे एक डोरा (३२) अश्रुवाहिका में डालकर अधः सुरगा में से निकाला गया है (३३) । जब हम अधिक रोते है तो कभी कभी आंसू नासिका से भी वहने लगते है; आंख से आंसू अश्रुछिद्रों में से हो कर अश्रुवाहिनियों में जाते है ; ये नलियां अश्रुकोष से लगी रहती है ; अश्रुकोष से आंसू अश्रुवाहिका द्वारा नासिका में पहुंचते है (देखो चित्र ७०) ।

ऊर्ध्वहन्वस्थि का गात्र भीतर से खोखला होता है; इस कोटर की दीवारों पर श्लैष्मिक कला लगी रहती है। इस कोटर का एक (कभी कभी दो) छिद्र द्वारा मध्य सुरंगा से सम्बन्ध रहता है। चित्र ७२ में (३४) इस कोटर का छिद्र है ; चित्र ७३ में श्वेत रेखा द्वारा इन दोनो का सम्बन्ध दिखलाया गया है (क अ २ के बीचकी रेखा)

मध्य सुरंगा का ललाट कोटर और झर्झरास्थि की अगली और बीच की कोटरों से भी सम्बन्ध रहता है। ऊर्ध्व सुरंगा का झर्झरास्थि की पिछली कोटर से सम्बन्ध रहता है। जितने कोटर हैं उन सब में श्लैष्मिक कला लगी रहती है।

चित्र ७४ की व्याख्या

१=ऊर्ध्व शुक्तिका ; २=मध्य शुक्तिका ,

३=अधो शुक्तिका , ४=हाइपोफिसिस या पिट्युटिरी खात ,

५=जतूकास्थि ६=कंठ ,

७=पश्चात् अस्थि ,

व'=ललाट कोटर ; व''=जतूकाकोटर ;

ना=नासास्थि , ह=अधो हन्वस्थि (कटी हुई) ;

क=कण्ठिकास्थि (कटी हुई) , ह क=चिबुक कण्ठिका पेशी ,

स=स्वर यंत्र ; च=चुल्लि ग्रन्थि (कटी हुई) ;

उ=उरोस्थि ; ट=टेंटुवा ;

अ=अन्नप्रनाली , क=कशेरुका (कटा हुआ) ;

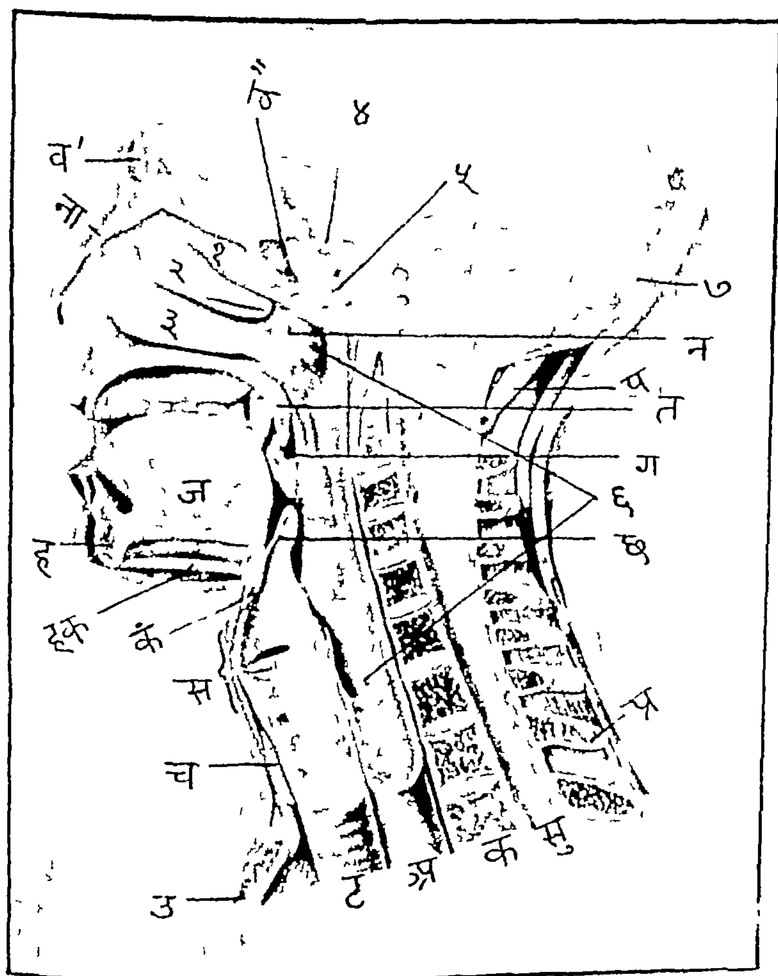
सु=इस नली में सुषुम्ना रहती है , प्र=कशेरु कण्टक ;

छ=स्वरयंत्रच्छद ; ग=ताल्व ग्रन्थि ;

त=कोमल तालु ; प=पेशियां ,

न=कंठकर्णी नाली का मुख , ज=जिह्वा का मास या चिबुक जिह्वा कंठिका पेशी ।

चित्र ७४ लम्बाई के रुख बीच में से कटा हुआ शिर



नासा पुरोद्वार या नासा रंध्र—नासा गूहा का अगला छिद्र कुछ कुछ तिकूना होता है ; उस में मोटे मोटे बाल रहते हैं; इन बालों से एक छलनी बन जाती है। जब वायु भीतर प्रवेश करती है तो धूल मिट्टी के ज़र्रे इन बालों में फंस कर बाहर ही रह जाते हैं।

नासा पश्चिम द्वार—नासा गूहा पिछले द्वार द्वारा कंठ से सम्बन्ध रखता है। यह द्वार चौकोर होता है। कोमल तालु की ओट में रहने के कारण ये द्वार मुंह खोलने पर दिखाई नहीं देते।

नासिका की श्लैष्मिक कला

नासिका की श्लैष्मिक कला में और स्थानों की श्लैष्मिक कला से यह विशेषता है कि उसमें रक्त अधिक रहता है ; शुक्तिकाओं पर चढ़ा हुआ भाग विशेषकर अधिक रक्तमय होता है ; इसमें रक्त केशिकाओं के घने जाल और बड़े बड़े झुंड रहते हैं। ऊर्ध्व शुक्तिका और परदे के बीच में $\frac{1}{12}$ इंच और अधो शुक्तिका और परदे के बीच में $\frac{1}{6}$ इंच से अधिक अंतर नहीं रहता। जब ज़ुकाम में श्लैष्मिक कला का प्रदाह होता है तो कला के फूल जाने से यह अंतर और भी कम हो जाता है. इस अंतर में श्लेष्म के भर जाने से या शुक्तिकाओं की सूजी हुई कला के परदे से मिल जाने के कारण कभी कभी नासिका के सुर बन्द हो जाया करते हैं। नासिका में अधिक रक्तमय कला के रहने का मुख्य अभिप्राय यह है कि जो वायु भीतर जावे वह रक्त की गरमी से गरम हो कर जावे। कला से मिलकर जाने के कारण वायु में कुछ तरी भी आ जाती

है। अधिक ठढी वायु फुप्फुसादि कोमल अगो को हानिकारक है।

श्लैष्मिक कला के पृष्ठ की सेलों में लोमवत् अकुर होते हैं; ये **सेलांकुर** कंठ का ओर गति किया करते हैं। गधक्ष प्रदेश में इस प्रकार की अंकुरविशिष्ट सेलें नहीं होतीं।

श्लैष्मिक कला में श्लैष्मिक ग्रन्थियों के अतिरिक्त जगह जगह लसीकाणुसदृश सेलों के समूह भी रहते हैं।

श्लैष्मिक कला में श्लेष्म बना करता है जिससे उसके पृष्ठ तर रहा करते हैं। जब इस कला का प्रदाह होता है (जसे जुकाम में) तब यह श्लेष्म अधिक बनता है: इसी को सिनक कहते हैं; यह सिनक नासारध्रों द्वारा बाहर निकलता हैं या पीछे कंठ मे चला जाता है। सिनक मस्तिष्क से नहीं आता जैसा कि कुछ लोगों का मिथ्या विचार है।

नासिका के कार्य

नासिका के दो बड़े कार्य हैं.—

१ वह श्वासमार्ग का एक बड़ा आवश्यक भाग है (देखो अध्याय ११ पृष्ठ १६२)।

२ वह हमारी घ्राणेन्द्रिय है।

श्वास मार्ग

उच्छ्वास क्रिया से वायु नासारंध्रों द्वारा नासिका में प्रवेश करती है; मध्य और अधो सुरंगों में होती हुई पश्चिम द्वारों द्वारा वायु कंठ में पहुंचती है; कंठ से स्वरयंत्र और टेंटुवे में से होकर फुप्फुसों में जाती है। प्रश्वास क्रिया में

अशुद्ध वायु टेंटुवे, स्वरयंत्र, और कंठ में होती हुई नासिका में पहुंचती है, वहां से नासारंध्रों द्वारा बाहर आती है। जब हम मुंह से सांस लेते हैं तो वायु सीधी मुंह से कंठ में चली जाती है और कंठ से मुंह में हो कर बाहर आ जाती है।

श्वास नासिका द्वारा ही लेना चाहिये, मुंह द्वारा नहीं। नासारंध्रों में बालों की छलनी होती है जिस का काम भीतर जाने वाली धूल मिट्टी या वायु में उड़ने वाले सूक्ष्म कीडों इत्यादि को बाहर रोक लेना है; मुंह में ऐसा कोई प्रबन्ध नहीं है। नासिका की मोटी रक्तमय कला के रक्त की गरमी से भीतर जाने वाली वायु गरम हो जाती है अर्थात् उस का तापक्रम शरीर के तापक्रम के बराबर हो जाता है; मुंह में ठंढी वायु को गरम करने का कोई प्रबन्ध नही है। नासिका की श्लैष्मिक कला में जो श्लेष्म बनती है उस में कुछ कीटाणुनाशक शक्ति भी होती है; जब वायु भीतर जाती है तो वह थोड़ी बहुत कीटाणु रहित हो कर जाती है, मुंह में इस प्रकार का कोई प्रबन्ध नही है। मुंह से श्वास लेने वालों का स्वास्थ्य बहुधा खराब रहा करता है; उन को ज़ुकाम (प्रतिश्याय), खांसी अकसर रहा करते हैं, गला भी पड़ जाया करता है, और फुप्फुस के रोगों के होने की भी अधिक सभावना रहती है।

जिन बालकों को नासिका से श्वास लेने की अपेक्षा मुंह से श्वास लेने में सुगमता होती है या जो नासिका से श्वास ले ही नहीं सकते उन के नासा गुहा में या कंठ के ऊपर के भाग में बहुधा किसी प्रकार की रुकावट हुआ करती है जो चिकित्सा से दूर की जा सकती है। मुंह से श्वास लेने को एक बुरी आदत समझना चाहिये।

घ्राणेन्द्रिय

प्रत्येक नासा गूहा में ऊर्ध्व शुक्तिका तथा उस के सम्मुख परदे की श्लैष्मिक कला का काम गंध पहचानने का है। इन दोनों स्थानों की कला को **घ्राण प्रदेश** कहते हैं (चित्र ७५); इस का क्षेत्र फल १$\frac{१}{२}$ वर्ग इंच (२५० वर्ग सहस्रांश मीटर) से अधिक नहीं होता।

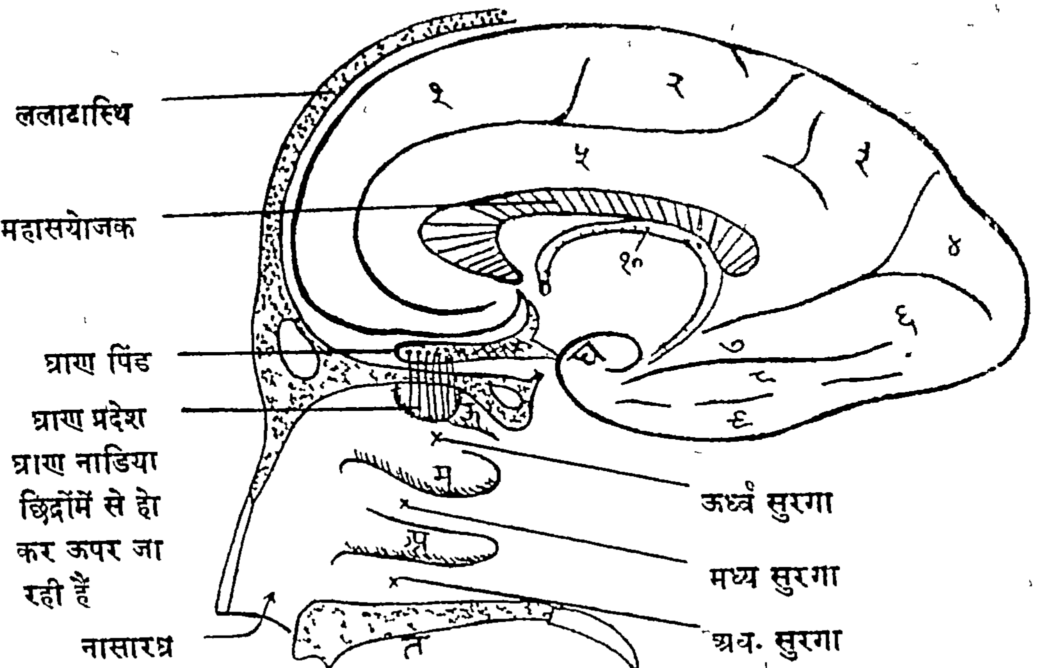
नासिका के और भागों की कला गन्धज्ञ नहीं होती। घ्राण प्रदेश का रंग पीला सा होता है। यहां दो प्रकार की सेलें रहती हैं:—

१ साधारण सेलें जिन का ऊपर का भाग स्तंभाकार होता है और नीचे का पतला और नोकीला। इन सेलों के सहारे और विशेष सेलें रहती हैं।

२. गन्धज्ञ सेलें **(घ्राण सेलें)**; ये सेलें बीच में से मोटी होती हैं और दोनों सिरों पर पतली। जो सिरा पृष्ठ पर होता है उस में बाल जैसे कई सख्त तार निकले रहते हैं; दूसरे सिरे से एक पतला और लम्बा तार निकलता है। सेलों के इन पतले और लम्बे तारों से घ्राण नाड़ियां बनती हैं। ऊपर के तार **घ्राणांकुर** कहलाते हैं।

वस्तुओं की गन्ध तब ही मालूम हो सकती है कि जब वे वायव्य दशा में घ्राण सेलों के घ्राणांकुरों से टकरावें। जब गंधवत् द्रव्यों के अणु घ्राणांकुरों से लगते हैं तो घ्राण सेलों पर एक विशेष प्रभाव पड़ता है। घ्राण नाड़ियों द्वारा यह प्रभाव मस्तिष्क के घ्राणकेन्द्रों को पहुंचता है जिससे हम को गन्ध का बोध होता है।

चित्र ७५ – घ्राण प्रदेश का घ्राण खंड से सम्बंध



१,२, ३,४, ५, ६, ७,८, ९ बृहत् मस्तिष्क के मध्य पृष्ठ के खंड,
१० = धनुप पिंड,
घ=घ्राण केंद्र, ऊ=ऊर्ध्व शुक्तिका; म=मध्य शुक्तिका, अ=अधोशुक्तिका,

घ्राण नाडियां जिनकी संख्या हर एक ओर २० के लगभग होती है घ्राण प्रदेश से नासा गुहा की छत के छिद्रों में से होकर कपाल में घुस जाती हैं (चित्र ७५), कपाल में पहुंचते ही ये घ्राण पिंड में घुस जाती है और यहीं इन का अंत हो जाता है। घ्राण पिंड से नये तार आरंभ होते हैं जिन से घ्राण पथ बनता है; घ्राण पथ का अंत घ्राण केन्द्र में होता है।

घ्राण प्रदेश को छोड़ कर नासिका की शेष श्लैष्मिक कला में केवल स्पर्श, पीडा, गरमी, सर्दी प्रतीत करने की शक्ति है; इस कला में पंचमी नाडी के तार रहते हैं।

अध्याय २५

जिह्वा (रसना); स्वादेन्द्रिय

जब हम कोई चीज़ खाते हैं तो हम को उस का स्वाद जिह्वा द्वारा ही मालूम होता है। रस या स्वाद पहिचानने के अतिरिक्त जिह्वा और भी कई कार्य करती है; उसकी सहायता से हम बोलते हैं; भोजन को भली प्रकार चबाने और उस को निगलने के लिये भी उस की बड़ी आवश्यकता है। जब कोई चीज़ दांतों के बीच में फंस जाती है तो उस को जिह्वा निकाल लेती है, वह भोजन को गाल और दांतो के बीच में या दांतों की संधों में अड़ने नहीं देती। भोजन की वस्तुओं का ताप-क्रम मालूम करने की शक्ति भी इस में है।

जिह्वा की बनावट

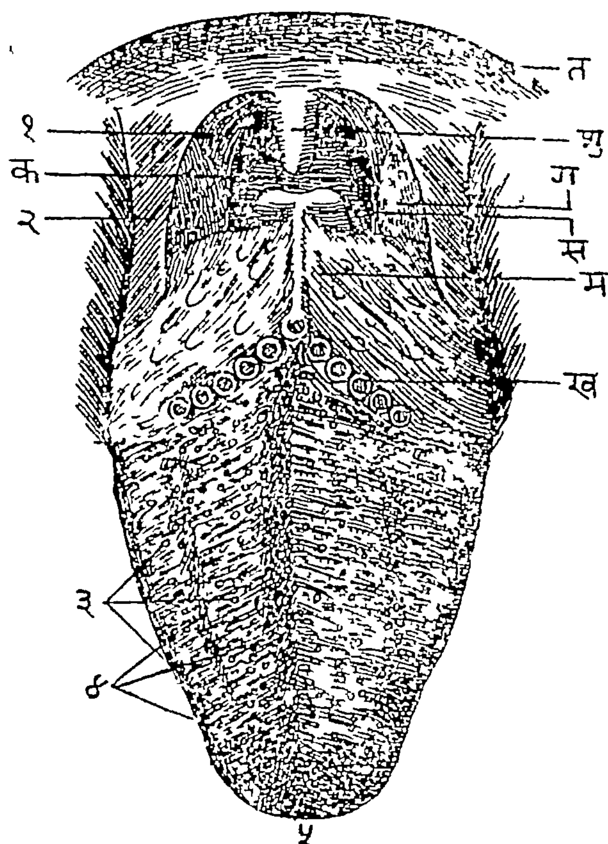
सुस्थता में उस की फूंग (अगला सिरा) पतली और नोकीली होती है और जड़ (मूल) मोटी और चौड़ी। उस का रंग गुलाबी सा होता है। रक्तहीनता में रंग फीका पड़ जाता है। जिन लोगों को सदा अजीर्ण रहता है उन के मुंह से दुर्गन्ध आया करती है और जिह्वा पर मैल जम जाता है जिस के कारण उस का रंग मैला श्वेत या भूरा सा हो जाता है, कभी कभी जिह्वा फट भी जाती है।

जिह्वा अधिकतर मांस से बनी है, मांस के ऊपर मोटी श्लैष्मिक कला चढ़ी रहती है। वह कई मांस पेशियों† द्वारा निम्न हन्वस्थि, शिफा प्रवर्धन, और कंठिकास्थि से बंधी रहती

† १. शिफारसनिका। २. जिह्वाकठिका। ३. चिवुकजिह्वाकठिका।

है। जिस मांस* से वह बनी है उसके संकोच और विसार से वह छोटी, बड़ी, चौड़ी और पतली हो जाती है। जिन मांस पेशियों द्वारा वह अस्थियों से बंधी है उन के संकोच

चित्र ७६ जिह्वा



चित्र व्याख्या

त=कोमल तालु ·
शु=शुंडिका ;
ग=ताल्व ग्रन्थि ·
स=स्वरयन्त्रच्छद ;
म=जिह्वामूल ;
ख=खातवेष्टित अंकुर ·
क=कंठ ;
१=पाश्चात्य स्तंभ ;
२=अग्र स्तंभ ;
३, ४=अंकुर ;
५=फ़ू ग (जिह्वाग्र)

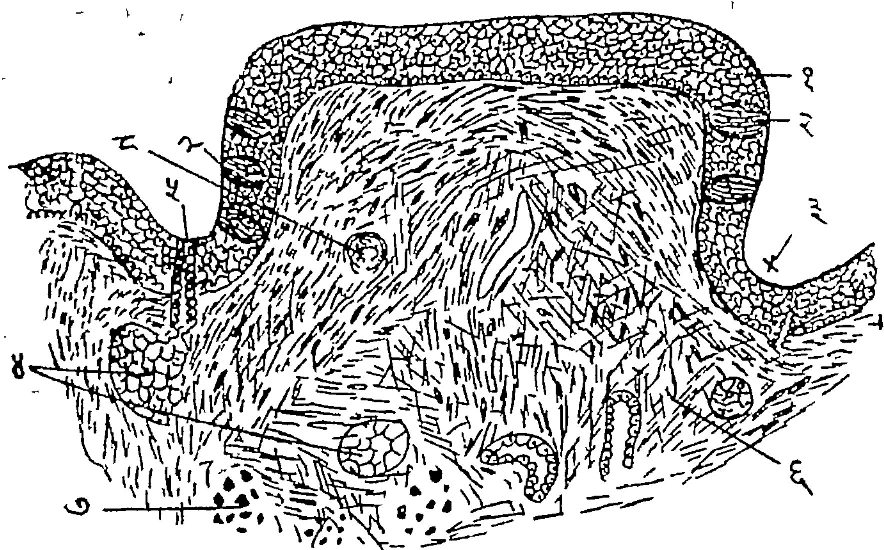
* १. ऊर्ध्व अन्वायाम रसनिका। २. अधो अन्वायाम रसनिका। ३. व्यत्यस्त रसनिका। ४. लम्ब रसनिका। ये सब पेशिया युग्म हैं; जैसी वे जिह्वा के दक्षिणार्ध में हैं वैसी ही वामार्ध में हैं।

और विसार से वह मुंह से बाहर निकल आती है और फिर भीतर चली जाती है और मुंह के भीतर भी गति करती है।

यदि आप जिह्वा के ऊपर के पृष्ठ को देखें तो श्लैष्मिक कला में अनेक छोटे और बड़े दाने दिखाई देंगे। ये दाने या उभार सौत्रिक तंतु, नाड़ी सूत्र और रक्तकेशिकाओं के इकट्ठे होने से बनते हैं; इन सब चीज़ों के ऊपर सेलों की कई तहें चढ़ी रहती हैं (देखो चित्र ७६)।

दाने या अंकुर तीन प्रकार के होते हैं:—

चित्र ७७ खातवेष्टिताकुर की सूक्ष्म रचना



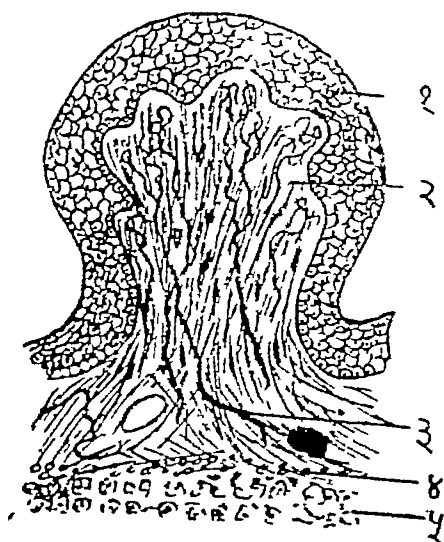
१=खातवेष्टिताकुर के पृष्ठ की सेलो की तहें, २=स्वाद कोष; ३=खात, या खाई; ४=जिह्वा की ग्रन्थियां, ५=ग्रन्थि स्रोत, ६=सौत्रिक ततु ७=मांस, ८=धमनी,

१. जिह्वामूल पर नौ दस बड़े बड़े दाने रहते हैं, ये दाने दो पंक्तियों में रहते हैं जो पीछे जाकर एक दूसरे से मिलकर एक वृहत् कोण बनाती है (चित्र ७६ में ख)। प्रत्येक दाने के चारों ओर एक खाई होती है: इस खाई के कारण ये दाने **खातवेष्टितांकुर** कहलाते है (चित्र ७७)।

खात की दीवारों में दबे हुए बहुत से छोटे छोटे विशेष सेलसमूह होते है (चित्र ७७ में २)· इन को **स्वादकोष** कहते है, प्रत्येक अंकुर में कोई सौ डेढ़ सौ स्वादकोष होते है।

२ दूसरे प्रकार के दाने जिह्वा के किनारों और फूंग पर पाये जाते है, इन में भी स्वादकोष होते हैं, ये कुछ कुछ छत्रिका नामके वनस्पति जैसे होते है इस कारण **छत्रिकांकुर** कहलाते है (देखो चित्र ७६ में ४ ; चित्र ७८)।

चित्र ७८ छत्रिकांकुर की सूक्ष्म रचना।



१=पृष्ठ की सेलें,
२=सौत्रिक तंतु,
३=रक्तवाहिनी;
४=लसीकाणु समूह;
५=मांस;

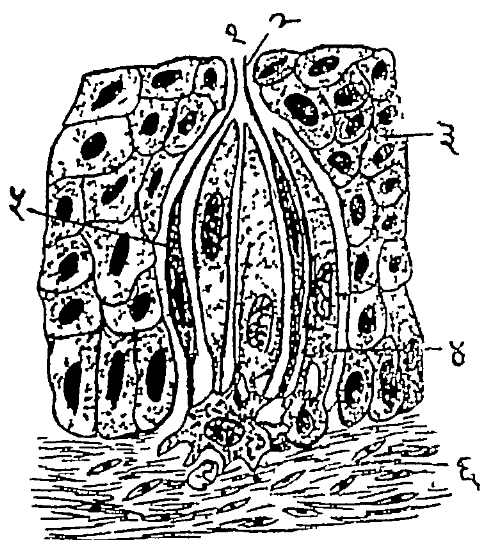
३. ये दाने पतले और नोकीले होते हैं और जिह्वा में हर जगह पाये जाते हैं । ये बहुधा समांतर पंक्तियों में रहते हैं, इन को **सूत्राकारांकुर** कहते हैं (चित्र ७६ में ३) इन में स्वाद पहिचानने की शक्ति कम होती है, इन का विशेष सम्बन्ध स्पर्श ज्ञान से है ।

जिह्वा की फूग, मूल तथा किनारों में स्वाद पहिचानने की शक्ति अधिक होती है, शेष भाग स्पर्श, उष्णता इत्यादि के ज्ञान के लिये काम में आता है ।

स्वाद कोष (चित्र ७६)

स्वाद कोष विशेषकर खातवेष्टित और छत्रिकांकुरों में पाये जाते हैं, इन के अतिरिक्त वे कोमल तालु के नीचे के पृष्ठ और स्वरयंत्रच्छद के पिछले पृष्ठ पर भी रहते हैं। स्वाद

चित्र ७६



१=स्वाद रंध्र

२=रसज्ञ सेल का बाल

३=मामूली सेलें जिनसे स्वाद कोष की दीवार बनती है

४=रसज्ञ सेलों को सहारा देने वाली सेलें

५=रसज्ञ सेल

६=सौत्रिक तन्तु

कोष में एक छिद्र होता है जिस को स्वादरंध्र कहते हैं। स्वाद कोष में दो प्रकार की सेल होती हैं:--

१ रसज्ञ सेलें (चित्र ७६ में ५) जो बीच मे मोटी होती हैं और सिरों पर पतली। इन के ऊपर के सिरे से एक बाल जैसा तार निकलता है; यह बाल स्वादरंध्र में रहता है (चित्र ७६ में २); सेल के दूसरे सिरे से जो तार निकलता है वह स्वाद सम्बन्धी नाड़ी के तार से मिला रहता है।

२ रसज्ञ सेलें अधिकतर कोष के कैन्द्रिक भाग मे रहती हैं; इन के चारों ओर और कुछ उन के बीच में भी और सेलें रहती हैं (चित्र ७६ में ४); ये रसज्ञ सेलो को सहारा देती हैं।

स्वाद या रस

सुरस वस्तुओं का स्वाद तब ही जाना जा सकता है कि जब वे घुली हुई दशा में हों। जब आप मिश्री खाते हैं तो वह तुरंत मुंह के रसों में घुल जाती है, घुली हुई मिश्री के अणु रसज्ञ सेलो के बालों से टकराते हैं; इस स्पर्श से जो प्रभाव इन सेलों पर पड़ता है उस की सूचना नाडी तारों द्वारा मस्तिष्क के स्वाद केन्द्रो को पहुंचती है।

जिह्वा के पिछले $\frac{1}{3}$ भाग से ये तार जिह्वाकंठ नाड़ी द्वारा मस्तिष्क में पहुंचते हैं; अगले $\frac{2}{3}$ भाग के तार मौखिक (सप्तमी) नाड़ी द्वारा मस्तिष्क को जाते हैं। दोनों नाड़ियों के तार स्वाद केन्द्र में पहुंचते हैं।

रसों के भेद

रस ६ हैं:—

अम्ल (खट्टा); तिक्त (कड़वा); मधुर (मीठा) लवण (नमकीन), कटु (चरपरा) और कषाय (कसैला)। इन में से मुख्य रस अम्ल, तिक्त, मधुर और लवण माने जाते हैं। मधुर [illegible] से, अम्ल किनारों से और कटु जिह्वा मूल से अच्छी प्रकार जाने जाते हैं, शेष रस कुछ कुछ हर एक भाग में जाने जा सकते हैं।

अध्याय २६

कर्ण-श्रवणेन्द्रिय ।

इस इन्द्रिय से हम सुनते हैं अर्थात् इसके द्वारा हमको शब्द या आवाज़ का ज्ञान होता है। इसके तीन भाग हैं; इनमें से केवल एक ही भाग बाहर से दिखाई देता है, इसी भाग को साधारण बोल चाल में कान कहते हैं; शेष दो भाग शंखास्थि के भीतर रहते हैं और बाहर से दिखाई नहीं देते।

कर्ण के तीन भाग

१ **बाह्य कर्ण**

२ **मध्य कर्ण** }
३. **अंतःस्थ कर्ण** } शंखास्थि के भीतर रहते हैं।

बाह्य कर्ण (चित्र ८०)

बाह्यकर्ण के दो भाग हैं:—

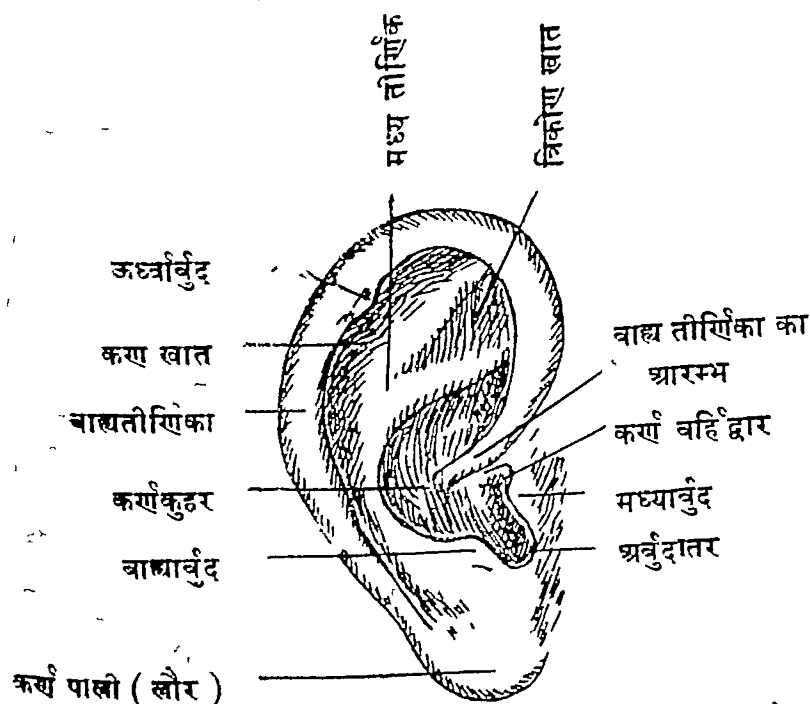
१. एक वह भाग जिसमें छिद्र करा कर स्त्रियां बालियां पहनती हैं; यह **कर्ण शष्कुली** कहलाता है।

२ कान की नली जो कर्ण शष्कुली के छिद्र से मध्य कर्ण की बाहरी दीवार तक रहती है; इसको **कर्णांजली** कहते हैं।

कर्ण शष्कुली:—इसका आकार सीपी (शुक्तिका) जैसा होता है; बड़ा भेद यह है कि इसमें कई उभार और

दबाव होते हैं; इन सब के जुदा जुदा नाम रक्खे गये हैं। कर्णशष्कुली का नीचे वाला अंश मोटा और मुलायम होता है; इसको **लौर** या **कर्ण पाली** कहते हैं। कर्ण पाली को छोड़ कर कर्ण शष्कुली के शेष भाग में कारटिलेज होता है जिसके दोनों पृष्ठों पर त्वचा रहती है; कारटिलेज कई जगह मुड़ा रहता है; कर्ण पाली में कारटिलेज नहीं होता; उसमें सौत्रिक तंतु और ज़रा सी वसा रहती है।

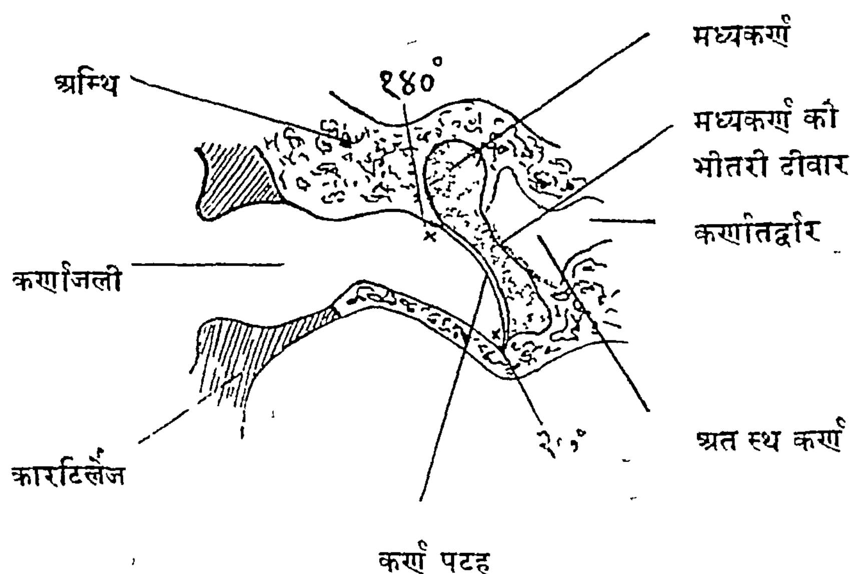
चित्र ८० कर्ण शष्कुली।



कर्ण शष्कुली के बीच में सीपी के भांति एक गढ़ा होता है; इस गढ़े की तली से कान की नली (कर्णांजली) का आरंभ होता है। इस गढे को **कर्ण कुहर** कहते हैं (चित्र ८०)

कर्णांजली–(चित्र ८४ मे ब ; ८५ में १ ; चित्र ८१) ; यह नली कोई १ इंच लम्बी होती है , नली के बाहरी $\frac{१}{३}$ भाग की दीवार कारटिलेज से बनती है। शेष भाग अस्थिकृत है (चित्र ८१) समस्त नली में त्वचा लगी रहती है जिसमें

चित्र ८१



बहुत सी छोटी छोटी ग्रंथियां होती हैं। इन ग्रन्थियों में वह चीज़ बनती है जिसको साधारण बोल चाल में कान का मैल कहते हैं , इसका नाम **कर्ण गूथ** है। साधारणतः कर्ण गूथ बहुत थोड़ा बनता है और पतला होता है ; कभी कभी वह अधिक बनने लगता है और नली में इकट्ठा हो जाता है। यह वस्तु पानी लगने पर फूल जाती है। कान में पानी गिरने से जो कर्ण शूल हो जाया करता है उसका एक कारण इस मैल का खूब फूल जाना है।

कर्णांजली बिलकुल सीधी नहीं होती जैसा कि चित्र ८१ मे चित्रित है; इसी कारण बाहर से उसके सब भाग दिखाई नहीं देते, यदि कर्ण शष्कुली ऊपर और पीछे को खींची जावे तब कर्णांजली सबकी सब देखी जा सकती है।

कर्ण पटह (चित्र ८२ चित्र ८४ में प)

यदि कर्णांजली को कर्णदर्शक यंत्र से यथाविधि देखें तो जहां उसका अन्त होता है वहां एक धूसरश्वेत चमकदार परदा लगा हुआ दिखाई देगा। इस परदे को कर्णपटह (या कान का ढोल) कहते हैं। जो मनुष्य मैल निकालने के लिये कर्णांजली को सींक या किसी और पतली नोकीली चीज़ से कुरेदा करते हैं वे कभी कभी इस क्रिया से कर्णपटह को हानि पहुंचा लेते हैं। कनपटी पर ज़ोर से थप्पड लगने से या शिर के शंख देश में किसी और प्रकार अधिक चोट लगने से (विशेष कर बालकों में) कभी कभी यह परदा फट जाया करता है और कान से रक्त बहने लगता है।

कर्ण पटह बाह्य कर्ण को मध्य कर्ण से जुदा करता है। यह परदा तिर्छा लगा रहता है, कर्णांजली की छत और परदे के ऊपर के किनारे के एक दूसरे से मिलने के स्थान पर १४०° का बृहत् कोण बनता है, जहां परदे का नीचे का किनारा कर्णांजली के फर्श से मिलता है वहां २७° का लघु कोण बनता है (चित्र ८७)। कर्ण दर्शक यंत्र से देखने पर कर्णपटह के मध्य भाग में एक गढ़ा सा दिखाई देता है, इसे **पटह नाभि** कहते हैं, परदे का यह भाग मध्य कर्ण की ओर दबा हुआ है चित्र ८२ में २), परदे के मध्य में एक तिर्छी रेखा दिखाई देती है, यह रेखा ऊपर से नाभि तक रहती है। यह रेखा वास्तव

में मध्य कर्ण की मुग्दर नामक अस्थि के बड़े प्रवर्द्धन (मुग्दर दंड) की छाया है (चित्र ८२ में ३) कभी कभी मुग्दरास्थि के पीछे नेहाई अस्थि का लघु प्रवर्द्धन भी दिखाई दिया करता है (चित्र ८२ में ५); पटह के अगले और नीचे के भाग में एक तिकोना चमकीला स्थान देख पड़ता है। इसे प्रकाश शंकु कहते हैं (चित्र ८२ में प); इसका कारण प्रकाश की किरणों का परावर्तन है। कर्णपटह पर और भी कई चीज़ें दिखाई देती हैं। उसमें कोई छिद्र नहीं होता। रोगों में उसका दर्शन और प्रकार का हो जाता है।

मध्य कर्ण (चित्र ८१, ८४ में म)

यह एक छोटी सी कोठरी है जो शंखास्थि के भीतर रहती है। इस कोठरी की चौड़ाई $\frac{1}{4}$ इंच; और लम्बाई अथवा ऊंचाई $\frac{15}{24}$ इंच ($\frac{1}{2}$ इन्च से कुछ अधिक) के लगभग होती है। उसकी बाहरी दीवार कर्णपटह से बनती है। भीतरी दीवार से अंतःस्थ कर्ण का आरम्भ होता है। इस दीवार में दो छिद्र होते हैं एक अंडाकार दूसरा गोल (वृत्त) होता है। शेष दीवारें, छत और फ़र्श शंखास्थि से बनते हैं। उसकी सामने की दीवार में एक नली का मुख होता है, इस नली द्वारा मध्यकर्ण कंठ से सम्बन्ध रखता है (चित्र ८४ में कं = नली)

यदि आप मुंह बंद करके नासारंध्रों को भी अंगुलियों से दबा कर बंद करलें और फिर श्वास बाहर निकालने की कोशिश करें तो कर्ण में कुछ भरता हुआ मालूम होगा। वास्तव में होता यह है कि नासारंध्रों और मुख के बंद रहने से वायु बाहर तो जा नहीं सकती परन्तु कंठ का मध्य कर्ण से सम्बन्ध

चित्र ८२ कर्णपटह (कर्णदर्शक यंत्र द्वारा देखा गया)



(After Politzer from Hunter Tod's Diseases of Ear)

१=कर्णपटह

२=पटहनाभि

३=मुद्गरदंड

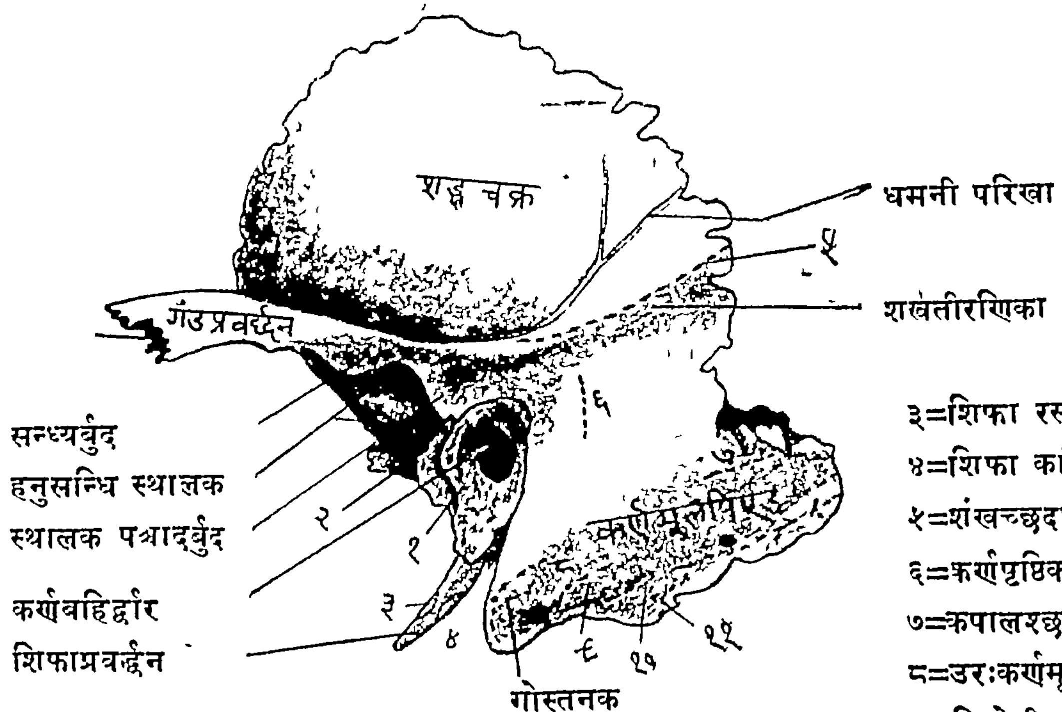
४=मुद्गर का लघु प्रवर्द्धन

५=नेहाई का लम्बा प्रवर्द्धन

६=कला

प=प्रकाश शकु

चित्र ८३ शंखास्थि (बाहरी पृष्ठ)



होने के कारण वह इस नली में से होकर मध्य कर्ण में चली जाती है, इस वायु के दबाव से कर्ण पटह कुछ बाहर को जाने लगता है। इस नली को **कंठ कर्णी नाली** कहते हैं (चित्र ७४ में न) जब कंठ के प्रदाह के कारण इस नाली में श्लेष्म इकट्ठी हो जाती है या जब इस नाली का प्रदाह हो जाता है तब कान भारी मालूम हुआ करता है और सुनाई ठीक ठीक नहीं पड़ता।

मध्य कर्ण की अस्थियां (चित्र ८४,८५)

मध्य कर्ण में तीन छोटी छोटी अस्थियां रहती है, ये अस्थियां आपस में बंधनों द्वारा बधी रहती हैं और इनके बीच में चल संधियां होती हैं।

सब से बाहर अर्थात् कर्णपटह के पास जो अस्थि है उसको **मुग्दर** कहते हैं (चत्र ८४ में मु), इसकी शकल कुछ कुछ मुग्दर या हथौड़े के सदृश होती है। बीच की अस्थि को **नेहाई** या **शूर्मिका** कहते है (चित्र ८४ में न), इसका आकार स्वर्णकार की नेहाई के सदृश होता है। तीसरी अस्थि अतःस्थ कर्ण के पास होती है, इसकी शकल पादग्रहणी या रकाब के सदृश होती है, इसका नाम **रकाब** है (चित्र ८४ में र)

मुग्दर—इस अस्थि का मोटा भाग **'शिर'** कहलाता है, शिर के नीचे का दबा हुआ भाग **'ग्रीवा'** कहलाता है। ग्रीवा के नीचे उस में तीन प्रवर्द्धन होते हैं। एक हथौड़े के बींटे के सदृश लम्बा होता है, यह **मुग्दर दंड** कहलाता है और कर्णपटह से लगा रहता है; मुग्दरदंड से

एक पतली पेशी लगी रहती है जिस के सकोच से कर्ण पटह तन जाता है, इस पेशी को **पटहोत्तंसनी** पेशी कहते हैं; जब हम किसी बात को ध्यान से सुनते हैं तब कर्ण पटह पहिले की अपेक्षा अधिक तन जाता है। शेष दो प्रवर्द्धन छोटे छोटे होते हैं, एक को पूर्व प्रवर्द्धन और दूसरे को पार्श्वप्रवर्द्धन कहते हैं। इस अस्थि के शिर पर एक स्थालक होता है; यहीं पर नेहाई अस्थि इस से मिली रहती है।

नेहाई या शूर्मिका—इस की शकल अग्रचर्वण दंत से भी बहुत कुछ मिलती है। नेहाई (और दंत) के समान इस में एक मोटा भाग होता है जिस से दो प्रवर्द्धन निकले रहते हैं। मोटे भाग को **गात्र** कहते हैं। एक प्रवर्द्धन छोटा (लघु) होता है दूसरा बड़ा (बृहत्)। गात्र पर एक स्थालक होता है, यहीं पर मुग्दर का शिर उस से मिला रहता है (देखो चित्र ८४); इन दोनों के बीच में संधि होती है। बृहत् प्रवर्द्धन का सिरा रकाबास्थि के एक अंश से मिला रहता है ; इन दोनों के बीच में संधि होती है।

रकाब—लोहे की रकाब के भांति इस में एक महराब (डांट) होती है जो एक चौड़े भाग से जुडी रहती है; यह चौड़ा भाग लोहे की रकाब के उस भाग के सदृश है जिस पर पैर टिकता है। यह चौड़ा भाग या रकाबाधार (पादान) अंतःस्थ कर्ण के एक छिद्र में फँसा रहता है (चित्र ८४ में ६); जहां महराब के दोनों सिरे आपस में मिलते हैं वहां एक छोटा सा उभार होता है; इस को **शिर** कहते हैं; शिर पर एक स्थालक होता है जिस से शूर्मिकास्थि का बृहत् प्रवर्द्धन

चित्र ८४ श्रावणेन्द्रिय



चित्र ८५



FROM HARMSWORTH'S POPULAR SCIENCE.

मिला रहता है। शिर के नोचे का भाग **ग्रोवा** कहलाता है; ग्रोवा से **कर्णान्तरिका** नामक पतली पेशी की कंडरा लगी रहती है।

तीनों अस्थियों के बीच में संधियां होती हैं जिन के कारण वे एक दूसरे के सहारे गति कर सकती हैं। मुग्दरास्थि कर्ण पटह से लगी रहती है और रकाब अंतःस्थ कर्ण के एक छिद्र से; इस कारण जब कर्ण पटह हिलता है तो ये सब अस्थियां हिलती हैं और इस गति का असर अतःस्थ कर्ण पर भी पड़ता है जैसा कि हम आगे चलकर समझायेंगे। जब तक अस्थियां अच्छी तरह गति करती हैं तभी तक हम अच्छी तरह सुन सकते हैं। जब मध्यकर्ण का प्रदाह होता है तो इन अस्थियों की संधियां खराब हो जाती हैं; कभी कभी अचेष्ट बन जाती हैं; तब श्रावण शक्ति में फ़र्क आ जाता है, वृद्धावस्था में ये संधियां बिगड़ जाया करती हैं।

श्लैष्मिक कला

मध्य कर्ण में सब जगह एक पतली श्लैष्मिक कला बिछी रहती है; यह कला इस कोष्ठ में रहने वाली अस्थियों, पेशियों और नाडियों पर भी लगी रहती है। कर्णमूलपिंड (चित्र ८३) के भीतर जो छोटी छोटी बहुत सी वायु कोटरें हैं उन में भी यह कला बिछी रहती है। कंठकर्णी नाली की कला द्वारा मध्य कर्ण की श्लैष्मिक कला कंठ की श्लैष्मिक कला से मिली रहती है। कंठकर्णी नाली की श्लैष्मिक कला और मध्य कर्ण के बहुत से भागों की श्लैष्मिक कला के पृष्ठ की सेलों में लोमवत् अंकुर (सेलांकुर) होते हैं।

अंतः स्थ कर्ण या गहन (चित्र ८४, ८५)

इस की बनावट बड़ी पेचीदा और विचित्र है ; इसी से इस को गहन भी कह देते है ।

अंतः स्थ कर्ण के तीन भाग हैं । मध्य कर्ण के सम्मुख एक कोठरी होती है ; यह बीच का भाग है (चित्र ८४ में ४) । इस कोठरी के पिछले भाग से तीन मुड़ी हुई नलियां जुड़ी रहती हैं; इन से अंतःस्थ कर्ण का पिछला भाग बनता है (चित्र ८४ में १, २, ३,) । कोठरी के सामने घड़ी की कमानी की तरह एक मुड़ा हुआ भाग होता है (चित्र ८४ में ५) ; इस की शकल कोकला नामक शंख से बहुत कुछ मिलती है, इस कारण इस को **कोकला*** कहते है । इस तरह से अंतः स्थ कर्ण के ये तीन भाग हुए.—

१. तीन मुड़ी हुई नलियां या **अर्धचक्राकार नालियां** ।

२. बीच की कोठरी या **कर्ण कुटी** ।

३ **कोकला** ।

ये तीनों चीज़े अस्थिकृत हैं (इन की दीवारे शखास्थि से ही बनती हैं , यह न समझना चाहिये कि शंखास्थि के भीतर कोई खोखली जगह है जिस में ये चीज़ें रहती हैं और इन चीज़ों और शंखास्थि के बीच में कोई अतर रहता है ; ऐसा नही है) ।

---

* इस प्रकार के शख छोटी नदियो में बहुत मिलते है , बहुत लोग इस शंख को घोंघा भी कहते हैं। इस शब्द का अगरेज़ी रूप कौकलिया (cochlea) है ।

अस्थिकृत अंतः स्थ कर्ण के तीनों भागों के भीतर झिल्ली-कृत अंतः स्थ कर्ण रहता है; अस्थिकृत नालियों के भीतर झिल्लीकृत नालियां रहती हैं; अस्थिकृत कुटी में झिल्लीकृत कोष्ठ रहते हैं; अस्थिकृत कोकले में झिल्लीकृत कोकला रहता है। अस्थि के खोल से उस के भीतर रहने वाली चीज़ों की रक्षा होती है। इस प्रकार अंतः स्थ कर्ण के दो भाग हुए:—

१. अस्थिकृत अंतः स्थ कर्ण।

२. झिल्लीकृत अंतः स्थ कर्ण।

अस्थिकृत अंतः स्थ कर्ण (चित्र ८६, ८७)

१ **कर्णकुटी**—यह कोठरी मध्यकर्ण के सम्मुख और अर्धचक्राकार नालियों और कोकले के बीच में रहती है। नालियां उस के पीछे और कुछ ऊपर को रहती हैं; कोकला उस के आगे रहता है। कुटी कुछ अंडाकार सी होती है; जहां वह सब से चौड़ी है वहां उस का माप $\frac{१}{५}$ इंच होता है; जहां वह सब से तंग है वहां उस का माप केवल $\frac{१}{८}$ इंच ही होता है। उस की बाहर की दीवार पर (कर्ण कुटी की बाहरी दीवार ही मध्यकर्ण की अंतरीय दीवार है) एक छिद्र होता है। यह छिद्र अंडाकार होता है (चित्र ८६ में ७) और **कर्णकुटीद्वार** कहलाता है; इस छिद्र में रकाब अस्थि का चौड़ा भाग (रकाबाधार) रहता है (चित्र ८४ में ६)। कोठरी के सामने के भाग में एक गोल सा छिद्र होता है (चित्र ८४ में ७, चित्र ८६ में ६); यह कोकले का

छिद्र है और **कोकलाद्वार** कहलाता है ; कोकला द्वार एक झिल्ली द्वारा बंद रहता है ।

चित्र ८९ दाहिना अस्थिकृत गहन



१=ऊर्ध्व अर्धचक्राकार नाली २=पाश्चात्य नाली ३=पार्श्व नाली ४=नाली का फूला हुआ सिरा ५=दो नलियो का जुडा हुआ भाग ६=कोकला द्वार ७=कर्णकुटी द्वार ८=कोकला

कर्ण कुटी की शेष दीवारों पर बहुत से छोटे छोटे छिद्र और कई एक उभार और गड्हे होते हैं । छिद्रों में से होकर नाड़ी सूत्र भीतर आते हैं ।

कर्णकुटी के पिछले भाग में नालियों के पांच छिद्र होते हैं (चित्र ८७ में ४, ६, ७, ८ और ९) । हर एक नाली के दो सिरे होते हैं । तीनों नालियों के छः सिरे हुए । यदि सब सिरे कर्णकुटी में अलग अलग खुलें तो सब सिरों के ६ छिद्र होने चाहियें ; परन्तु ऊर्ध्व और पाश्चात्य नालियों के पास के सिरे कर्णकुटी में खुलने से पहले आपस में जुड़ जाते हैं,

इसलिये दोनों सिरों का एक ही छिद्र होता है। इस प्रकार तीन नालियों के केवल पांच ही छिद्र होते हैं।

२. अर्धचक्राकार नालियां—ये तीन होती हैं:—

(१) ऊपर की या **ऊर्ध्व नाली**।

(२) पीछे रहने वाली या **पाश्चात्य नाली**।

(३) बाहर की ओर रहने वाली **पार्श्व नाली**।

ऊर्ध्व नाली—इस का घेरा अर्धचक्र से कुछ अधिक होता है कोई $\frac{२}{३}$ चक्र समझिये। नाली की लम्बाई $\frac{३}{४}$ इंच के लगभग होती है। इस का एक सिरा पाश्चात्य नाली के पास के सिरे से जुड़ा रहता है ; दूसरे सिरे का छिद्र अलग होता है। (चित्र ८६ में १, चित्र ८७ में १) अलग खुलने वाला सिरा फूला हुआ होता है (चित्र ८६ और ८७ में ४)।

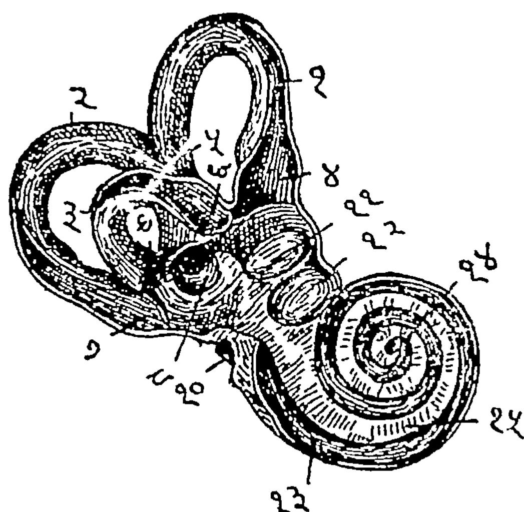
पाश्चात्य नाली—(चित्र ८६ में २)। यह तीनों नालियों में से सब से लम्बी होती है; इस की लम्बाई $\frac{४}{५}$ इंच के लगभग होती है। इस का ऊपर का सिरा ऊर्ध्व नाली के सिरे से जुड़ा रहता है, नीचे का सिरा (चित्र ८७ में ७) फूला हुआ होता है।

पार्श्व नाली--(चित्र ८६ में ३)। यह सब से छोटी है, इस की लम्बाई $\frac{१}{२}$ इंच के लगभग होती है। इसका भी एक सिरा फूला हुआ होता है, नली के दोनों सिरे जुदा जुदा खुलते हैं (चित्र ८७ में ६, ९)।

नलियों का व्यास सामान्यतः $\frac{१}{३००}$ इंच के लगभग होता है।

३. कोकला (चित्र ८६ में ८; चित्र ८७)। कोकला कुछ कुछ शंकाकार होता है; एक ओर वह पतला और नोकीला होता है, दूसरी ओर चौड़ा और मोटा; पतला भाग शिखर कहलाता है, चौड़ा भाग तली। कोकले की ऊंचाई अर्थात् शिखर से तली तक का माप $\frac{१}{५}$ इंच के लगभग होता है और तली की चौड़ाई $\frac{१}{३}$ इंच से कुछ अधिक होती है। कोकला क़रीब क़रीब क्षितिज रहता है, उस का शिखर सामने को और बाहर को ओर (कनपुटी की ओर) और ज़रा नीचे को झुका

चित्र ८७ अस्थिकृत गहन (कटा हुआ)



१ से ५ तक=वही व्याख्या जो चित्र ८६ में।
६=पार्श्व नाली का फूला हुआ सिरा
७=पाश्चात्य नाली का फूला हुआ सिरा
८=ऊर्ध्व और पाश्चात्य नालियों के जुड़े हुए सिरों का छिद्र
१०=कोकला द्वार ;
११=इस गड्ढे में अण्डाकार कोष रहता है,
१२=इस गड्ढे पर वर्तुल कोष रहता है, १३=कोकले की नीचे की नली, १५=परदा जिसके द्वारा कोकले के दो भाग हो जाते हैं, १४=कोकले का शिखर।

इस चित्र मे नालियों, कुटी और कोकलेकी दीवारें आधी आधी काट डाली गई हैं।

हुआ रहता है; उस की तली पीछे को मध्यरेखा की ओर और शङ्खास्थि के अश्मकूट (सूच्याकार भाग) के पिछले पृष्ठ की ओर रहती है। अश्म कूट के पिछले पृष्ठ पर एक छिद्र होता है जिस को **कर्णान्तद्वार** कहते हैं (चित्र ६० में क); यह एक ½ इंच लम्बी नाली का मुख है। इस नाली का नाम **कर्णान्तर नाली** है; इस का दूसरा अर्थात् वाहर का सिरा वन्द है; कोकले की तली इसी सिरे पर रहती है या यह समझो कि कर्णान्तर नाली कर्णान्तद्वार से कोकले की तली तक रहती है। यदि हम कर्णान्तद्वार में से देखें तो कोकले की तली में बहुत से छिद्र दिखाई देंगे; इन में से होकर नाड़ियां अन्दर घुसती हैं।

कोकला वास्तव में दो चीज़ों से बना हुआ है:-

१. पतला **स्तंभ** जो शङ्काकार होता है।

२. एक **नली** जो इस स्तंभ पर लिपटी रहती है।

स्तंभ—यह कोकले के बीच में रहता है; इस की तली मोटी होती है और कोकले की तली में रहती है; इस का शिखर पतला होता है और कोकले के शिखर की ओर रहता है। स्तंभ की तली में कई छिद्र होते हैं। स्तंभ के भीतर बहुत सी सीधी और तिर्छी सूक्ष्म नालियां होती हैं; श्रावण नाड़ी के तार तली के छिद्रों में से हो कर स्तंभ में घुसते हैं और फिर इन नालियों में रहते हैं।

नली—नली स्तंभ पर इस प्रकार लिपटी रहती है कि लपेट एक दूसरे से मिले रहते हैं। नली के पौने तीन लपेट

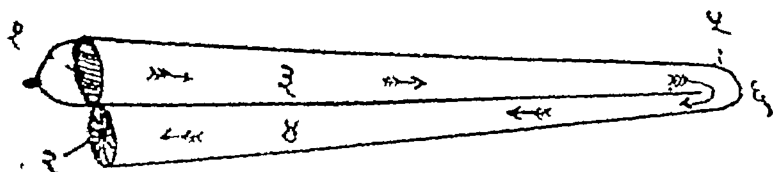
या फेरे होते हैं। नली का आरंभिक भाग जो कर्ण कुटी के पास होता है चौड़ा होता है यहां उस का व्यास $\frac{१}{८}$ इंच होता है; यहां से शिखर तक नली तंग होती चली गई है; शिखर का भाग अत्यन्त तंग होता है। नली की लम्बाई १$\frac{१}{५}$ इंच के लगभग होती है। भीतर से नली के एक परदे द्वारा दो भाग हो जाते हैं; यह परदा स्तभ से आरंभ होता है और कुछ अस्थि से बना होता है और कुछ कला से (चित्र ८७ में १५) इस परदे को **कोकला फलक** कहते हैं। नली की भांति कोकलाफलक तली से आरभ होकर चक्कर खाता हुआ शिखर तक पहुचता है, जहां नली चौड़ी होती है वहा वह भी चौड़ा होता है; जहां नली तग होती है वहां वह भी कम चौड़ा होता है।

फलक द्वारा नली के दो भाग हो जाते हैं। एक नली से दो नलियां बन जाती हैं। एक नली फलक के ऊपर रहती है दूसरी उसके नीचे। ऊपर की नली कर्णकुटी से सम्बन्ध रखती है, नीचे की मध्य कर्ण से। कर्णकुटी की बाहरी दीवार में अंडाकार छिद्र होता है जिसको कर्ण कुटी द्वार कहते हैं (देखो पृष्ठ २८९) यहां रकाबास्थि का पादान लगा रहता है। ऊपर की नली कर्णकुटीद्वार के पास ही आरंभ होती है।

फलक के नीचे की नली का वहां से आरंभ होता है जहां कोकलाद्वार (वृत्त छिद्र) होता है (देखो पृष्ठ २९० और चित्र ८५ में ८)। यह द्वार जीवितावस्था में एक झिल्ली द्वारा बंद रहता है; झिल्ली द्वारा नीचे की नली मध्यकर्ण से पृथक रहती है।

यदि यह झिल्ली न हो तो नीचे की नली का मध्यकर्ण से संबंध हो जावे। इस नली को **मध्यकर्ण संबन्धी नली (कुल्या)** कहते हैं। ऊपर नीचे की दोनों नलियां कोकले की शिखर में एक छिद्र द्वारा एक दूसरे से मिली रहती हैं (चित्र ८८)।

चित्र ८८ कोकले की नलिया (कुल्याएँ)



इस चित्र मे यह मान लिया गया है कि कोकले की नली सीधी कर दी गई है। ३ और ४ के बीच मे फलक है। दोनो नलिया (३, ४) कोकले के शिखर (६) में पहुंचकर एक छिद्र द्वारा (५) एक दूसरे से मिल जाती है। ऊपर की नली का आरंभ कर्णकुटीद्वार (१) के पास होता है जहा रकाबास्थि लगी रहती है। नीचे की नली का आरभ (या अत) कोकलाद्वार (२) मे होता है जहा एक झिल्ली लगी रहती है।

झिल्लीकृत अंतःस्थ कर्ण

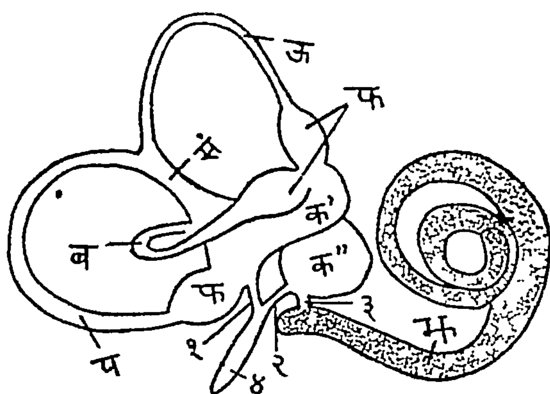
१. अस्थिकृत कर्णकुटी के भीतर झिल्ली से बनी हुई दो छोटी छोटी थैलियां रहती हैं। एक थैली ऊपर पिछले भाग में रहती है, दूसरी थैली सामने और नीचे के भाग में। पिछली थैली (चित्र ८९ में क') अगली (क'') से बड़ी होती है और उस से तीनों झिल्लीकृत नालियां लगी रहती हैं। (देखो चित्र ८९)। अगली थैली पिछली से छोटी होती है। इसके पिछले भाग से एक पतली नली निकलती है (चित्र ८९ में २) जो पिछली थैली की पतली नली (चित्र ८९ में १) से मिल जाती है ; इन दोनों से एक बड़ी नली बन जाती है (चित्र

८६ में ४) अगली थैली से एक अत्यन्त सूक्ष्म नली और निकलती है (चित्र ८६ में ३) जो झिल्लीकृत कोकले (चित्र ८६ में झ) से जुड़ी रहती है।

दोनों थैलियां कहीं कहीं कर्णकुटी की दीवार से सौत्रिक ततु द्वारा बंधी रहती हैं। थैलियों के भीतर और उन के और कर्णकुटी की दीवार के बीच में एक लसीका जैसा तरल रहता है।

२. झिल्लीकृत नालियां—अस्थिकृत नालियों के भीतर झिल्ली से बनी हुई नालियां रहती हैं। इन की मोटाई अस्थिकृत नालियों की मोटाई से $\frac{१}{३}$ होती है। कई जगह इन की दीवारें सौत्रिक तंतु द्वारा अस्थिकृत नालियों की दीवार

चित्र ८६ झिल्लीकृत अत स्थ कर्ण



ऊ=ऊर्ध्व नाली ब=पार्श्व नाली प—पाश्चात्य नाली स—जुड़ा हुआ सिरा फ—फूला हुआ सिरा क'—ऊपर की थैली क"—नीचे की थैली।

झ=झिल्लीकृत कोकला ; ३=नीचे की थैली और झिल्लीकृत कोकले के बीच में रहने वाली नली , १,२,४=नलिया।

से बंधी रहती हैं। हर नाली का एक सिरा फूला हुआ होता है। तीनों नालियां ऊपर की थैली से जुड़ी रहती है (देखो चित्र ८९)। उनमें एक तरल भरा रहता है। दोनों प्रकार की नालियों के बीच में जो अंतर है उसमें भी तरल रहता है।

३. **झिल्लीकृत कोकला**—पीछे यह बतलाया जा चुका है कि एक फलक द्वारा कोकले की नली के दो भाग हो जाते हैं; एक नली फलक के ऊपर रहती है दूसरी उसके नीचे। नीचे वाली नली को मध्यकर्ण सम्बन्धी कुल्या कहते हैं। ऊपर की नली के एक पतली कला द्वारा दो भाग हो जाते हैं; जहां फलक की अस्थि झिल्ली से मिलती है वहीं से इस कला का आरंभ होता है; यह कला बाहर की ओर जाकर कोकले की दीवार से जा मिलती है (देखो चित्र ९०) इस प्रकार कोकले की नली के तीन भाग हो जाते हैं.—

१ ऊपर की नली (चित्र ९० में १); इसका कर्णकुटी से सम्बन्ध रहता है; इसको **कर्णकुटी सम्बन्धी** (या ऊर्ध्व) **कुल्या** कहते हैं।

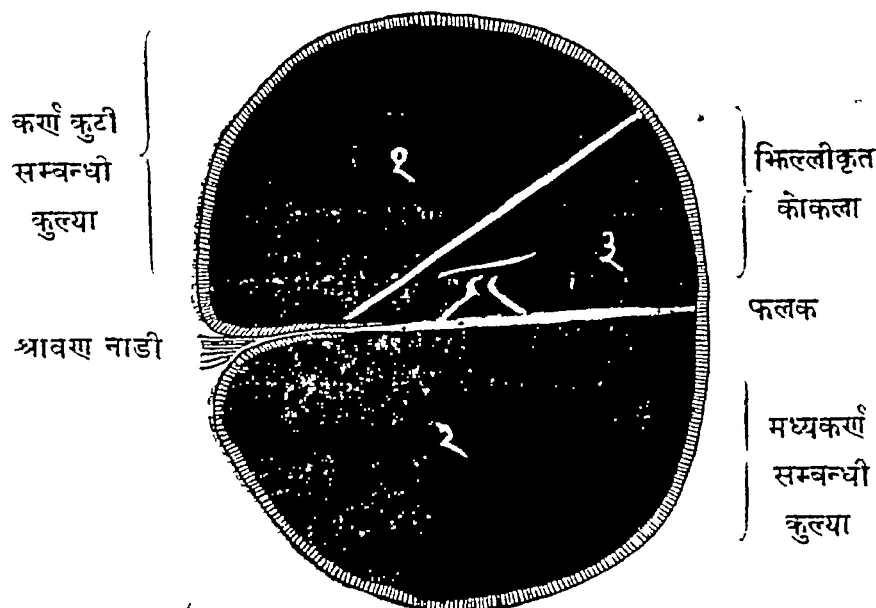
२. फलक के नीचे की नली (चित्र ९० में २); इसको **मध्यकर्ण सम्बन्धी** (या अधो) **कुल्या** कहते हैं।

३. ऊपर और नीचे (१ और २) की नलियों के बीच में रहने वाली नली (चित्र ९० में ३); यह **मध्य कुल्या** या **झिल्लीकृत कोकला** है।

तीनों कुल्याएं चक्राकार हैं। हर एक कुल्या कोई पौने तीन चक्र खा कर शिखर तक पहुंचती है। ऊपर और नीचे की कुल्याएं शिखर में पहुंच कर एक छिद्र द्वारा एक दूसरे

से मिल जाती हैं (देखो चित्र ८८); इनमें से किसी का तीसरी कुल्या से किसी प्रकार भी सम्बन्ध नहीं है।

चित्र ९० कोकले की नली का व्यत्यस्त काट



मध्य कुल्या की छत और फर्श झिल्ली से बनते हैं; शेष दीवार कोकले की अस्थि पर रहने वाली अस्थिजनक कला से वनती है। इस कुल्या का व्यत्यस्त काट तिकूना होता है जैसा कि चित्र ९० से विदित होता है। कुल्या के दोनों सिरे वंद हैं (देखो चित्र ८९); इस कुटी में रहने वाली थैलियों में से अगली थैली (चित्र ८९ क") इस कुल्या से एक सूक्ष्म नली द्वारा (चित्र ८९ में ३) जुड़ी रहती है। जो तरल थैली में रहता है वह इस कुल्या में भी रहता है। शेष दो कुल्याओं

में वह तरल रहता है जो कर्ण कुटी में झिल्लीकृत थैलियों के
बाहर रहता है।

झिल्लीकृत कोकला या मध्य कुल्या की सूक्ष्म रचना

कोकले की मध्य कुल्या के फ़र्श की रचना बडी ही विचित्र
और विषम है। उसकी रचना का पूर्ण ज्ञान बड़े बडे सूक्ष्म
दर्शक यंत्रों द्वारा ही होता है। इस पुस्तक में हम केवल
मोटी मोटी बातें ही लिखेंगे।

अस्थिकृत फलक वास्तव में अस्थि के दो पतले पतले
पत्रों से बनता है (चित्र ९० चित्र ९१ में अ); इन पत्रों के
बीच में जो अंतर रहता है उसमें श्रावण नाडी के तार रहते
हैं (चित्र ९१ में श्र)। इन पत्रों के बीच में से होकर ये तार
झिल्लीकृत फलक और मध्य कुल्या में पहुंचते हैं (चित्र ९१
में सू)।

फलक की झिल्ली पर लम्बी लम्बी शलाकाकार सेलों की
दो पंक्तियां रहती हैं; एक पंक्ति दूसरे के सम्मुख रहती है।
एक पंक्ति की सेलों के नीचे के सिरे दूसरी पंक्ति की सेलों
के नीचे के सिरों से अलग रहते हैं; परन्तु दोनों पंक्तियों की
सेलों के ऊपर के सिरे एक दूसरे से मिले रहते हैं (देखो
चित्र ९०)। पंक्तियों के तिर्छे रहने से और सेलों के ऊपर के
सिरों के मिले रहने से एक नली बन जाती है; इसको **श्रोत्र
सुरंगा** कहते हैं।

श्रोत्र सुरंगा की वे सेलें जो अस्थिकृत फलक के पास
रहती हैं कुछ कुछ अन्तः प्रकोष्ठास्थि के सदृश होती हैं, उनका
ऊपर का सिरा मुड़ा रहता है और उसमें एक गड्हा होता

है (चित्र ६१ में अं) दूसरी पंक्ति की सेलें हसग्रीवाकार होती है; इनके ऊपर के सिरे हस की गरदन के सदृश मुड़े हुए रहते हैं और पूर्वोक्त सेलों के गड्हों में फंसे रहते हैं (चित्र ६१ में वा)। अनुमान है कि सुरंग की बाह्य (हंस-ग्रीवाकार) सेलों की संख्या ४००० और अंतरीय सेलों की संख्या ६००० के लगभग होती है ; दोनों प्रकार की सेलें १०००० के लगभग होती है।

सुरंग के दोनों ओर सुरंग की सेलों से मिली हुई कुछ सेलें ऐसा रहती हैं कि उनके सिरों से बड़े पतले पतले बाल जैसे तार निकले रहते हैं। ऐसी सेलो की एक पंक्ति जिसमें कोई ३५०० सेलें होती हैं सुरंग की अंतरीय सेलों के पास रहती है; सुरग के दूसरी ओर ऐसी सेलों की कई समांतर पंक्तियां होती है, इनकी संख्या १२००० से १८००० तक होती है। ये **लोमश सेलें** कहलाती हैं (चित्र ६१ में ल,ल')। लोमश सेलो के अतिरिक्त सुरंग के दोनों ओर और भी कई प्रकार की सेलें रहती है।

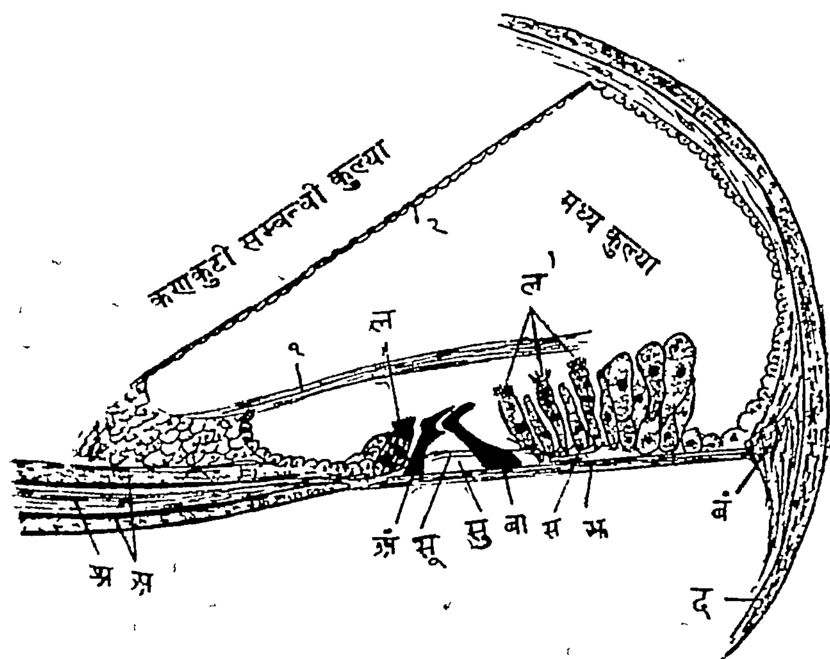
सुरंग और उसके आस पास की सेलों से जो चीज़ बनती है उसे **श्रावण यंत्र** कहते हैं। **कौर्टी** नामक व्यवच्छेदक ने इस यंत्र की रचना पहले पहल समझाई थी इस कारण इस यंत्र को "कौर्टी का यंत्र" कहा करते हैं।

श्रावण नाड़ी

कोकले के स्तंभ की तली में बहुत से छिद्र होते हैं। स्तंभ के भीतर इन छिद्रों से आरंभ होने वाली सूक्ष्म नालियां रहती है। ये नालियां उस स्थान तक जाती हैं जहां से अस्थिकृत

फलक का आरंभ होता है। फलक के पास पहुचकर प्रत्येक नाली पहले से अधिक चौड़ी हो जाती है। इस चौड़े स्थान में नाड़ी सेलों के छोटे छोटे समूह होते हैं जिनको नाड़ीगंड कहते हैं। इन सेलों से दो दो तार निकलते हैं; एक तार फलक के दोनों पत्रों के बीच में होकर सुरंग की ओर जाता

चित्र ६१ मध्य कुल्या की सूक्ष्म रचना



व्याख्या —२=मध्य कुल्या की छत   द=अस्थिकृत कोकले की दीवार
बं=बंधन (अस्थिजनक कला) , अ=अस्थि के पत्र , अ=श्रावण नाड़ी के सूत्र , सु=श्रोत्र सुरंगा , अं=अंतरीय पंक्ति की सेलें , बा=बाह्य पंक्ति की सेलें , सू=श्रावण नाड़ी के तार , ल=अंतरीय लोमश सेलें ; ल= बाह्य लोमश सेलें।

है (चित्र ६१ में अ); दूसरा तार फलक से स्तंभ की नाली में पहुंचता है।

उन तारों से जो नाड़ी गंडों से स्तंभ में आते हैं अष्टमी नाड़ी का आधा भाग बनता है। ये तार केन्द्र-गामी और सांवेदनिक हैं और कोकला के नाड़ी गंड इन के उत्पत्ति स्थान हैं। सेलों के दूसरे तार अस्थिकृत फलक में होकर सुरंग के पास पहुंचते हैं; इनका इष्टप्रदेश लोमश सेलें हैं; कुछ तारों का अंत सुरंग के इस पार वाली सेलों के पास हो जाता है, कुछ सुरंग में से हो कर सुरंग के दूसरी पार वाली लोमश सेलों तक पहुंचते हैं।

शब्द या ध्वनि

जब कोई चीज़ बजती है तो वह बड़ी शीघ्रता से हिलती या कंपती है। जब सारंगी और सितार बजाये जाते हैं तो उनके तार हिलते हुए दिखाई देते हैं; जब तबला या ढोल बजाया जाता है तो चमड़े की झिल्ली हिलती है; जब घड़ि-याल बजाई जाती है तब वह बहुत ही शीघ्रता से हिलती है; जब हम बोलते हैं तो हमारे स्वरयंत्र की स्वररज्जुएं कंपती हैं। शब्दकर वस्तु के कंपने से आस पास की वायु भी कंपने लगती है और उसमें तरंगें उत्पन्न हो जाती हैं। जब कोई शब्द कर वस्तु जैसे घड़याल हिलती है तो उस से मिले हुए वायु के ज़र्रों को धक्का लगता है और वे उस वस्तु से परे हट जाते हैं; परे हटने पर ये ज़र्रे अपने पास वाले ज़र्रों को धक्का देते हैं और धक्का देकर अपने पूर्व स्थान को लौट जाते हैं; ये ज़र्रे दूसरे ज़र्रों को धक्का देते हैं और फिर अपने पूर्व स्थान को पहुंच जाते हैं। इस प्रकार जो धक्का शब्द कर वस्तु

के एक बार हिलने से वायु को मिला उसका असर दूर तक पहुंचा अर्थात् उस से दूर तक की वायु में उत्कंपन उत्पन्न हो गई। इस एक धक्के का असर अभी खतम न होने पाया था कि इतने में वस्तु के हिलने से वायु को दूसरा धक्का मिलता है; पहले धक्के की भांति इस का असर भी वायु में दूर तक पहुंचता है।

शब्दकर वस्तु बड़ी शीघ्रता से हिलती है, इस कारण वायु को भी धक्के एक दूसरे के पश्चात् बड़ी शीघ्रता से लगते हैं। इन धक्कों से वायु में कंपन (या उत्कंपन) की लहरें या तरंगें उत्पन्न हो जाती हैं। वायु के ज़र्रे अपने स्थान को छोड़ कर बहुत दूर हट कर नही जाते; थोड़ी देरके लिए वे अपने स्थान से हटते हैं और इस धक्के के असर को और ज़र्रों को दे कर अपने आप फिर वही लौट आते हैं। जब तोप चलती है तो आस पास के मनुष्य वायु की उत्कंपन को प्रतीत कर सकते हैं; यह न समझना चाहिए कि तोप के पास वाली वायु धक्का खा कर मनुष्यों के पास आ पहुंची। ऐसा नहीं होता; तोप के पास वाली वायु तोप से अधिक दूर नही हटी, जो धक्का इस वायु को लगा केवल उसका असर ही वायु के एक भाग से दूसरे भाग में होता हुआ मनुष्यों तक पहुंचता है।

वायु की उत्कंपन के विषय में हम एक उपमा देते हैं:— मान लो कि आप किसी बड़े मेले में हैं और वहां बड़ी भीड़ है; आप भीड़ में सब से पीछे हैं। आगे से सिपाही भीड़ को पीछे को हटाता है; अगले मनुष्यों के पीछे को हटने से पीछे वाले मनुष्यों को धक्का लगता है और वे पीछे हट जाते हैं।

इन के पीछे हटने पर उन से पीछे वालों को धक्का लगता है और वे भी पीछे हटते हैं। इस प्रकार धक्का सब से पीछे वाले मनुष्यों तक पहुंचता है और उन को थोड़ा बहुत पीछे हटना पड़ता है। वे पीछे हट ही रहे थे कि इतने में सिपाही चुप हो जाता है। अगले मनुष्य तुरंत ही आगे बढ़ने लगते हैं इन के आगे बढ़ते ही उन के पीछे वाले मनुष्य जो भिचकर पीछे को हट गये थे, अब फिर आगे को सरक कर अपने पूर्व स्थान पर पहुंच जाते हैं; उन के पीछे वाले मनुष्य भी ऐसा ही करते हैं। सिपाही फिर धमकाता है और मनुष्य फिर पीछे को हटते हैं और अब एक नया धक्का भीड़ के पिछले भाग तक पहुंचता है।

सिपाही के धक्का देने से अगले मनुष्य धक्का खाते हैं परन्तु वे हट कर सब से पीछे नहीं पहुंच जाते केवल उस धक्के का असर ही पीछे वाले मनुष्यों तक पहुंचता है। इसी प्रकार जब शब्दकर वस्तु के कंपने से वायु को धक्का मिला या उस में उत्कंपन उत्पन्न हुई तब केवल यह असर ही दूर तक पहुंचता है वायु बहुत दूर तक नहीं हटती। वायु के ज़र्रे भीड़ के मनुष्यों के सदृश हैं। जब तोप चलती है तो उस के आस पास की वायु हमारे कान तक नहीं पहुचती केवल वायु की उत्कंपन ही हम तक पहुचती है।

वायु की उत्कपन की तरंगें शब्दकर वस्तु के चारों ओर फैल जाया करती हैं। जब हम किसी ताल में एक डेला फेंकते हैं तो जहां डेला गिरता है उस स्थान के चारों ओर पानी की लहरें उत्पन्न हो जाती हैं। कहीं पानी उठ जाता है और कहीं दब जाता है; ये लहरें धीरे धीरे किनारे के पास पहुंचती हैं

और ऐसा मालूम होता है कि पानी डले के पाससे चल कर लहर रूप में किनारे तक जा पहुंचा है। परन्तु वास्तव में ऐसा नही होता; क्योंकि पानी में यदि कोई तिनका या पत्ता पड़ा हो तो वह लहर के साथ उठता और गिरता तो दिखाई देगा परन्तु लहर के साथ साथ किनारे तक न आयेगा। यदि लहर के साथ साथ पानी भी डले के पास से किनारे तक आता तो तिनका भी उस के साथ साथ चला आता। इस से स्पष्ट है कि डले के गिरने से पानी ऊपर नीचे को तो अवश्य होता है परन्तु वह लहर के साथ आगे को दूर तक नही जाता। वायु की उत्कंपनों की लहरें भी ऐसी ही होती हैं।

वायु की उत्कंपन का सब से अधिक वेग शब्दकर वस्तु के पास होता है; ज्यों ज्यों वह आगे को फैलती हैं त्यों त्यों उन का वेग कम होता जाता है। यही कारण है कि शब्दकर वस्तु के पास शब्द जोर से सुनाई देता है और उस से दूर हलका।

शब्द की उत्कंपन वायव्य, द्रव तथा ठोस तीनों प्रकार के पदार्थों में हो कर जा सकती हैं। साधारणतः उत्कंपन वायु में हो कर चलती है। यदि उत्कंपन पानी में से न जा सकतीं तो समुद्र और नदियों की तह में रहने वाले मछली इत्यादि जानवर पानी के बाहर का शब्द न सुन सकते।

साधारणतः शब्द की उत्कंपन वायु में से गुज़रती है। शब्द तरल और ठोस पदार्थों में से वायु की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से चलता है। यदि वायु का तापक्रम १५° शतांश हो तो शब्द एक सेकंड में ११२० फुट चलेगा। शब्द गर्म वायु में शर्द वायु की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से चलता है, प्रति

दरजा शतांश शब्द की चाल २ फुट अधिक हो जाती है; यदि वायु का तापक्रम २०° शतांश हो तो शब्द की चाल ११३० फुट प्रति सेकन्ड होगी।

शब्द जल मे वायु को अपेक्षा चौगुने वेग से चलता है; यदि उस का ताप ८° शतांश हो तो उस की चाल ४७०८ फुट प्रति सेकन्ड होगी। लकड़ी में उस की चाल लगभग १००००—१५००० फुट, कांच में १६०००, और चांदी में ८८०० सोने मे ७०००, फौलाद में १६००० फुट प्रति सेकंड होती है।

शब्द किस प्रकार सुनाई देता है

शब्द की उत्कंपनें वायु में होती हुई हमारे कान तक पहुंचती है। कर्णांजली की वायु में उत्कंपन पैदा हो जाती है : इस नली के अंत पर कर्णपटह नामक जो झिल्ली लगी है वह इस उत्कंपन को ग्रहण करती हे और कपने लगती है। कर्णपटह के हिलने के कारण मध्यकर्ण की तीनों अस्थियां हिलती हे। कर्ण पटह जब मध्यकर्ण की ओर जाता है तो उस के भीतरी पृष्ठ से लगा हुआ मुग्दरदंड भी भीतर को हो जाता है (चित्र ८५ में अस्थियों की गतियां विंदु वाली लकीरों से दर्शाई गई हैं)। जब मुग्दर दड भीतर को हटता है तो उस का शिर बाहर की ओर आता है; मुग्दर के शिर से नेहाई का गात्र बंधा हुआ है, इस कारण जब मुग्दर का शिर बाहर को गति करता है तो नेहाई का गात्र भी उस के साथ बाहर की ओर आता है। अब नेहाई का वृहत् प्रवर्द्धन जो रकाब से बंधा हुआ है भीतर की ओर जाता है जिस की वजह से रकाब का पादान नामक अंश भी भीतर को गति करता है (देखो चित्र ८५)।

जब कर्णपटह बाहर की ओर आता है तो अस्थियों की गति दूसरी दिशा में होती है अर्थात् मुग्दर दंड बाहर को आता है और उस का शिर और नेहाई का गात्र अंतः स्थ कर्ण की ओर जाते हैं, रकाबास्थि बाहर को कर्णपटह की ओर गति करती है। इन गतियों का परिणाम यह होता है कि रकाब का पादान जो कर्णकुटीद्वार में रहता है कभी भीतर की ओर जाता है और कभी बाहर को आता है। जब तक कर्णपटह में उत्कंपन रहती हैं तब तक रकाब के पादान में भी यह गति होती रहती है।

कर्णकुटी में एक जलीय तरल रहता है और कर्णकुटीद्वार के पास से कोकले की ऊर्ध्व कुल्या (कर्णकुटी सम्बन्धी कुल्या) का आरम्भ होता है। पादान के हिलने से कर्णकुटी के और कोकले की ऊपर और नीचे की कुल्याओं के तरल में उत्कंपन पैदा होती है जिस के कारण मध्यकुल्या या झिल्लीकृत कोकले के भीतर रहनेवाला तरल भी हिलने लगता है। इस तरल की उत्कंपन से लोमश सेलों पर एक विशेष प्रभाव पड़ता है जिस की सूचना श्रावण नाड़ी के तारों द्वारा मस्तिष्क के श्रावण केन्द्रों (जो पार्श्व खंडों में होते हैं) को जाती है और हम को शब्द का ज्ञान होता है।

कर्णशष्कुली उत्कंपनों को ग्रहण और इकट्ठा करता है; कर्ण का यह भाग घोड़ा, गाय, खरगोश, कुत्ता इत्यादि जानवरों में बड़ा होता है, ज़रा सी आहट पाते ही ये जानवर कर्णशष्कुली को खड़ा कर लेते हैं ताकि जितनी ज्यादा उत्कंपनें कर्णांजली में पहुंच सकें उतनी पहुंचें। कर्णांजली का काम इन को कर्णपटह तक पहुंचा देने का है। मध्यकर्ण में अस्थि जैसी ठोस चीजों के रहने से हलकी उत्कंपनों का भी वेग बढ़ जाता है। कोकला कर्ण का सांवेदनिक भाग है; यदि बाह्यकर्ण और

मध्यकर्ण ठीक हों और कोकला किसी रोग के कारण खराब हो जावे तो हमारी श्रावणशक्ति जाती रहेगी।

शब्द का ज्ञान तब ही हो सकता है कि जब उत्कंपन कोकले तक पहुंचे। साधारणतः उत्कंपनें बाह्य और मध्य कर्ण द्वारा पहुंचा करती हैं। जब बाह्यकर्ण और मध्यकर्ण के विगड़ने से उत्कंपनें कोकले तक न पहुच सकें तब यदि घड़ी माथे से लगाई जावे या दांतों के बीच में दवाई जावे तो उस को टिक टिक सुन पड़ेगी। अब उत्कपनें कर्पर की अस्थियों द्वारा कोकले तक पहुंची हैं क्योंकि अस्थि ठोस चीज़ होने के कारण वायु की अपेक्षा शब्द का अच्छा चालक है। परन्तु यदि कोकला भी खराब हो गया हो तो घड़ी की टिक टिक न सुन पड़ेगी।

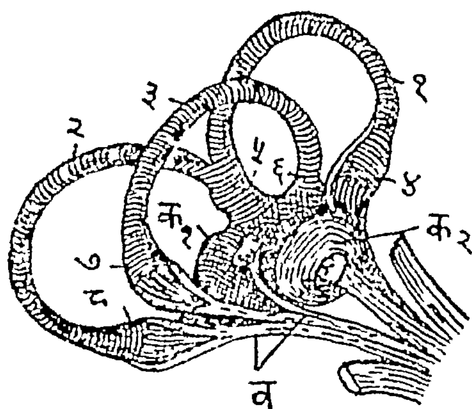
बहरापन कई कारणों से हो सकता है। कर्णाजली में मैल इकट्ठा होने से उत्कंपनें कर्णपटह तक अच्छी तरह से नहीं पहुंच सकतीं। कभी कभी कर्णपटह फट जाता है या मध्य कर्ण के प्रदाह के समय उस में से पीप बाहर आने के लिये छिद्र बन जाते हैं ; ऐसी दशा में भी सुनाई में फ़र्क आ जाता है। जब प्रदाह के कारण मध्यकर्ण की अस्थियां गल जाती हैं या उनकी सधियां अचेष्ट हो जाती हैं (वृद्धावस्था में भी सधियां बिगड़ जाती हैं) तब भी मनुष्य को ऊंचा सुनाई देने लगता है। कोकले या श्रावण नाड़ी या श्रावण केन्द्रों के रोगों में मनुष्य पूर्णतया बहरा हो जाता है।

झिल्लीकृत अर्धचक्राकार नालियों तथा थैलियों का कार्य

अर्धचक्राकार नालियों के फूले हुए सिरों और थैलियों की दीवारों में लोमश सेलें पाई जाती हैं। इन नालियों और

थैलियों के नाडी तार कर्णांतर नाली में पहुंच कर कोकले के तारों से मिल जाते हैं; सब तारों के इकट्ठे होने से पूरी अष्टमी नाड़ी बनती है। अष्टमी नाडी कर्णांतर्द्वार से निकलकर मस्तिष्क में चली जाती हैं, कोकले के तार तो श्रावण केन्द्र को जाते हैं परन्तु नालियों और थैलियों के बहुत से तार लघु मस्तिष्क के दूसरी ओर के गोलार्ध में पहुचते हैं; शेष तार बृहत् मस्तिष्क में, मस्तिष्क की तीसरी नाड़ी के उत्पत्ति स्थान को जाते है।

चित्र ६२ झिल्लीकृत थैलिया तथा अर्धचक्राकार नालिया



१=ऊर्ध्व नाल। २=पाश्चात्य नाली ३=पार्श्व नाली ४,७,८=फूले हुए सिरे ५=जुडा हुआ सिरा क१ =ऊपर की थैली क२ =नीचे की या अगली थैली व=नाडिया

इन नालियों और थैलियों के भीतर एक जलीय तरल रहता है जिसका संघट्टन लसीका जैसा होता है। जब हम चलते फिरते है या कूदते है या छलांग मारते है या करवट बदलते हैं या हिन्डोले में चक्कर खाते है तो यह तरल भी

हिलता है और लोमश सेलों के बालों से टकराता है। इस तरल के दबाव से जो प्रभाव इन लोमश सेलों पर पड़ता है उसकी सूचना नाड़ी सूत्रों द्वारा लघुमस्तिष्क को मिलती है। इन नालियों द्वारा लघुमस्तिष्क को इस बात की सूचना मिलती रहती है कि हम किस दिशा में जा रहे हैं और हमारे शरीर की क्या स्थिति है अर्थात् हम खड़े हैं या पड़े हैं, उलटे हैं या चक्कर खा रहे हैं। इस सूचना से लघुमस्तिष्क को शरीर में साम्यावस्था (साम्यस्थिति) रखने में सहायता मिलती है (देखो "लघुमस्तिष्क के कार्य")। जब नालियों में रोग हो जाते हैं तो शरीर की साम्यावस्था में फर्क आ जाता है; यदि रोगी सीधा खड़ा होना चाहे तो ऐसा करने में उसको बड़ी कठिनता होगी; रोगी को चक्कर भी आने लगते हैं।

अध्याय २७

स्वरयंत्र (चित्र ९३, ९४)

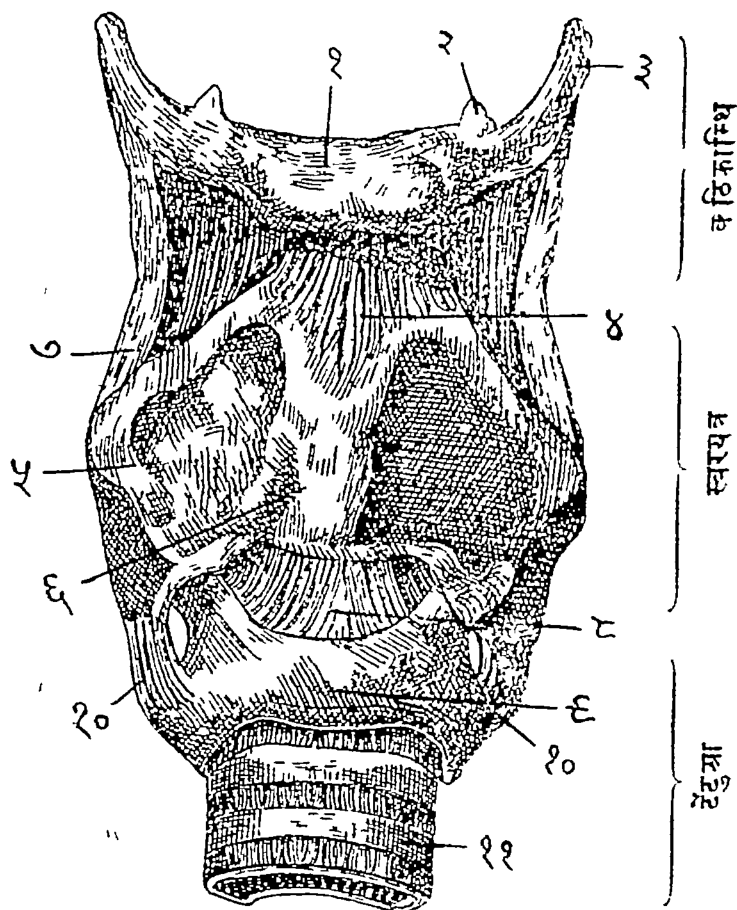
स्वरयंत्र नौ कारटिलेजों से निर्मित एक कोष्ठ है जो ग्रीवा के ऊपर के भाग में कंठिकास्थि के नीचे और कंठ के सामने रहता है। कोष्ठ के नीचे के भाग से टेंटुवे का आरंभ होता है; ऊपर का भाग कंठ से सम्बन्ध रखता है। नौ कारटिलेजों में से आठ से तो उस की अगली पिछली और पार्श्विक दीवारें बनती हैं; एक कारटिलेज से जो पत्ते (पत्र) के सदृश होता है उसका ढकना (स्वरयंत्रच्छद) बनता है; जब भोजन मुख से कंठ में जाता है तो यह ढकना पीछे को इस प्रकार झुक जाता है कि उससे स्वरयत्र का रास्ता ढक जाता है और भोजन उसके भीतर नहीं गिर सकता (देखो पृष्ठ ५२)

स्वरयंत्र के कारटिलेज आपस में बंधनों तथा पेशियों द्वारा एक दूसरे से बंधे रहते हैं; कारटिलेजों के नाम ये हैंः—

१. **चुल्ली कारटिलेज**—इसका आकार देशी चूल्हे जैसा होता है। इस कारटिलेज के दो चौड़े पार्श्व होते हैं (चित्र ९३ में ५) जो सामने मध्य रेखा में एक दूसरे से जुड़े रहते हैं; इनके मेल से जो एक उभार बनता है वह ग्रीवा में चिवुक के नीचे स्पर्श किया जा सकता है, इस उभार को **चुल्लीकोण** कहते हैं चित्र ९३ में ६)।

२ चुल्ली कारटिलेज के नीचे अंगूठी जैसा कारटिलेज रहता है; अंगूठी की भांति इसमें एक मोटा भाग होता है

चित्र ९३ स्वरयंत्र (अगला पृष्ठ)



व्याख्या —पेशिया हटा दी गई हैं, केवल कारटिलेज और बधन दर्शाये गये हैं।

१=कठिकास्थि का गात्र २=कठिकास्थि का लघुश्टग, ३=कठिकास्थि का वृहत् श्ट ग ४=चुल्लीकठिका कला ५=चुल्ली कारटिलेज का पार्श्व ६=चुल्ली कोण ७=चुल्ली कारटिलेज का ऊध्व श्ट ग ८=मुद्राचुल्लिका कला ९=मुद्रा चक्र १०=चुल्ली कारटिलेज का अधो श्टग ११=टेंटुवा का छल्ला।

(जहां अंगूठी में नग रहता है) जिससे एक पतला घेरा लगा रहता है। इस कारटिलेज को **मुद्रा** कहते हैं। मुद्रा का मोटा भाग जो पीछे रहता है गात्र (चित्र ६४ में ११) कहलाता है; घेरे को **मुद्राचक्र** कहते हैं (चित्र ६३ में ६) मुद्रा के नीचे के किनारे से टेंटुवा आरंभ होता है (चित्र ६३ में ११)।

३, ४ स्वरयंत्र के पिछले भाग मे मुद्रागात्र के ऊपर टोस त्रिकोण के सदृश दो छोटे छोटे कारटिलेज रहते हैं; ये **त्रिकोण** या **सूच्याकार** कारटिलेज हैं (चित्र ६४ में ८)

५, ६. त्रिकोण कारटिलेज के शिखरों पर दो बहुत छोटे **शंक्वाकार** कारटिलेज रहते हैं (चित्र ६४ में ६)

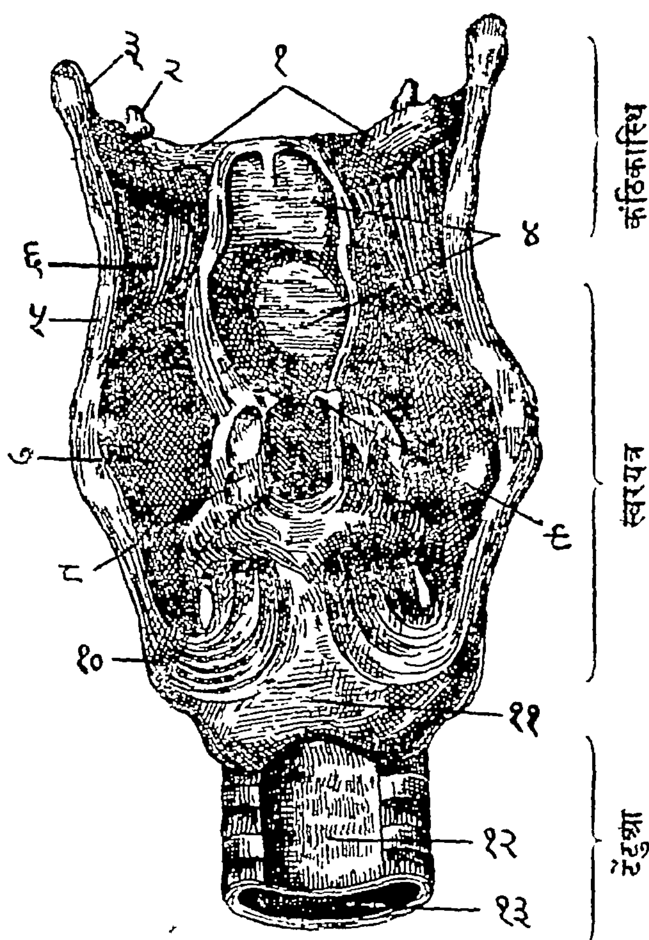
७, ८ शकुओं के पास दो बहुत ही नन्हे शलाका जैसे कारटिलेज रहते हैं।

६ यह कारटिलेज पत्ते के सदृश एक ओर से चौड़ा और दूसरी ओर से पतला होता है। पतला भाग चुल्ली कारटिलेज के भीतरी पृष्ठ (कोण से) से बंधा रहता है; चौड़ा भाग ऊपर जिह्वामूल के निकट रहता है। यह **स्वरयंत्रच्छद** कहलाता है (चित्र ६४ में ४)।

जब मुंह खूब वाया जाता है तो जिह्वामूल के पास इस कारटिलेज के चौड़े भाग का कुछ अश दिखाई दिया करता है।

इन सब कारटिलेजों के भीतरी पृष्ठों पर श्लैष्मिक कला रहती है। समस्त स्वरयंत्र के पिछले पृष्ठ से कंठ के नीचे के भाग की अगली दीवार बनती है।

चित्र ६४ स्वरयत्र (पिछला पृष्ठ)



व्याख्या –पशिया हटा दी गई हैं, केवल कारटिलेज और बंधन दर्शाये गये हैं।

१=कंठिकास्थि का गात्र २=लघुश्रृंग ३=बृहत् श्रृंग ४=स्वरयंत्रच्छद का पिछला पृष्ठ ५=चुल्ली का ऊर्ध्व श्रृंग ६=चुल्लीकंठिका कला ७=चुल्ली का पिछला पृष्ठ ८=त्रिकोण कारटिलेज ९=शक्वाकार कारटिलेज १०=चुल्ली के अधो श्रृग और मुद्रा के गात्र की संधि ११=मुद्रा का गात्र १२=टेंटुवा का पिछला मांसकृत भाग १३=टेंटवा का छिद्र।

सामान्यतः जवान उमर में स्वरयंत्र के ये माप होते हैं:—

	पुरुष	स्त्री
लम्बाई	१.८ इंच	१.५ इंच
व्यत्यस्त व्यास (चौड़ाई)	१.७ इंच	१.६ इंच
अग्र पश्चात् व्यास (मोटाई)	१.५ इंच	१.२ इंच
परिधि (घेरा)	५.६ इंच	४.७ इंच

यौवन से पहिले पुरुष और स्त्री के स्वरयंत्रों के माप एक ही जैसे होते हैं। जब यौवन आरंभ होता है तब स्त्री के स्वरयंत्र में तो अधिक परिवर्तन नहीं होता परन्तु पुरुष का स्वरयंत्र शीघ्रता से बढ़ता है सब कारटिलेज बड़े हो जाते हैं; चुल्ली कारटिलेज ग्रीवा में उभरा हुआ देख पड़ता है और स्वरयंत्र के सब माप बढ़ जाते हैं। इस परिवर्तन का परिणाम यह होता है कि लड़के का स्वर बदल जाता है और पहिले की अपेक्षा भारी और मोटा हो जाता है।

स्वर रज्जु

स्वरयंत्र के भीतर चुल्ली कारटिलेज और त्रिकोण कारटिलेज के बीच में मध्य रेखा के इधर उधर श्लैष्मिक कला के दो झोल होते हैं; एक झोल ऊपर होता है दूसरा उस से ज़रा सी दूरी पर उसके नीचे। ऊपर के झोलों में श्लैष्मिक कला के नीचे सौत्रिक तंतु की एक पतली पट्टी रहती है, इनका स्वर से कोई संबंध नहीं होता। नीचेवाले झोलों का स्वर से सम्बन्ध है; इस कारण वे **स्वररज्जु** कहलाते हैं। स्वररज्जु में श्लैष्मिक कला के नीचे एक मोटी पट्टी स्थितिस्थापक सौत्रिक ततु की रहती है; इस पट्टी के पास एक पतली मांस

पेशी भी रहती है। ऊपर के झोल और स्वररज्जु के बीच में एक कोष्ठ सा रहता है जिस को **स्वरयंत्रकुटी** कहते हैं। दोनों स्वररज्जुओं के बीच में कुछ अंतर रहता है (चित्र ९५) पेशियों के सकोच और विसार से दोनों स्वररज्जुएं एक दूसरे के निकट या एक दूसरे से परे हो सकती हैं जिससे इनका अंतर घट बढ़ जाता है। यही नही, पेशियों के संकोच और विसार से और कारटिलेजों की गतियों से स्वररज्जु ढीली भी हो जाती हैं और तन भी जाती हैं। जब हम स्वांस लेते हैं तब स्वररज्जुओं का अतर अधिक हो जाता है और वे ढीली पड जाती हैं; अन्यतः जब हम बोलते हैं या गाते हैं तब यह अतर घट जाता है अर्थात् रज्जुएं एक दूसरे के पास आ जाती हैं और वे तन जाती हैं।

जब हम स्वरयंत्र के भीतरी भाग को मुंह में से **स्वरयंत्र-दर्शक** यंत्र द्वारा देखते हैं तो हम को चित्र ९५ जैसा दृश्य दिखाई देता है। जब मनुष्य चुप चाप स्वांस लेता है तब स्वररज्जुओं के बीच में मामूली अंतर रहता है; जब वह खूब गहरा स्वांस लेता है तब यह अंतर और भी अधिक हो जाता है; जब वह बोलता है तब अंतर कम हो जाता है; गाते और चिल्लाते समय यह अंतर बहुत ही घट जाता है। (चित्र ९६)

स्वर

जब हम बोलते हैं तो वायु प्रश्वास क्रिया द्वारा फुप्फुसों से टेंटुवे और स्वरयंत्र में से हो कर बाहर आती है; जब वह स्वररज्जुओं से टकराती है तो ये कंपने लगती हैं। स्वर-रज्जुओं की उत्कंपन से शब्द पैदा होता है। बोलने में कंठ, तालु, जिह्वा, दंत और ओष्ठों से सहायता मिलती है।

चित्र ६५ स्वरयंत्र का भीतरी दृश्य जैसा कि स्वरयंत्रदर्शक यंत्र से दिखाई देता है

(Keen's Surgery)



ज=जिह्वामूल

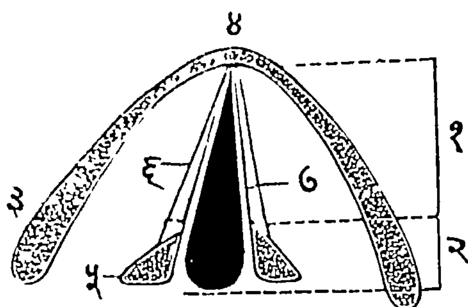
उ=स्वरयंत्रच्छद

स=स्वररज्जु

२,३=कारटिलेज

ट=इस अंतर में से टेटुंवा दिखाई देता है

चित्र ६६



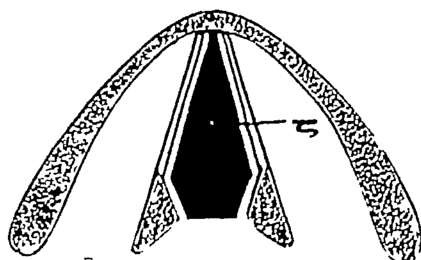
२=चुल्लीपार्श्व

४=चुल्लीकोण

५=त्रिकोण कारटिलेज

६=स्वररज्जु

७,८=स्वररज्जुओं का अंतर



स्वररज्जुओं का अंतर घट बढ़ जाया करता है।

जिस प्रकार सारंगी के तारों के ढीले पडने और तन जाने से या छोटे और लम्बे होने से शब्द में भेद हो जाता है इसी प्रकार स्वररज्जुओं के तनने और ढीले होने से स्वर भिन्न भिन्न प्रकार के उत्पन्न होते हैं। स्त्री की स्वररज्जुए पुरुष की स्वररज्जुओं की अपेक्षा कम लम्बी होती हैं इस कारण दोनों के स्वरों में भेद होता है। जब दांत टूट जाते है या जिह्वा कट जाती है या तालु में छिद्र हो जाता है या कंठ का प्रदाह हो जाता है तब स्वर बदल जाया करता है। जैसे रास्ते (कंठ, मुख इत्यादि) में से हो कर वायु की उत्कपनें गुज़रेंगी वैसाही शब्द उत्पन्न होगा।

अध्याय २८

उत्पादक संस्थान (१)

जो अग संतानोत्पत्ति के काम में आते हैं उनको **जननेन्द्रियां** कहते है। पुरुष की जननेन्द्रियां स्त्री की जननेन्द्रियों से भिन्न प्रकार की होती हैं।

नर जननेन्द्रियां

ये दो प्रकार की हैं :—

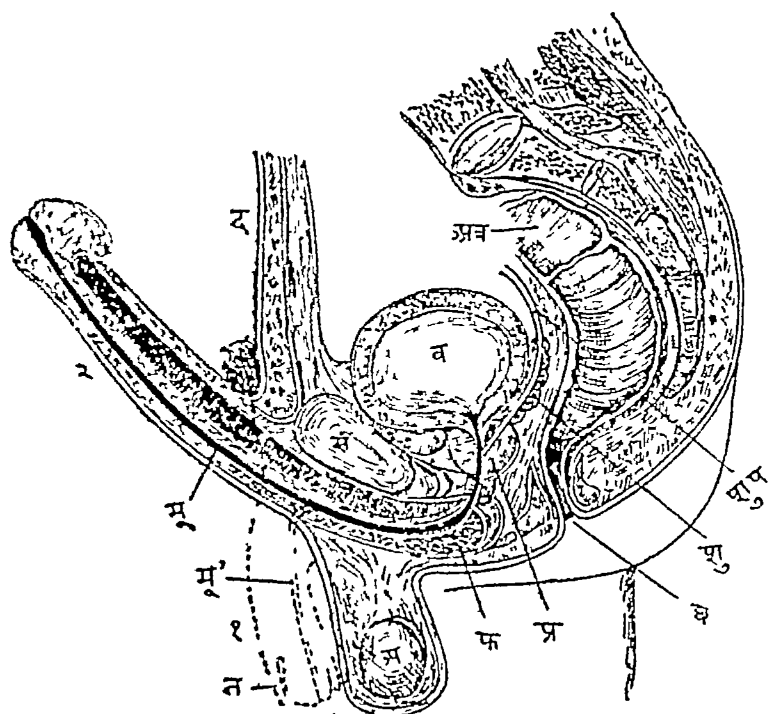
१. **बाह्य जननेन्द्रियां**—ये बाहर से दिखाई देती है जैसे शिश्न, अंडकोष में लटके हुए अंड।

२. **अंतरीय जननेन्द्रियां**—ये वस्तिगह्वर के भीतर रहती हैं और इस कारण बाहर से दिखाई नही देती जैसे शुक्राशय, शुक्रप्रनाली, प्रोस्टेट, शिश्नमूल ग्रन्थि।

शिश्न

यह मैथुन करने का यन्त्र है ; पुरुष का वीर्य स्त्री की योनि में इसी अग द्वारा पहुंचता है। इसी अंग द्वारा मूत्र शरीर से बाहर निकलता है। शिश्न की लम्बाई और मोटाई सब पुरुषों में एक सी नही होती। शिथिलितावस्था मे उस की लम्बाई सामान्यतः ३ या ४ इंच और उसकी परिधि २ इंच के लग-भग होती है। जब मैथुन की इच्छा होती है तब वह अधिक लम्बा और मोटा हो जाता है और उसमें दृढ़ता आ जाती है। शिश्न के दृढ़ हो जाने को 'प्रहर्ष' कहते हैं दृढ़ता के कारण ही वह योनि में प्रवेश कर सकता है।

चित्र ९७ नर वस्तिगह्वर (बीच में से कटा हुआ)



द = उदर की दीवार, व = वस्ति या मूत्राशय, शु प = शुक्र प्रनाली, शु = शुक्राशय, छ = मलद्वार, प्र = प्रोस्टेट; फ = मूत्रमार्ग का स्थूल भाग, अ = अंड; त = शिश्नाग्र त्वचा, मू = मूत्र मार्ग, मू' = मूत्र मार्ग, १ = शिश्न की शिथिलितावस्था, २ = शिश्न की दृढावस्था (प्रहृष्ट शिश्न), स = विटप संधि (कटी हुई)।

शिश्न का अगला भाग शंकाकार होता है और उसको **शिश्न मुण्ड** या **मणि** या **शिश्नाग्र** कहते हैं (चित्र ९८ में १३; चित्र १०० में मु), मणि में एक छिद्र होता है जिसे मूत्र-वहिर्द्वार कहते हैं (चित्र १०० में छ, ९८ में १४); मूत्र और वीर्य इसी छिद्र में से बाहर निकलते हैं। मणि की त्वचा

ऊपर को हट जाती है और फिर उसके ऊपर आ जाती है; इसको **शिश्नाग्र त्वचा** कहते हैं (चित्र ६७ में त)। मुसलमानों में इस त्वचा को कटा डालने का (खतना) रिवाज है। कभी कभी यह त्वचा तंग होती है और आसानी से ऊपर नहीं सरक सकती; जब वह बहुत तंग* होती है तो मैथुन करने में कुछ कठिनता होती है, बच्चे मूत्र त्यागते समय किल्छा करते हैं और कभी कभी दर्द के कारण रो भी पड़ते हैं। ऐसी हालत में इसको कटा डालना चाहिये। शिश्नाग्र त्वचा में बाल नहीं होते।

मणि के पीछे एक खाई होती है; इस मणिखात में श्वेत रंग की एक चिकनाई दार वस्तु इकट्ठी हो जाया करती है: इसमें एक विशेष प्रकार की गंध आया करती है। मुंड के इस भाग की त्वचा में कुछ ग्रंन्थियां होती हैं; यह चीज़ इन्हीं ग्रन्थियों में बनती है और **शिश्नगूथ** कहलाती है। जब शिश्नगूथ अधिक बनता है या शिश्न की सफाई न करने के कारण बहुत दिनों तक इकट्ठा रहता है तब वह मणि के ऊपर भी आ जाता है। कभी कभी उसके सड़ने के कारण मणि पर फुन्सियां निकल आती हैं।

मणि और विटप देश के बीच का भाग **शिश्न शरीर** कहलाता है, शिश्न का शेष भाग जो अण्डकोष से ढका हुआ है **शिश्नमूल** कहलाता है। शिश्न शरीर की त्वचा के नीचे वसा नहीं होती। यह त्वचा ढीली भी होती है और अन्य

* शिश्नाग्र त्वचा के अधिक तंग होने को 'परिवर्तिका' कहते हैं।

चित्र ९८

म श=अधोगा महा शिरा

म ध=महा धमनी,

ध=वृक्क की धमनी,

श=वृक्क की शिरा,

१=वृक्क ;

२=मूत्र प्रनाली,

३=मूत्राशय ;

४=मूत्र प्रनाली का छिद्र,

५=शुक्र स्रोत का मुख,

६=प्रोस्टेट ग्रन्थि,

७=शिश्नमूल ग्रन्थि,

८=शिश्न मूल ग्रन्थि स्रोत का छिद्र,

९=मूत्र मार्ग का स्थूल भाग

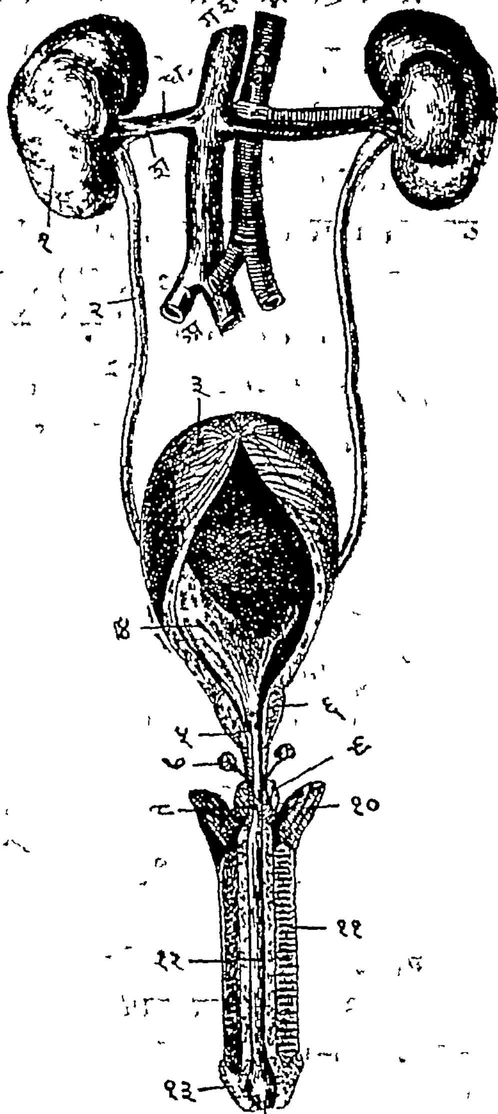
१०=शिश्न दण्डिका (कटा हुआ),

११=शिश्न दण्डिका का पि ला नोकीला भाग ;

१२=मूत्र मार्ग,

१३=शिश्न मुण्ड,

१४=मूत्र बहिर्द्वार,

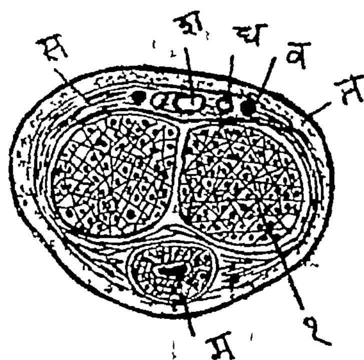


स्थानों की अपेक्षा पतली होती है, इसका रंग और स्थानों से गहरा होता है और उसमें बाल नही होते।

शिश्न की बनावट (चित्र ९९, १००, १०१, १०२)

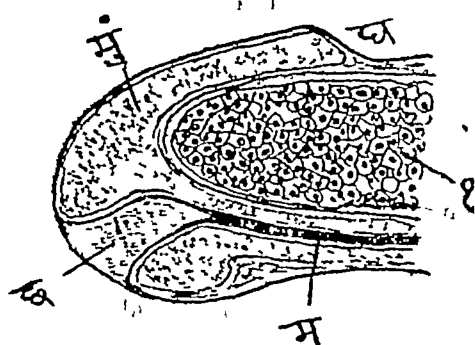
शिश्न सौत्रिक तंतु और अनैच्छिक मांस से निर्मित तीन बेलनाकार दंडों से बनता है (देखो चित्र ९९)। इनमें से दो दंडे पास पास और समांतर शिश्न के ऊपर के भाग में रहते हैं (चित्र ९९ और १०० में १); तीसरा दंडा जो भीतर से खोखला होता है इन दोनों दंडों के नीचे रहता है (चित्र ९९ में म)। जो नली इस नीचे वाले दंडे में रहती है उसको **मूत्रमार्ग** कहते हैं (चित्र ९७ में मू, ९८ में १२)। ऊपर

चित्र ९९



मोटाई के रुख कटा हुआ शिश्न

चित्र १००



लम्बाई के रुख कटा हुआ शिश्न

चित्र ९९ —म=मूत्र मार्ग ; १=शिश्न दण्डिका; त=त्वचा व=शिश्न नाडी ; ध=शिश्न धमनी ; श=शिश्न शिरा ; स=सौत्रिक कला (शिश्नावरककला)

चित्र १०० —मुं=शिश्न मुण्ड , घ=मुंड खात , १=शिश्न दण्डिका, म=मूत्र मार्ग , छ=छिद्र या मूत्र बहिर्द्वार,

का हर एक दंडा **शिश्नदंडिका** कहलाता है; नीचेके दंडे को **मूत्रदंडिका** कहते हैं।

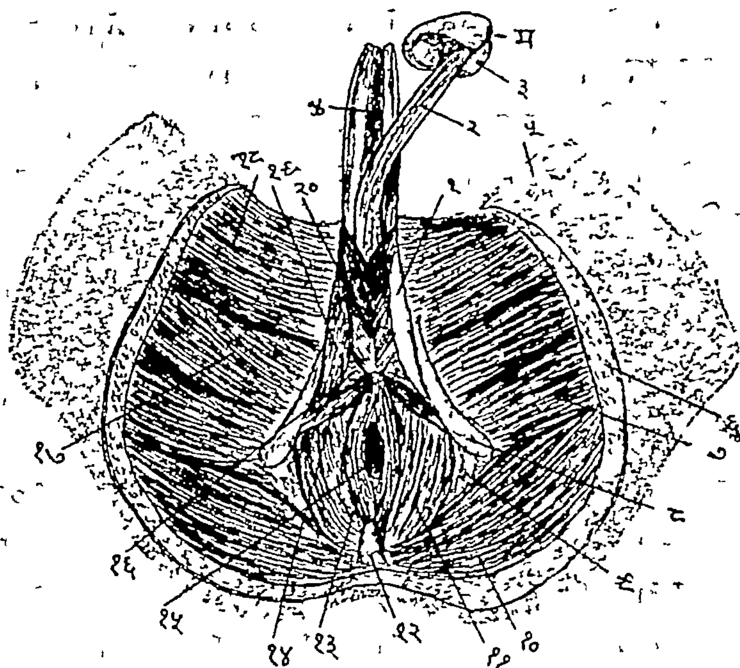
शिश्नदंडिकाओं के वेलनाकार होने के कारण उन के बीच में ऊपर और नीचे एक अंतर रहता है ; ऊपर के अंतर में शिश्न की दो धमनियां, एक शिरा और दो नाड़ियां रहती हैं ; धमनी की फड़क शिश्न को इस जगह दबा कर मालूम की जा सकती है। नीचे का अंतर गहरा होता है और यही मूत्रदंडिका रहता है (चित्र ९९; चित्र १०१ में ४)।

तीनों दंडों की बनावट एक जैसी है। ये सौत्रिक तंतु से बने हैं ; सूत्र दोनों प्रकार के होते हैं श्वेत और पीले। सौत्रिक तंतु से मिला हुआ कुछ अनैच्छिक मांस भी रहता है। इन दंडों के भीतर छोटे छोटे आशय या कोष्ठ होते हैं जिन की दीवारें सौत्रिक तंतु और मांस से बनती हैं (चित्र १०२)। प्रहर्ष समय ये आशय रक्त से भर जाते हैं। जिस प्रकार कपड़े का नल पानी से खूब भर जाने पर दृढ़ हो जाता है उसी प्रकार इन आशयों के रक्तपरिपूर्ण हो जाने से शिश्न में स्थूलता और दृढ़ता आ जाती है। जब मैथुन की क्रिया समाप्त होती है तो आशयों का रक्त शिरा द्वारा लौट जाता है और खाली नल की भांति शिश्न भी मुलायम और शिथिल हो जाता है।

शिश्नदंडिकाएं मणि के शिखर तक नही पहुंचते ; वास्तव में वे मणि के बनाने में कोई सहायता नहीं देते, इन दंडों का अंत मुंडखात के पास ही हो जाता है ; यहां ये नोकीले हो जाते हैं और मणि उन पर टोपी की तरह चढ़ी रहती है (देखो चित्र १०१ और १००)। मूत्र दंडिका आगे

आकर मोटा हो जाता है; इसी फूले हुए भाग से मणि बनती है (चित्र १०१ में म, १०० में मु)।

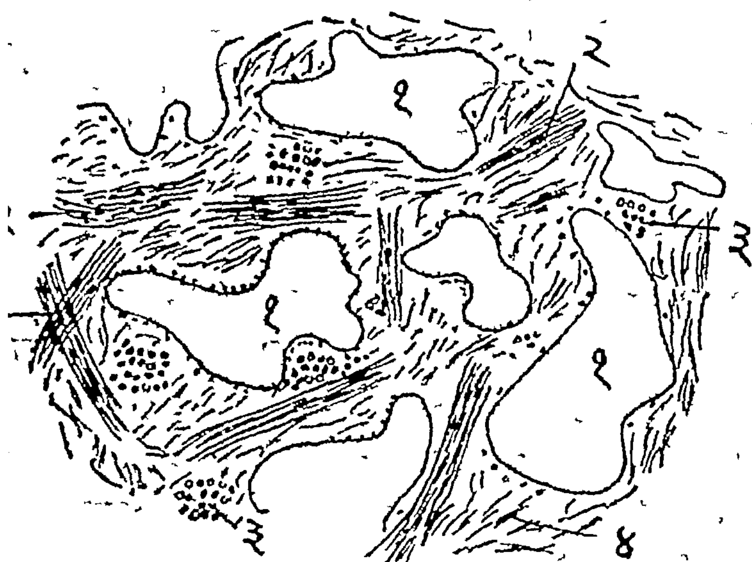
चित्र १०१



म=मूत्र वहिर्द्वार, ३=मणि २=मूत्र दडिका; ४=इस घाई में मूत्र दडिका रहता है, १=शिश्न दडिका का पिछला सिरा, ५=ऊरु की त्वचा ६=ऊरु की वसा, ७, १७, १८=ऊरु की पेशिया ८=कुकुन्दरास्थि, ९=कुकुन्दर गुदा गुहा १०=नैतम्बिका वृहती या नितम्बपिडिका वृहती (पेशी) ११=गुदोत्थापिका पेशी १२=गुदास्थि १३=मलद्वारसकोचनी पेशी १४=श्रोणि आधार की व्यत्यस्त पेशी, १५=मलद्वार १६=त्रिकोण १९=शिश्न प्रहर्षिणी २०=शिश्न मूलिका पेशी।

पीछे जाकर (शिश्नमूल में) ये तीनों दंडे एक दूसरे से अलग हो जाते हैं। प्रत्येक शिश्न दंडिका नोकीला हो जाता है

चित्र १०२ शिश्न दंडिका की रचना



१=रक्ताशय , २=अनैच्छिक मांस , ३=मांस कटा हुआ ४=सौत्रिक तंतु

(चित्र १०१ में १) और यह नोकीला भाग अपनी ओर की नितंबास्थि से जा जुडता है। शिश्नदंडिका के पिछले भाग पर **शिश्नप्रहर्षिणी** पेशी (चित्र १०१ में १६) लगी रहती है ; इस के संकोच से यह होता है कि जो रक्त धमनी द्वारा शिश्न दंडिका में पहुंचता है वह शिरा द्वारा लौटने नहीं पाता और आशयों में इकट्ठा रहता है , जब इस पेशी का विसार होता है तब रक्त लौट जाता है, आशय खाली हो जाते हैं और शिश्न शिथिल हो जाता है।

मूत्रदंडिका मध्यरेखा में ही रहता है परन्तु पीछे जाकर अधिक स्थूल हो जाता है; इस भाग पर **शिश्न मूलिका**

पेशी लगी रहती है (चित्र १०१ में २०) ; यह पेशी आगे जाकर शिश्नदंडिकाओं के पार्श्वों और शिश्नावरक कला से भी लगी रहती है। इस के संकोच से मूत्रमार्ग मूत्र से खाली हो जाता है; जब वीर्य बाहर निकलता है तब भी इस पेशी का सकोच होता है। अंडकोष के पीछे शिश्नमूल पर अंगुली रखने से इस पेशी का संकोच मालूम किया जा सकता है। इस पेशी के संकोच से शिश्न में दृढ़ता भी आती है।

मूत्राशय के नीचे के भाग से मणि के छिद्र तक मूत्र के बहने का जो रास्ता है उस को **मूत्रमार्ग** कहते हैं। मूत्रमार्ग का अधिक भाग तो मूत्रदंडिका में रहता है जैसा कि पीछे समझाया जा चुका है। जिस स्थान से मूत्र-मार्ग का आरंभ होता है वह **मूत्रांतर्द्वार** कहलाता है। मूत्रांतर्द्वार के नीचे प्रोस्टेट नामक एक शंक्वाकार ग्रन्थि रहती है (चित्र ९७ में प्र; ९८ में ६), मूत्रमार्ग का प्रारंभिक कोई १ इंच लम्बा भाग इसी ग्रन्थि में रहता है। प्रोस्टेट ग्रन्थि के शिखर के नीचे का कोई $\frac{३}{४}$ इंच लम्बा भाग दो कलाओं (झि-ल्लियों) के बीच में रहता है (चित्र १०५) शेष भाग जिस की लम्बाई कोई ८ इंच होती है मूत्रदंडिका में रहता है। मणि वाले छिद्र को **मूत्रबहिर्द्वार** कहते हैं। कुल मूत्रमार्ग की लम्बाई पुरुषों में ७—८ इंच और स्त्रियों में १ $\frac{१}{२}$ इंच होती है।

अंडकोष या वृषण

शिश्न के नीचे एक थैली रहती है जिस को अंडकोष या वृषण कहते हैं। थैली की त्वचा बहुत पतली होती है और उस

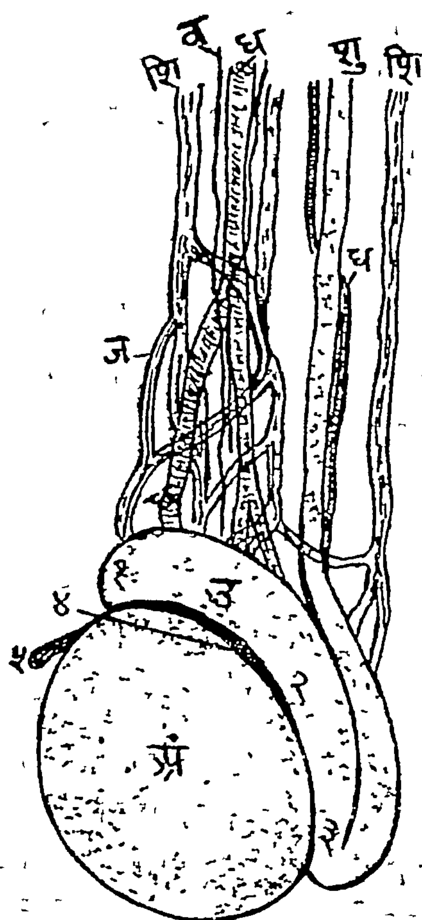
में थाल होते हैं। त्वचा के नीचे वसा नहीं रहती; वसा की जगह अनैच्छिक मांस की एक तह रहती है। इस मांस के संकोच और विसार से थैली छोटी और बड़ी होजाती है। यदि आप अंडकोष को ग़ौर से देखें तो अडकोष की त्वचा में कृमिवत् आकुंचन के सदृश एक लहर दिखाई देगी; यह त्वचा के नीचे रहने वाले मांस के सकोच और विसार से ही उत्पन्न होती है। शीत के प्रभाव से यह मांस बहुधा सिकुड़ा रहता है जिस के कारण अंडकोष मोटा और छोटा मालूम होता है। गर्मी के प्रभाव से मांस फैल जाता है और थैली पतली और बडी दिखाई देती है। वृद्धावस्था में मांस के कमज़ोर हो जाने से थैली ढीली हो जाती है और नीचे को अधिक लटका करती है। अंडकोष भीतर से एक परदे द्वारा दो भागों में विभक्त रहता है; इस परदे का बाहरी चिह्न वह "सेवनी" है जो अंडकोष के बीच में दिखाई देती है। यह सेवनी पीछे मलद्वार तक और आगे मणि तक रहती है। अंडकोष के दाहिने भाग में दाहिना और बाएं में बायां अंड रहता है।

शुक्र ग्रन्थि या अंड (चित्र १०३)

यदि आप अंडकोष को टटोलें तो उस के भीतर दो सख़्त चीज़ें मालूम होंगी; ये अंड हैं। अंड का आकार मुर्ग़ी के अंडे से कुछ कुछ मिलता है भेद इतना है कि उस के पार्श्व अंडे के सदृश बहुत उभरे नहीं रहते। प्रत्येक अंड के दो सिरे (ऊपर का और नीचे का), दो किनारे (अगला और पिछला) और दो पार्श्व (बाह्य और मध्य) होते हैं। अंड कुछ तिर्छा लटका रहता है, ऊपर का सिरा कुछ आगे को और बाहर

की ओर और नीचे का सिरा पीछे को ओर मध्य रेखा की ओर रहता है। अंड की लम्बाई $१\frac{१}{२}$ से $१\frac{३}{४}$ इंच, चौड़ाई १ इंच और मोटाई १ इंच से कुछ कम होती है. उस का भार एक तोले के लगभग होता है।

चित्र १०३ अंड



अ=शुक्र ग्रन्थि,
उ=उपांड,
१=उपांड शिर,
२=उपांड शरीर,
३=उपांड पुच्छ;
४=खात,
शि=शिराए,
व=धमनियां,
व=नाडियां,
ज=शिरा जाल,

अंड के पिछले किनारे से एक लम्बा पतला और कुछ चपटा पिंड लगा रहता है इस को **उपांड** कहते हैं; इस को अंडकोष की दीवार में से टटोल कर स्पर्श कर सकते हैं। उपांड का ऊपर का सिरा मोटा होता है यह उपांड का शिर कहलाता है (चित्र १०३ में १); नीचे का सिरा पतला होता है इस को 'पुच्छ' कहते हैं; (चित्र १०३ में ३) बीच का भाग उस का गात्र या 'शरीर' कहलाता है (चित्र १०३ में २)। उपांड का शिर तो अंड से नलियों द्वारा जुड़ा रहता है (नलियां अंड से उपांड में जाती हैं, देखो चित्र १०४), शेष भाग केवल कला द्वारा ही अंड से मिला रहता है।

अंड के ऊपर एक झिल्ली या कला चढ़ी रहती है जिसको दो तहें होती हैं; इस कला से उपांड का अधिक भाग भी ढका रहता है। इस कला को **पर्यांडिका** या **अंडवेष्ट** कहते हैं। पर्यांडिका की दोनों तहों के सम्मुख पृष्ठ चिकने होते हैं और कुछ भीगे रहते हैं। जिस प्रकार रबड़ की पोली गेंद को अंगुली से दबाने से अंगुली का कुछ भाग रबड़ की दो तहों (गेंद पिचक जाती है) से ढक तो जाता है परन्तु वास्तव में है गेंद के बाहर ही उसी प्रकार यद्यपि अंड का अधिक भाग इस थैली जैसे वेष्ट की दो तहों से ढका रहता है परन्तु वास्तव में है उसके बाहर ही। कभी कभी पर्यांडिका की दो तहों के बीच में जलीय द्रव इकट्ठा हो जाता है, जिसके कारण अंड बड़ा मालूम होने लगता है; यह 'जलदोष' कहलाता है।

शुक्र ग्रन्थि की रचना (चित्र १०४)

शुक्र ग्रन्थि में कोई दो तीन सौ छोटे छोटे कोष्ठ

(चित्र १०४ में क) होते हैं; इन कोष्ठों की दीवारें (चित्र १०४ में, प) सौत्रिक ततु से निर्मित रहती हैं। इन कोष्ठों में बाल जैसी बारीक पतली नलियां रहती हैं (चित्र १०४ में न)। इन नलियों की संख्या कोई ८००–६०० होती है और वे आपस में सौत्रिक तंतु द्वारा मिली रहती हैं। ये नलियां बहुत मुड़ी हुई रहती हैं, यदि नली के मोड़ खोल कर वह सीधी करली जावे तो उसकी लम्बाई कोई २ या ३ फुट के लगभग होगी। नली की चौड़ाई $\frac{१}{१००}$ इंच होती है। सब नलियों की लम्बाई मिला कर $\frac{१}{३}$ मील के लनभग होती है।

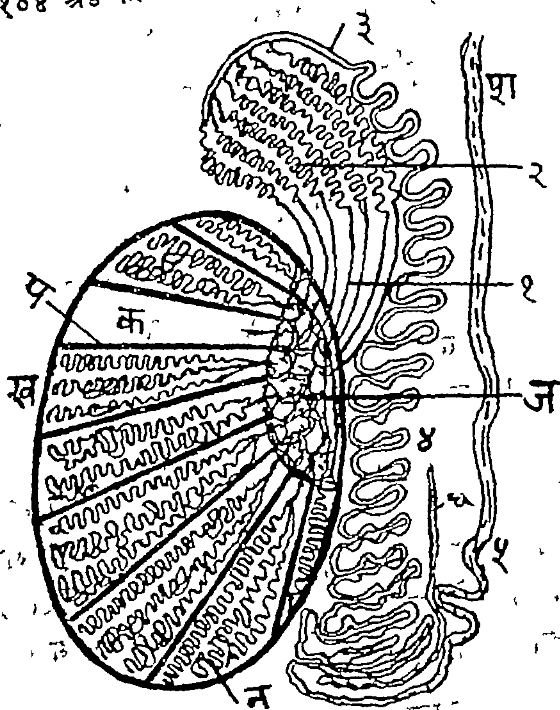
ग्रन्थि के अगले भाग से आरभ होकर नलियां पिछले किनारे की ओर जाती हैं; ज्यों ज्यों वे पीछे की ओर जाती हैं वे एक दूसरे से जुड़ती जाती हैं जिसके कारण ग्रन्थि के पिछले भाग में एक जाल बन जाता है (चित्र १०४ में ज)

अब इस जाल से कोई २०-२५ बड़ी नलियां आरंभ होती हैं और ग्रन्थि से बाहर निकलती हैं (चित्र १०४ में १)। ये नलियां बहुत मुड़ी रहती हैं (चित्र १०४ में २) और इन्हीं मुड़ी हुई नलियों के समूह से उपांड का शिर बनता है। उपांड के शिर में इन नलियों के संयोग से एक बड़ी नली बन जाती है (चित्र १०४ में ३) जिस को **शुक्र प्रनाली** कहते हैं। शुक्र प्रनाली बहुत मोड़ खा कर और गेंडलियां मार कर अंड के पिछले किनारे के नीचे के भाग तक पहुंचती है; इसी मुड़े हुए भाग से उपांड का शरीर और पुच्छ बनती हैं (चित्र १०४ में ४) ; (चित्र १०३ का १०४ से मुकाबला करो)। उपांड की पुच्छ में जाकर यह नली बहुत मोटी हो

जाती है और ऊपर को मुड़कर उपांड के मध्य पार्श्व से लगी हुई ऊपर को चढ़ती है (चित्र १०४ में ५ और श)। यदि शुक्र प्रनाली की सब गेंडलियां और मोड़ खोल दिये जावें तो उस की लम्बाई २० फुट के लगभग होगी।

शुक्रग्रन्थि की नलियां वास्तव में छोटी छोटी नल्याकार ग्रन्थियां हैं। इन ग्रन्थियों में शुक्र बनता है। शुक्र के मुख्य अवयव **शुक्रकीट** या **शुक्राणु** हैं।

चित्र १०४ अंड की रचना



क=अंड के कोष्ठ,
प=सौत्रिक ततु से निर्मित दीवारें,
ख=शुक्र ग्रन्थि का एक खंड;
न=नलिया,
ज=नलियो का जाल;
१=नलिया जिनके संयोग से शुक्र प्रनाली बनती है,
२=शुक्र प्रनाली का प्रारंभिक भाग,
३,४,५,
श=शुक्र प्रनाली।

अंडधारक रज्जु

यदि आप अंडकोष के ऊपर के भाग को टटोलें तो उसमें

एक रस्सी या डोरी जैसी चीज़ मालूम होगी; अंड इसी डोरी द्वारा अंडकोष में लटका रहता है। इस डोरी को **अंडधारक रज्जु** कहते हैं। यह डोरी अंड की रक्त तथा लसीकावाहिनियों और नाड़ियों और शुक्रप्रनाली के एकत्रित रहने से बनती है। विटप संधि के ऊपर यह रज्जु उदर की दीवार में से होकर उदर के भीतर चली जाती है। जिस मार्ग में से होकर यह रज्जु भीतर जाती है कभी कभी उसी मार्ग में से अंत्र का कुछ भाग अंडकोष में चला आता है; इसे "अंत्रवृद्धि" रोग कहते हैं।

अंडधारक रज्जु के अवयव (चित्र १०३)

१. शुक्रप्रनाली और उसकी धमनी (शु)
२. अंड की धमनी (ध)
३ कई शिराएं, अंड के समीप शिराओं का एक घना जाल होता है (शि; ज)
४. लसीकावाहिनियां
५ नाड़ियां

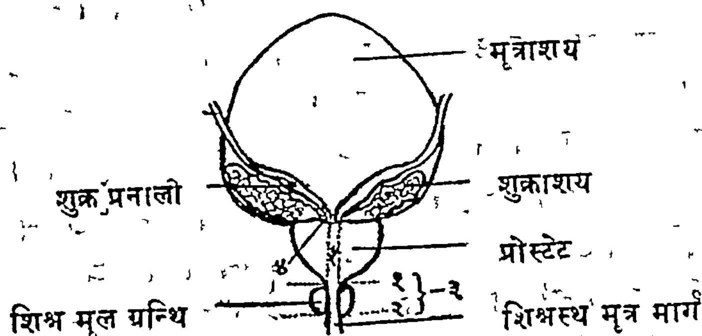
जब अंडधारक रज्जु टटोली जाती है तो इन सब चीजों में से शुक्रप्रनाली अधिक कड़ी और दृढ़ मालूम होती है। ये सब अवयव आपस में सौत्रिक तंतु द्वारा इकट्ठे रहते हैं और इन सब के ऊपर कई कलाएं और एक पतली मांस की तह चढ़ी रहती हैं।

शुक्रप्रनाली, शिराएं और लसीका वाहिनियां अंड से आरंभ होकर उदर में चली जाती हैं; धमनियां और नाड़ियां उदर से अंड को जाती है।

शुक्राशय (चित्र १०५; ९७ में शु)

ये दो थैलियां हैं जो वस्तिगह्वर में मूत्राशय के पिछले भाग से लगी रहती हैं, इनके पीछे मलाशय रहता है (चित्र ९७ में शु)। शुक्राशय की लम्बाई कोई २-३ इंच होती है; उस का परिमाण सब मनुष्यों में एकसा नहीं होता। ऊपर का सिरा स्थूल होता है, नीचे का पतला और नोकीला। थैली के मध्य पार्श्व से शुक्रप्रनाली लगी रहती है (चित्र १०५)। शुक्रप्रनाली का अंत थैली के नीचे वाले नोकीले सिरे में होता है। जहां शुक्रप्रनाली शुक्राशय से जुड़ती है वहीं से एक पतली नली का आरंभ होता है (चित्र १०५ में ४); इस नली को **शुक्रस्रोत** कहते हैं। शुक्रस्रोत प्रोस्टेट ग्रन्थि के भीतर घुस कर मूत्रमार्ग में खुलता है (चित्र ९७ चित्र ९८ में ५)।

चित्र १०५



१,२=दो कलाए
३=कलाओं के बीच में रहने वाला मूत्रमार्ग का भाग
४=शुक्र स्रोत
५=प्रोस्टेट में रहने वाला मूत्रमार्ग का भाग

प्रोस्टेट (चित्र ६७, ६८, १०५)

शुक्र ग्रन्थि में जो वस्तु बनती है वह शुक्रप्रनाली द्वारा आकर शुक्राशय में इकट्ठी हुआ करती है और फिर यहां से आवश्यकतानुसार (मैथुन के समय) शुक्रस्रोत द्वारा निकल कर मूत्रमार्ग में पहुंचती है।

यह एक छोटे अखरोट के बराबर शंक्वाकार अंग है जो वस्तिगह्वर में मूत्राशय के नीचे और मलाशय के सामने रहता है; मूत्रमार्ग इस में से होकर नीचे जाता है। उसका आकार लट्टू जैसा होता है; तली (या स्थूल भाग) ऊपर मूत्राशय से संश्लिष्ट रहती है; पतला भाग (शिखर) नीचे को श्रोणि आधार की ओर रहता है, उसमें से मूत्रमार्ग निकल कर आगे जाता है। तली का व्यास कोई १$\frac{1}{2}$ इंच, तली से शिखर तक का माप कोई १$\frac{1}{4}$ इंच और ग्रन्थि की मोटाई कोई १ इंच के लगभग होती हैं। उसका भार कोई ८ माशे होता है।

यदि ग्रन्थि काटी जावे तो भीतर से सुर्खी मायल भूरे रंग की दिखाई देगी। उस पर एक सौत्रिक कोष चढ़ा रहता है। इस ग्रन्थि में अनैच्छिक मांस भी रहता है।

इस ग्रन्थि में कोई ऐसी प्रनाली नही होती जो बाहर से दिखाई दे। जो रस इस ग्रन्थि में बनता है वह दस बीस पतली पतली नलियों में जो अंग के भीतरही रहती हैं आता है। ये नलियां (प्रोस्टेट स्रोत) मूत्रमार्ग के फ़र्श में आकर खुलती हैं। यह रस शुक्र से मिल जाता है।

वृद्धावस्था में यह ग्रन्थि बढ़ जाया करती है; ऐसी दशा में मूत्र त्यागने में कष्ट होने लगता है।

शिश्नमूल ग्रन्थियां (चित्र १०५ ; चित्र ६८)

ये पीले रंग की मटर के तुल्य छोटी छोटी दो ग्रन्थियां हैं जो प्रोस्टेट के शिखर के नीचे श्रोणि आधार में दो कलाओं के बीच में मूत्रमार्ग के इधर उधर रहती हैं।

हर एक ग्रन्थि से एक नली निकलती है जो एक इञ्च लम्बी होती है और शिश्नस्थ मूत्रमार्ग में जाकर खुलती है। इस ग्रन्थि का रस शुक्र से मिल जाता है।

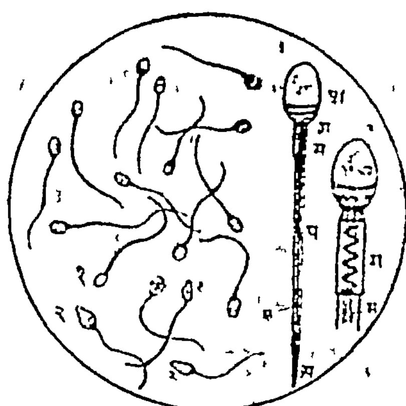
शुक्र या वीर्य

यह दूधिया रंगका गाढ़ा लसदार ज़रा क्षारीयप्रतिक्रिया वाला द्रव होता है। उसमें एक विशेष प्रकार की गंध आया करती है। कपड़े पर उसका धब्बा हलके पीले रंग का पड़ता है; कपड़ा सूखने पर उस जगह से सख्त भी हो जाता है; शुक्र से भीगा कपड़ा आग के सामने सुखाया जावे तो धब्बे का रंग गहरा हो जावेगा।

शुक्र का गुरुत्व जल से अधिक होता है। एक वार मैथुन करने में कोई $\frac{1}{2}$ तोले से $1\frac{1}{4}$ तोले तक शुक्र निकला करता है। १०० भागों में ६० भाग जल के ३ भाग खटिक और स्फुर के योगिकों के, १ भाग सोडियम के लवणों के, १ भाग अन्य लवणों के और ५ भाग कई प्रकार की सेलों के होते हैं।

यदि ताज़े शुक्र की अणुवीक्षण द्वारा परीक्षा की जावे तो उसमें बड़ी फुरती से इधर उधर फिरते हुए कीट सदृश चीजें दिखाई देंगी। ये वे सेलें हैं जिनका होना सन्तानोत्पत्ति के लिये आवश्यक है। इनको **शुक्राणु** या **शुक्रकीट** कहते हैं (देखो चित्र १०६)।

चित्र १०६ शुक्राणु ।



श=शिर ,
ग=ग्रीवा ,
म=मध्य भाग ;
प=पुच्छ ,
अ=अंतिम भाग ,
स=सूत्र .

शुक्राणु की लम्बाई $\frac{१}{१०००}$ से $\frac{१}{५००}$ इंच तक होती है । उस का अगला सिरा मोटा और अंडाकार होता है पिछला पतला और नोकीला । मोटा भाग शिर कहलाता है ; शिर के पीछे जो दबा हुआ भाग है वह ग्रीवा है : ग्रीवा के पीछे शुक्राणु का मध्य भाग या गात्र है ; गात्र के पीछे लम्बी पुच्छ होती है जिसका अंतिम भाग पतला और नोकीला होता है । मामूली अणुवीक्षण से शुक्राणु ऐसे दिखाई देते हैं जैसे चित्र १०७ में १, २ ; बड़े यंत्रों से देखने से उनकी रचना ऐसी मालूम होती है जैसी ३ और ४ । शिर की मोटाई $\frac{१}{६०००}$ इंच के लगभग होती है । जीवित शुक्राणु की पुच्छ उसी प्रकार गति करा करती है जैसे पानी में तैरते हुए या ज़मीन पर रेंगते हुए सर्प का शरीर ।

शुक्रकीट शुक्र के तरल में तैरा करते हैं ; निर्बल शुक्रकीट धीरे धीरे गति करते हैं ; बलवान शुक्रकीट बड़ी तेज़ी से

फिरते हैं। एक ही मनुष्य के शुक्र में कभी शुक्रकीट कम होते हैं और कभी ज़्यादा; कभी कभी होते ही नहीं। जिन पुरुषों के शुक्र में शुक्रकीट कभी होते ही नहीं अर्थात् जिनकी शुक्र-ग्रन्थियों में ये बनते ही नहीं वे पुरुष सन्तानोत्पत्ति नहीं कर सकते, वे मैथुन करने में समर्थ भले ही हों। अनुमान है कि एक घन शतांशमीटर शुक्र में ६ करोड़ से ८ करोड़ तक शुक्राणु रहते हैं। जितना शुक्र एक मैथुन क्रिया में निकलता है उसमें इनकी संख्या १८०,०००,०० से २२६,०००,००० तक होती है।

यदि आप शुक्र को एक कांच के गिलास में अलग रख दें तो कुछ देर पीछे उसकी दो तहें हो जायंगी। ऊपर की तह पतली, अपारदर्शक और दही के पानी के सदृश कुछ श्वेत रंग की होती है, नीचे की तह गाढ़ी और दूधिया रंग की होती है। शुक्र में जितने शुक्रकीट थे वे नीचे की तह में बैठ गये; ऊपर की तह में जल और उसमें घुले हुए लवण और कुछ टूटी फूटी सेलें रहते हैं। जितनी गहरी नीचे की तह होती है उतने ही अधिक शुक्रकीट उस शुक्र में समझने चाहियें। शुक्र में शुक्रकीटों के अतिरिक्त और भी कई प्रकार की सेलें रहती हैं। परन्तु इनका कोई विशेष कार्य नहीं है।

शुक्रकीट जल में जीवित नहीं रह सकते। अम्ल वा अम्ल रस में भी वे तुरन्त मर जाते हैं। वे ज़रा क्षारीय प्रतिक्रिया वाले द्रवों को पसन्द करते हैं।

शुक्राणु १४-१५ वर्ष की आयु में बनने आरंभ हो जाते हैं परन्तु इस समय के शुक्राणु प्रबल सन्तान उत्पन्न करने योग्य नहीं होते। २०-२५ वर्ष की आयु में अच्छे शुक्राणु बनने लगते हैं।

जो शुक्र मैथुन में निकलता है उसके सब अंश शुक्रग्रन्थि में नहीं बनते; इन ग्रन्थियों में शुक्रकीट बनते हैं। जो शुक्र इस ग्रन्थि से शुक्रप्रनाली में पहुंचता है वह बहुत गाढ़ा होता है इतना गाढ़ा कि शुक्रकीट भली प्रकार गति नहीं कर सकते। शुक्र-प्रनाली की श्लैष्मिक कला में जलीय रस बनता है, इस से मिलकर शुक्र कुछ पतला हो जाता है। शुक्राशय में भी कुछ रस बनता है यह शुक्र को और पतला कर देता है। जब मैथुन के समय वह मूत्रमार्ग में से बहता है तो प्रोस्टेट और शिश्न-मूल ग्रन्थियों के रस उस में मिलते है। शुक्र इस प्रकार कई रसों का मिश्रण है।

कुछ पुरुषों में मैथुन करते समय दो चार बूंद एक स्वच्छ लसदार तरल की मूत्रबहिर्द्वार से निकला करती हैं; यह शुक्र नहीं होता; इस में शुक्रकीट नहीं होते; यह प्रोस्टेट अथवा शिश्नमूल ग्रन्थियों का रस है। सांड कुत्ते और बकरे जब मैथुन करने लगते हैं तब कभी कभी उनके शिश्न से भी इस प्रकार के स्वच्छ तरल की दो चार बूंदें गिरा करती हैं।

शुक्र ग्रन्थियों का और कार्य

शुक्रकीट बनाने के अतिरिक्त इन ग्रन्थियों का एक और बड़ा काम है। इन में एक ऐसी वस्तु बनती है जिस की संतानोत्पत्ति के लिये तो कोई आवश्यकता नहीं (जैसी कि शुक्रकीटों की होती है) परन्तु जो रक्त में मिल जाती हैं और उस के साथ साथ शरीर के विविध अंगों में पहुंचती है और उनको प्रबल और पुष्ट बनाती है। हर एक व्यक्ति को इस वस्तु की वर्धन काल में अर्थात् २५-३० वर्ष की आयु तक बड़ी आवश्यकता होती है। यदि किसी व्यक्ति के अंड यौवन

(जवानी) प्राप्ति से पहिले उसके शरीर से निकाल दिये जावें तो उस व्यक्ति का वर्धन भली प्रकार न होगा और यौवन के बाहरी चिह्न (डाढ़ी मूंछों का निकलना, कक्षनल और विटप-देश में बालों का जमना, स्वर का बदल जाना इत्यादि) भी अच्छी तरह दिखाई न देंगे। बैल और सांड में जो फ़र्क होता है वह सभी लोग जानते हैं, यदि बछड़े के अंड निकाल दिये जावें या किसी और प्रकार बेकार कर दिये जावें (व्यक्ति अखता कर दिया जावें) तो वह बछड़ा बड़ा हो कर बैल बनेगा ; यदि अंड उस के शरीर में ज्यों के त्यों रहें तो वह सांड बनेगा। बैल न केवल संतानोत्पन्न करने में असमर्थ होता है प्रत्युत उसका वर्धन (बढ़ोत) भी कम होता है और वह उसी आयु के सांड की अपेक्षा बहुत कमज़ोर, दुबला और परिश्रम से डरने वाला होता है।

सब अंगों के परिपक्व होने के पूर्व इन ग्रन्थियों से शुक्र बनाने का काम लेना न केवल उस व्यक्ति के लिये प्रत्युत उस की संतान के लिये भी अत्यंत हानिकारक है। इस कारण कम से कम २५ वर्ष की आयु के पूर्व मैथुन द्वारा या किसी और प्रकार वीर्य शरीर से बाहर निकालना अनुचित है ; क्योंकि जब इन ग्रन्थियों से शुक्र बनाने का काम अधिक लिया जाता है तब वे उस वस्तु को जिस का काम शरीर के शेष अंगों को पुष्टि प्रदान करना है अच्छी तरह नही बना सकतीं। उपरोक्त से सिद्ध होता है कि २५ वर्ष की आयु से पहिले विवाह संस्कार होना ठीक नहीं है।

अध्याय २९

उत्पादक संस्थान (२)

नारी जननेन्द्रियां

पुरुष के समान स्त्री की जननेन्द्रियां भी दो प्रकार की होती हैं :—

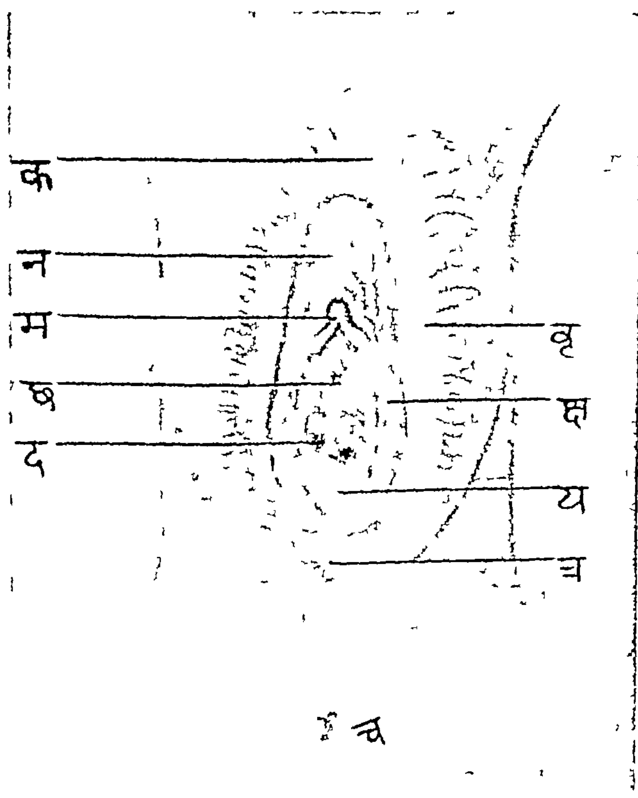
१. **बाह्य जननेन्द्रियां** जो बाहर से देख पड़ती हैं जैसे भग (भग नासा, भगोष्ठ, योनिद्वार इत्यादि) ।

२ **अंतरीय जननेन्द्रियां** जो वस्तिगह्वर या श्रोणि के भीतर रहती हैं जैसे डिम्ब ग्रन्थि, डिम्ब प्रनाली, गर्भाशय या जरायु, योनि ।

भग (चित्र १०७, १०८)

जिस स्थान में पुरुष में शिश्न और अंडकोष होते हैं उस स्थान में स्त्री में जो अंग दिखाई देते हैं वे सब मिलकर **भग** कहलाते हैं । भग के बीचो बीच एक दरार होती है ; दरार के दो पाट या ओष्ठ होते हैं । ये **भगोष्ठ** त्वचा के झोलों से बनते हैं; त्वचा के नीचे वसा रहने के कारण ये झोल उभरे हुए देख पड़ते हैं । बाहर से केवल दो ही पाट या ओष्ठ दिखाई देते हैं और उनके बीच में भग की दरार है । यदि हम इन ओष्ठों को अंगुली से हटाकर दरार को चौड़ा करें तो इन ओष्ठों के भीतर दो ओष्ठ और दिखाई देंगे; ये पतले होते हैं और त्वचा से ही बनते हैं; इन में वसा कम होती है । इस प्रकार

चित्र १०७ अक्षतयोनि स्त्री का भग



क=कामाद्रि, न=भगनासा
म=भगनासाग्र, छ=मूत्रबहिर्द्वार
द=योनिद्वार, य=योनिच्छद, त्र=वृहतभगोष्ठ
क्ष=क्षुद्रभगोष्ठ

दरार के दोनों ओर दो दो ओष्ठ हुए। बाहर से दिखाई देने वाले मोटे ओष्ठ **बृहत् भगोष्ठ** और इन के भीतरी ओर रहने वाले **क्षुद्र भगोष्ठ** कहलाते हैं (चित्र १०७ में बृ, क्ष, चित्र ११२ में भगोष्ठ)।

यदि हम भगोष्ठों को फैलावें तो दरार में दो छिद्र दिखाई देंगे। इन छिद्रों में से एक बड़ा होता है यह योनि का छिद्र है और **योनिद्वार** कहलाता है (चित्र १०७ में द, चित्र १०८ और ११२); मैथुन के समय पुरुष का शिश्न इसी छिद्र में हो कर योनि के भीतर प्रवेश करता है, और इसी छिद्र में से मासिक स्राव बहता है और बालक जन्म लेता है। दूसरा छिद्र योनिद्वार से १/२ इंच ऊपर रहता है; यह मूत्र मार्ग का छिद्र है और **मूत्रवहिद्वार** कहलाता है (चित्र १०७ में छ, चित्र १०८ में म, चित्र ११०); मूत्र इसी छिद्र में से बाहर निकलता है।

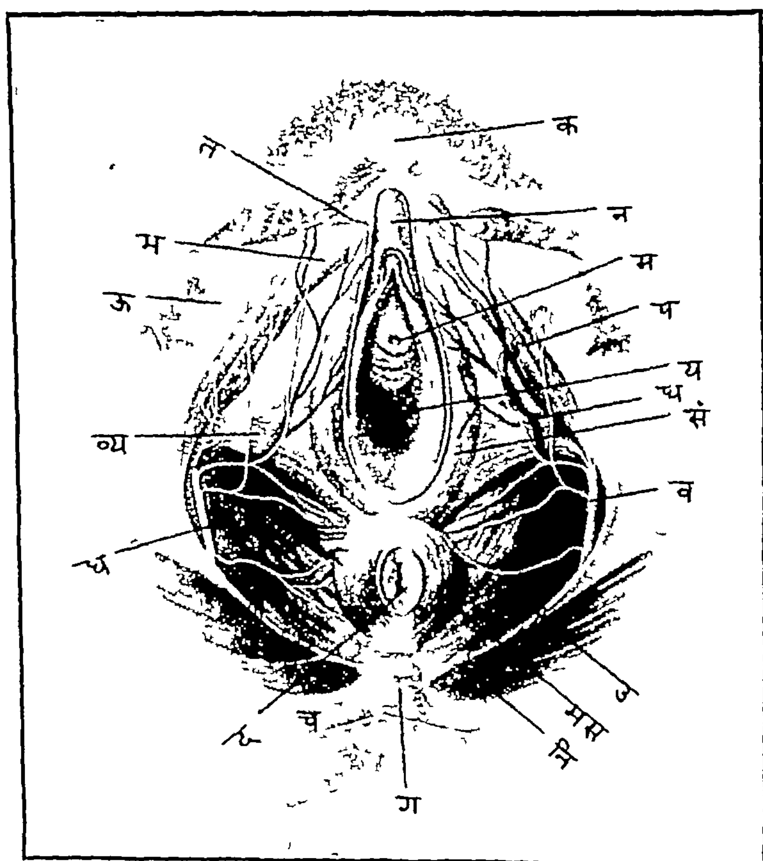
अक्षत योनि स्त्रियों में योनिद्वार पर त्वचा का पतला परदा लगा रहता है (चित्र १०७ में य); इस परदे में एक छिद्र होता है जिस में से प्रति मास आर्तव निकला करता है। प्रथम मैथुन में दृढ़ शिश्न के बड़े वेग के साथ भीतर घुसने के कारण यह परदा फट जाता है; इस परदे के फटने से स्त्री को थोड़ी बहुत पीड़ा हुआ करती है और ज़रा सा रक्त भी निकला करता है। किसी किसी स्त्री में यह परदा बहुत पतला होता है और उस का छिद्र चौड़ा होता है; यदि शिश्न पतला हो तो परदे के बिना फटे और बिना पीड़ा के मैथुन हो जाता है क्योंकि वह छिद्र फैलकर इतना चौड़ा हो जाता है कि शिश्न योनि में प्रवेश कर सके।

जब तक यह परदा मौजूद है और उस का छिद्र बड़ा नहीं है उस समय तक यह माना जाता है कि स्त्री से मैथुन नहीं किया गया। परदे का फट जाना बहुधा इस बात का साक्षी है कि स्त्री से मैथुन हो चुका। चोट लग जाने से भी कभी कभी यह परदा फट जाया करता है। इस परदे को **योनिच्छद** कहते हैं; कभी कभी इस को **कुमारिच्छद** भी कह देते हैं क्योंकि विवाहित स्त्रियों में मैथुन होने के पश्चात् यह परदा नहीं रहता। जब परदा फट जाता है तो उस के शेष भाग के टुकड़े योनिद्वार के इधर उधर दिखाई दिया करते हैं (चित्र १०६)

वृहत् भगोष्ठ ऊपर जा कर एक दूसरे से मिल जाते हैं; जहां ये एक दूसरे से मिलते हैं वह स्थान कुछ उभरा हुआ होता है: इस स्थान को **कामाद्रि** कहते हैं (चित्र १०७ में क) जब स्त्री जवान होने लगती है (१२,१३ वर्ष की आयु में) तब यहां बाल उग आते हैं। इस देश में दोनों भगास्थियोंका जोड़ रहता है।

कामाद्रि के नीचे दोनों वृहत् ओष्ठों के बीच में और मूत्र बहिर्द्वार के ऊपर एक छोटा सा अंकुर होता है। (चित्र१०७ में न); इस को **भगनासा** (या भगांकुर) कहते हैं; जिस प्रकार पुरुष में शिश्न होता है उसी प्रकार स्त्री में, यह अंग होता है। शिश्न की अपेक्षा यह बहुत छोटा होता है शिश्न दंडिकाओं की भांति इस में भी दो दण्डे होते हैं जिन को भगनासा दंडिका कहते हैं। भगनासादंडिका शिश्नदंडिका की भांति नितंबास्थि की महराब से जुड़ा रहता है; आगे आकर दोनों दंडिकाएं एक दूसरे से मिल जाते हैं और उन से

चित्र १०८ भग



चित्र १०८ की व्याख्या ।

त्वचा और वसा हटा दी गई हैं, नाड़िया, धमनिया, और पेशिया साफ़ कर के दिखाई गई हैं।

क=कामाद्रि ।

त=त्वचा न=भगनासा ।

प=भगनासोत्थापिका या भगनासा प्रहर्षिणी पेशी ।

म=मूत्रबहिर्द्वार ।

य=योनिद्वार।

स=योनिसकोचनी पेशी ।

ध=धमनी ।

व=नाडी ।

उ=गुदोत्थापिका पेशी ।

म सं=मलद्वार सकोचनी पेशी

नि=नैतविका पेशी (बृहता) ।

ग=गुदास्थि ।

च=चरबी या वसा ।

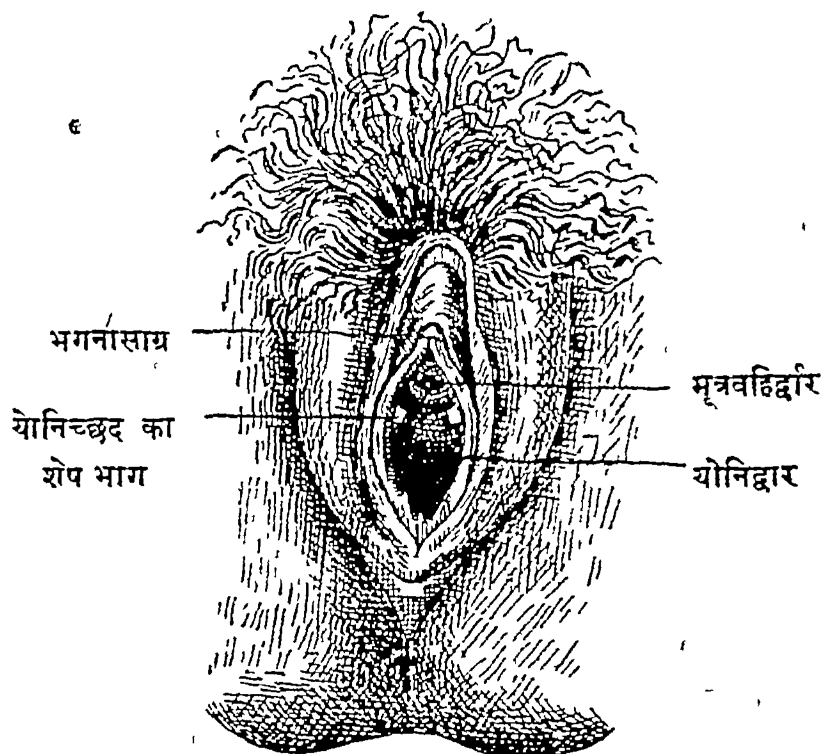
द=मलद्वार ।

व्य=श्रोणि आधार की व्यत्स्त पेशी ।

ऊ=ऊरु या जाघ ।

भ=भगनासा दण्डिका ।

चित्र १०६ भग (क्षत योनि)



भगनासा बनती है। इन दंडिकाओं की रचना शिश्नदंडिकाओं की रचना के सदृश होती है। प्रत्येक दंडिका से भगनासोत्थापिका (भगनासा प्रहर्षिणी) पेशी लगी रहती है (चित्र १०८ में प)। भगनासा का सिरा (भगनासाग्रं) शिश्न मुंड के सदृश होता है। उस की त्वचा ऊपर को हट सकती है और क्षुद्रोष्ठों की त्वचा से मिली रहती है। भगनासाग्रं में कोई छिद्र नहीं होता जैसा कि शिश्नमुंड में होता है।

भगनासा में दो ही दंडे होते हैं; शिश्न के मूत्रदंडिका की भांति भगनासा में कोई दंडा नही होता, भगनासा में से

न मूत्र निकलता है और न पुरुष के शुक्र जैसी कोई और चीज़। स्त्रियों में मूत्र मार्ग जुदा होता है (देखो चित्र ११२)।

मैथुन के समय भगनासा रक्त से भर जाता है और उस में शिश्न के समान दृढ़ता आ जाती है। मैथुन में शिश्न भगनासा से रगड़ खाता है और इस रगड़ से स्त्री को अत्यंत आनंद प्राप्त होता है। मैथुन की समाप्ति पर रक्त के लौट जाने के कारण भगनासा भी शिश्न की तरह शिथिल हो जाती है।

डिम्ब ग्रन्थियां (चित्र ११०, १११)

जैसे पुरुष में दो शुक्रग्रन्थियां होती हैं वैसे ही स्त्री में भी दो अंग होते हैं ; इन में डिम्ब बनते हैं, इस कारण इन को **डिम्ब ग्रन्थियां** कहते हैं। स्त्री के डिम्ब और पुरुष के शुक्राणु के परस्पर संयोग से ही गर्भस्थिति होती है।

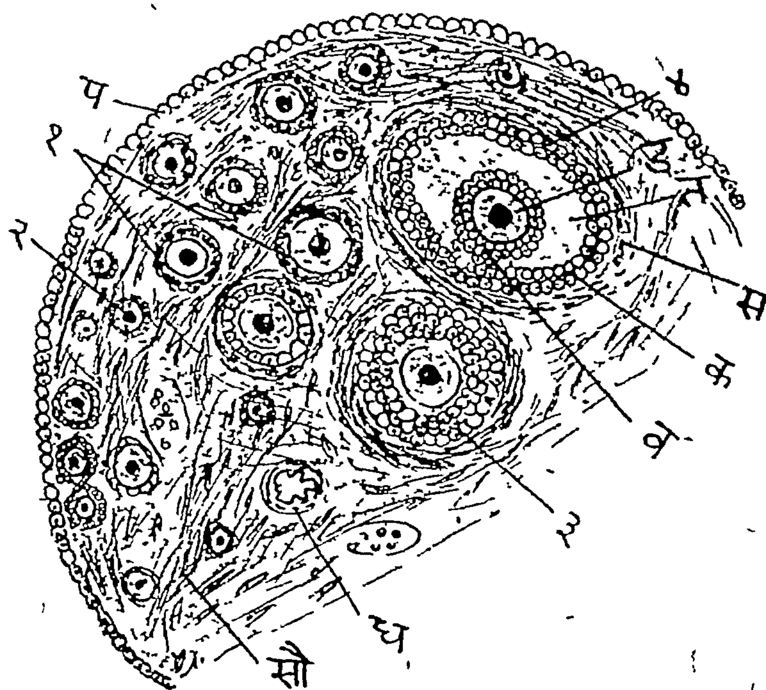
डिम्ब ग्रन्थियां वस्तिगह्वर में उस की पार्श्विक दीवारों से लगी हुई रहती हैं ; एक ग्रन्थि गर्भाशय के दाहिनी ओर रहती है दूसरी उसके बाईं ओर (चित्र १११ में ड) ग्रन्थि का आकार और परिमाण कबूतर के अंडे जैसा होता है। उस की लम्बाई १ से १$\frac{१}{४}$ इञ्च तक, चौड़ाई $\frac{३}{४}$ इंच और मोटाई $\frac{१}{२}$ इंच के लगभग होती है। उस का भार ६ से ८ माशे तक होता है।

डिम्ब ग्रन्थि की रचना (चित्र ११०)

यदि डिम्बग्रन्थि के यन्त्रों द्वारा सूक्ष्म पन्ने काटे जावें और फिर ये पन्ने अणुवीक्षण द्वारा यथाविधि देखे जावें तो उस की रचना ऐसी मालूम होगी जैसी कि चित्र ११० में दर्शाई गई है। ग्रन्थि में सौत्रिक तंतु रहता है (चित्र में सौ);

सौत्रिक तंतु से कहीं कहीं अनैच्छिक मांस भी मिला रहता है। ग्रन्थि के पृष्ठ पर सेलों की एक तह होती है (चित्र में प)। उस के भीतर वहुत सी सेलों तथा सौत्रिक तंतु से निर्मित छोटी और वड़ी थैलियां या आशय होते हैं (१, २, ३, ४); इन थैलियों को **डिम्ब कोष** कहते हैं।

चित्र ११० डिम्ब ग्रन्थि की सूक्ष्म रचना



प=पृष्ठ की सेलें, १, २, ३=डिम्बकोष या डिम्बाशय १=वड़े डिम्बकोष, २=छोटे डिम्बकोष, ३=यह डिम्बकोष १, २ की अपेक्षा ज्यादा पका हुआ है, ४=यह सब से बड़ा डिम्बकोष है और परिपक्व हो गया है, स=डिम्बकोष की दीवार की सौत्रिक तह, क=डिम्ब कोष की दीवार की सेलनिर्मित तह, त=डिम्बकोषीय तरल ड=डिम्ब, व=डिम्बवेष्ट, सौ=सौत्रिक ततु, ध=धमनी

छोटे डिम्बकोष बहुधा ग्रन्थि के बहिःस्थ भाग में अर्थात् पृष्ठ के निकट रहते हैं ; बड़े कोष अधिकतर कैन्द्रिक भाग में पाये जाते हैं। जब बड़े कोष परिपक्क हो जाते हैं तब वे पृष्ठ के नीचे पहुंच जाया करते हैं (चित्र ११० में ४)।

यदि हम किसी बड़े कोष को ग़ौर से देखें तो इस की रचना ऐसी मालूम होगी:—

१. सब से बाहर उस की दीवार सौत्रिक तंतु से बनती है (चित्र ११० में स)

२. सौत्रिक तह के भीतर सेलों की कई तहें बिछी रहती हैं (चित्र में क)

३. सेल तथा सौत्रिक तंतु से निर्मित थैली के भीतर एक तरल भरा रहता है (चित्र में त)

४. थैली के भीतर एक बड़ी सेल होती है (चित्र में ड); इस को **डिम्ब** कहते हैं।

५. डिम्ब के चारों ओर और उस से चिपटी हुई सेलों की कई तहें होती हैं ; यह **डिम्ब वेष्ट** है (चित्र ११० में ब)।

छोटे छोटे डिम्बकोषों में तरल नहीं रहता। डिम्ब वेष्ट और कोष की दीवार के बीच में कोई अंतर भी नही रहता ; सब सेलें एक दूसरे से मिली रहती हैं (चित्र में ३)।

सब से छोटे डिम्बकोषों में डिम्ब के चारों ओर सेलों की केवल एक ही तह दिखाई देती है। ज्यों ज्यों ये कोष बड़े होते हैं सेलों की संख्या अधिक होती जाती है और फिर कोष के भीतर तरल इकट्ठा होने लगता है।

अनुमान है कि दोनों ग्रन्थियों में छोटे बड़े सब डिम्बकोषों की संख्या ७२००० के लगभग होती हैं (डिम्बों की संख्या भी इतनी ही हुई)।

जब कोई डिम्बकोष पूरे परिमाण (पक्वास्था) को प्राप्त होता है तो वह कैन्द्रिक भाग से बहिःस्थ भाग में पहुंच कर पृष्ठ के नीचे आ जाता है; परिपक्क कोष का लम्बा व्यास $\frac{१}{३}$ इंच के लगभग होता है। ग्रन्थि का पृष्ठ इस कोष के स्थान में उभर जाता है; फिर पृष्ठ फट जाता है और तरल के दबाव से डिम्बकोष भी फट जाता है। अब डिम्ब अपने चारों ओर वाली सेलों सहित (डिम्बवेष्ट) कोष से बाहर निकल आता है और डिम्ब प्रनाली में चला जाता है। परिपक्क डिम्ब का व्यास $\frac{१}{१२०}$—$\frac{१}{१७०}$ इंच के लगभग होता है; नंगी आंखों से वह एक सूक्ष्म बिंदु जैसा दिखाई देता है। डिम्ब कोष बहुधा मासिकस्राव के समय परिपक्क हुआ करते हैं। जब डिम्ब कोष फटने वाला होता है तब उस की दीवार की सेलें बड़ी बड़ी हो जाती हैं और उन के भीतर एक पीली वस्तु इकट्ठी होने लगती है जिस के कारण थैली का रंग पीला सा हो जाता है। जब कोष में से डिम्ब निकल जाता है तो उस के भीतर रक्त भर जाता है और कुछ समय पीछे कुल थैली से एक पीला पिंड बन जाता है, इस को **पीतांग** कहते हैं। यदि डिम्बकोष से निकले हुए डिम्ब और पुरुष के शुक्रकीट के संयोग से गर्भस्थिति हो जावे तो इस पीतांग में एक विचित्र परिवर्तन होता है और वह बड़ा हो जाता है, यदि गर्भस्थिति न हो तो यह पीतांग कुछ समय पीछे सिकुड़ कर

छोटा और श्वेत हो जाता है और अब वह **श्वेतांग** कहलाता है।

डिम्ब के बाहर निकल जाने के पश्चात् डिम्बग्रन्थि का पृष्ठ फिर ज्यों का त्यों हो जाता है परन्तु एक छोटा सा चिह्न बना रहता है। वृद्धावस्था में डिम्बग्रन्थि के पृष्ठ पर बहुत से गढ़े दिखाई देते हैं। इन गढ़ों के कारण उसकी शकल आड़ू की गुठली जैसी दिखाई देने लगती है। दोनों ग्रन्थियों के गढ़ों की संख्या उतनी ही होती है कि जितनी उन दोनों ग्रन्थियों से निकलने वाले डिम्बों की। सामान्यतः एक मास में एक ही डिम्ब निकलता है और उसका एक ही चिह्न या गढ़ा बनता है। यदि किसी स्त्री की दोनों ग्रन्थियों पर ५० गढ़े हों तो यह कहना असत्य न होगा कि वह स्त्री ५० बार रजस्वला हुई। बहुधा ग्रन्थियां बारी बारी से डिम्ब निकालती हैं, एक मास में एक ओर की ग्रन्थि से डिम्ब निकलता है दूसरे मास में दूसरी ओर की ग्रन्थि से।

गर्भाशय या जरायु

यह वह अंग है जिस में गर्भ रहा करता है। वह वस्तिगह्वर में रहता है; उस के सामने मूत्राशय और पीछे मलाशय रहते हैं। गर्भाशय के दोनों ओर कुछ दूरी पर डिम्ब ग्रन्थियां रहती हैं।

गर्भाशय का आकार कुछ कुछ नाशपाती जैसा होता है परन्तु उस का स्थूल भाग नाशपाती के सदृश गोल होने के बजाय चपटा होता है।

अप्रजाता (जिस स्त्री के कभी संतान न हुई हो अथवा जिस ने गर्भधारण न किया हो) में गर्भाशय की लम्बाई

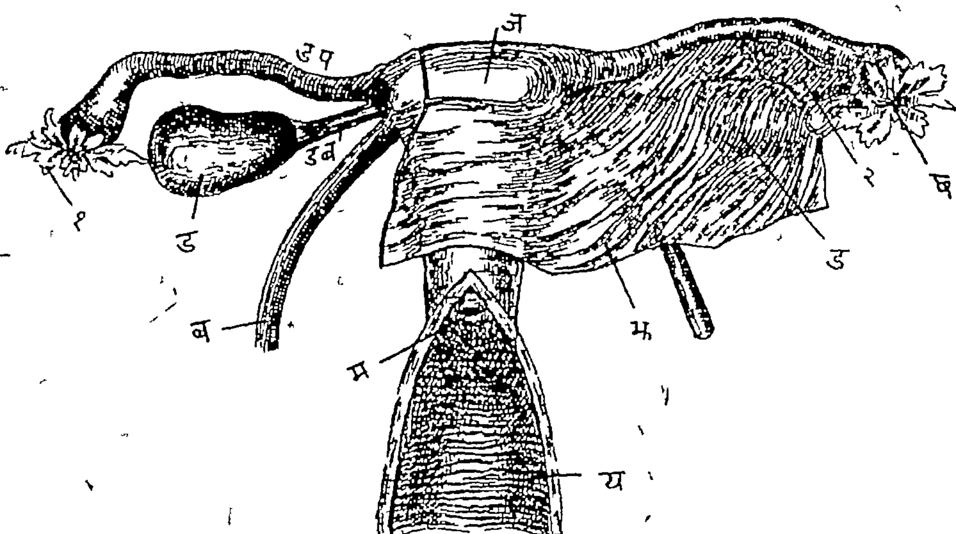
(ऊपर से नीचे तक का माप) ३ इंच, चौड़ाई (एक किनारे से दूसरे किनारे तक का माप) २ इंच और मोटाई (सामने से पीछे तक का माप) १ इंच होती है। उस का भार २$\frac{1}{2}$ से ३$\frac{1}{2}$ तोले तक होता है। प्रजाता (जो स्त्री संतान उत्पन्न कर चुकी है) में उसका आकार उपरोक्त से कुछ ही बड़ा होता है।

गर्भाशय का ऊपर का भाग मोटा होता है. नीचे का भाग जो योनि से जुड़ा रहता है पतला होता है। नीचे के भाग में एक छिद्र होता है (चित्र १११ में म) ; इस को गर्भाशय का **बहिर्मुख** कहते हैं। गर्भाशयबहिर्मुख योनि में अँगुली देकर स्पर्श किया जा सकता है। इस मुख के दो ओष्ठ होते हैं एक अगला और दूसरा पिछला ये भी स्पर्श किये जा सकते हैं।

गर्भाशयवस्तिगह्वर में सीधा खड़ा नहीं रहता। वह आगे को मूत्राशय की ओर झुका रहता है (चित्र ११२) जहां गर्भाशय का ऊपर का स्थूल भाग नीचे के पतले भाग से मिलता है वहां भी गर्भाशय कुछ आगे को मुड़ा रहता है। मोटे भाग (जो भाग झुकाव से ऊपर रहता है) को गर्भाशय का **गात्र** और पतले भाग को **ग्रीवा** कहते हैं (चित्र ११४)

गर्भाशय के ऊपर परिविस्तृत कला लगी रहती है; यह कला गर्भाशय से मूत्राशय पर चली जाती है (चित्र ११२; चित्र ४) वस्तिगह्वर के पार्श्वों से गर्भाशय परिविस्तृत कला की दो चौड़ी तहों द्वारा बंधा रहता है (चित्र १११ में भ); ये उस के चौड़े या पार्श्विक बंधन कहलाते हैं। पार्श्विक

चित्र १११ गर्भाशय, डिम्बप्रनाली, डिम्ब ग्रन्थि



ज=जरायु या गर्भाशय , भ=चौडा बधन यह बधन केवल एक ही ओर दर्शाया गया है।

डप=डिम्ब प्रनाली , डब=डिम्बग्रन्थि का बधन ब=जरायु का गोल बधन , ड=डिम्ब ग्रन्थि ; यह ग्रन्थि चौड़े बंधन की पिछली तह में रहती है जैसी कि चित्र में दाहिनी ओर दर्शायी गयी है। १=डिम्ब प्रनाली के मुख की झालर। छ=छिद्र जिसके द्वारा डिम्ब डिम्ब प्रनालो में पहुंचता है। म=जरायु का बहिमुंख। य=योनि

बंधन की दोनों तहों के बीच में गर्भाशय का अगला या गोल बंधन (चित्र १११ में व) रहता है जो उदर की दीवार में से हो कर वृहत् भगोष्ठ तक जाता है और वहीं रह जाता है। इन बंधनों द्वारा गर्भाशय अपने स्थान में स्थिर रहता है। जब ये बंधन खिचकर लम्बे और ढीले हो जाते हैं तब गर्भाशय अपने स्थान से हट जाता है ; इसको गर्भाशयस्थानच्युति या गर्भाशयस्थानभ्रंश कहते हैं; कभी कभी बजाय आगे को झुके रहने के वह पीछे को त्रिकास्थि की ओर झुक जाता है।

गर्भाशय भीतर से खोखला होता है (चित्र ११३)। समान्यतः उस के भीतर अधिक स्थान नहीं होता क्योंकि अगली और पिछली दीवारें क़रीब क़रीब एक दूसरे से मिली रहती हैं। गर्भस्थिति के पश्चात् उसकी समाई बढ़ने लगती है। गर्भस्थिति के पूर्व गर्भाशय छोटा होता है और वह वस्ति-गह्वर के भीतर रहता है। त्रिटप संधि (भग संधि) के ऊपर उसको उदर की दीवार में से स्पर्श करना कठिन है। जब गर्भस्थिति हो जाती है तो वह धीरे धीरे बड़ा होता है और तीसरे मास में उसका ऊपर का भाग [ऊर्ध्वांश] भग संधि तक आ जाता है और उदर की दीवार में से टटोल कर स्पर्श किया जा सकता है।

गर्भाशय के ऊपर के भाग में दाहिनी और बाईं डिम्ब प्रनालियों के मुख होते हैं (चित्र ११३)। गर्भाशय की दीवारें बहुत मोटी होती हैं और अनैच्छिक मांस से बनती हैं। मांस के बाहर परिविस्तृन कला रहती है। गर्भाशय के भीतर श्लैष्मिक कला रहती है जिसमें बहुत सी लम्बी लम्बी नल्या-कार ग्रन्थियां होती है।

डिम्ब प्रनाली

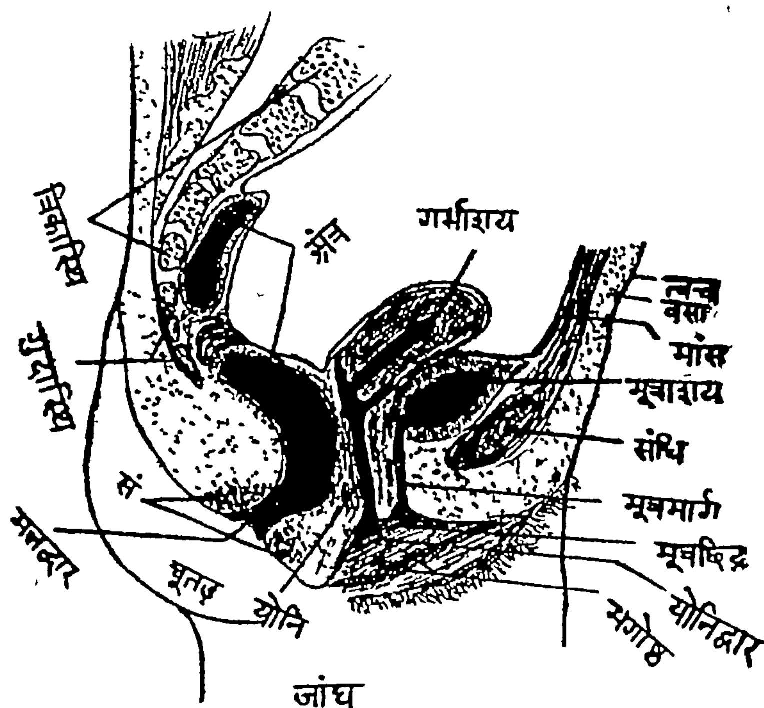
डिम्ब ग्रन्थियों की तरह डिम्ब प्रनालियां भी दो होती हैं एक दाहिनी दूसरी बाईं। यह नली गर्भाशय से आरंभ हो कर डिम्ब ग्रन्थि तक जाती है। डिम्ब प्रनाली गर्भाशय के चौड़े पार्श्विक बंधन के ऊपर के किनारे में बंधन की दोनों तहों के बीच में रहती है। डिम्बप्रनाली की लम्बाई ४ इंच के लगभग होती है, उस की मोटाई गर्भाशय के पास $\frac{१}{६}$ इंच और डिम्बग्रन्थि के पास $\frac{१}{३}$ इंच के लगभग होती है। नली भीतर से बहुत तंग होती है, गर्भाशय के पास नली का भीतरी व्यास $\frac{१}{२४}$ इंच और डिम्बग्रन्थि के पास $\frac{१}{१२}$ इंच के लगभग होता है।

डिम्ब प्रनाली का ग्रन्थि की ओर का सिरा फूला हुआ होता है और यहां छिद्र के चारों ओर एक झालर सी लगी रहती है (चित्र १११ में १)। डिम्बप्रनाली डिम्बग्रन्थि से जुड़ी हुई नहीं होती। केवल उस की झालर का कुछ भाग डिम्बग्रन्थि से मिला रहता है। जब डिम्बग्रन्थि से कोई डिम्ब निकलता है तब वह इस झालर के सहारे डिम्ब प्रनाली के छिद्र तक पहुंचता है।

डिम्ब प्रनाली की दीवार सौत्रिक तंतु और अनैच्छिक मांस से बनती है; भीतरी पृष्ठ पर श्लैष्मिक कला लगी रहती है। श्लैष्मिक कला में लम्बाई के रुख सलवटें या झोल पड़े रहते हैं। कला के पृष्ठ की सेलों में अंकुर (सेलांकुर) होते हैं जिनकी गति गर्भाशय की ओर हुआ करती है; इस

गति के कारण डिम्ब को गर्भाशय की ओर पहुंचने में सहायता मिलती है।

चित्र ११२ नारी वस्तिगह्वर (लम्बाई के रुख कटा हुआ)



योनि

यह वह मार्ग है जिस में से होकर मासिकस्राव वहा करता है; इसी में मैथुन के समय शिश्न प्रवेश करता है और इसी रास्ते से प्रसव काल बच्चा गर्भाशय से बाहर आता है।

वास्तव में योनि एक नली है जिसका ऊपर का सिरा वस्तिगह्वर में रहता है और गर्भाशय की ग्रीवा के नीचे के

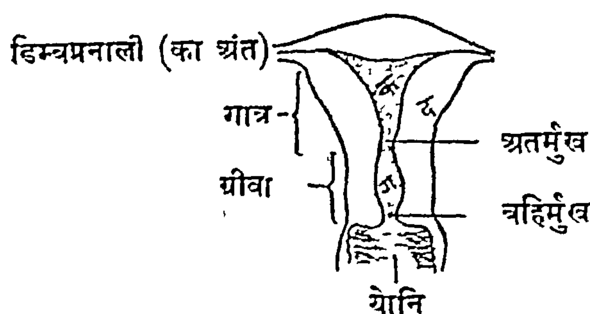
भाग के चारों ओर लगा रहता है, गर्भाशय का बहिर्मुख इस नली के भीतर रहता है (देखो चित्र ११२, ११३) ; नली का नीचे का सिरा खुला हुआ होता है और उस का छिद्र भग में भगोष्ठों के बीच में मूत्रवहिद्वार से $\frac{1}{2}$ इंच नीचे रहता है। अक्षतयोनि स्त्रियों में योनिद्वार का अधिक भाग योनि-च्छद नामक झिल्ली द्वारा बंद रहा करता है (देखो चित्र १०७, १०६) योनिद्वार से आरंभ होकर योनि ऊपर को और पीछे को त्रिक की ओर जाती है; गर्भाशय सामने की ओर झुका रहता है; इस कारण जहां योनि और गर्भाशय एक दूसरे से जुड़े रहते हैं वहां एक समकोण बनता है (देखो चित्र ११२)। चूंकि गर्भाशय की ग्रीवा का कुछ भाग योनि के भीतर रहता है (देखो चित्र ११२) इस कारण गर्भाशय के अगले ओष्ठ और योनि की अगली दीवार और पिछले ओष्ठ और पिछली दीवार के बीच में कुछ अंतर रहता है ; ये अंतर योनि के अग्र और पाश्चात्य कोण कहलाते हैं (चित्र ११२) पाश्चात्य कोण अग्र कोण से अधिक गहरा होता है।

योनि की लम्बाई तीन चार इंच होती है; उस के सामने की दीवार पिछली दीवार से कुछ कम लम्बी होती है (चित्र ११२)। योनि की दीवारें सौत्रिक तंतु तथा अनैच्छिक मांस से बनती हैं ; भीतरी पृष्ठ पर श्लैष्मिक कला रहती है।

योनि की दीवारें एक दूसरे से मिली रहा करती हैं ; इस से कोई चीज़ (कीड़ा, मकोड़ा इत्यादि) सहज में उसके भीतर नहीं पहुंच सकता। उस की लम्बाई और चौड़ाई

दबाव पड़ने पर अधिक हो सकती है। श्लैष्मिक कला का पृष्ठ सदा कुछ तर रहा करता है।

चित्र ११३
ऊर्ध्वांश



क = गात्र, ग = ग्रीवा ; द = दीवार,

योनि की अगली दीवार से कुछ दूर तक मूत्राशय की दीवार मिली रहती है। द्वार के पास योनि कुछ तंग होती है, बीच में चौड़ी होती है ; गर्भाशय के पास जाकर फिर तंग हो जाती है।

योनिद्वार पर योनि संकोचनी पेशी रहती है। योनि की दीवार में बहुत से शिरा जाल होते हैं जो मैथुन के समय रक्त से खूब भर जाते हैं ; इस की वजह से योनि की दीवार पहिले की अपेक्षा अधिक मोटी हो जाती है।

दुग्ध ग्रन्थि (चित्र ११४)

स्त्री के दो स्तन* या दुग्ध ग्रन्थियां होती हैं। ग्रन्थि कुछ कुछ अर्धगोलाकार होती है और वसा और त्वचा से ढकी

*पुरुष में भी स्तन होते हैं परन्तु वे बहुत छोटे होते हैं और उनमें सामान्यत दुग्ध नहीं बनता।

रहती है; उसके पीछे वसा और मांस पेशियां रहती हैं। ग्रन्थि दूसरी पर्शुका से छठी पर्शुका तक और उरोस्थि के किनारे से कक्षतलमध्य रेखा † तक फैली रहती है। ग्रन्थि के मध्य में एक शंक्वाकार या बेलनाकार उभार होता है जिस को **चूचुक** या **स्तन वृंत** कहते हैं। चूचुक के शिखर में दुग्ध स्रोतों के १२-२० छिद्र होते हैं। चूचुक मे कुछ मांस तंतु होता है; मलने से इस मांस के संकोच के कारण यह कुछ खड़ा (दृढ़) हो जाया करता है। चूचुक के चारों ओर एक गहरे रंग का घेरा होता है जिस को **स्तन मंडल** कहते हैं।

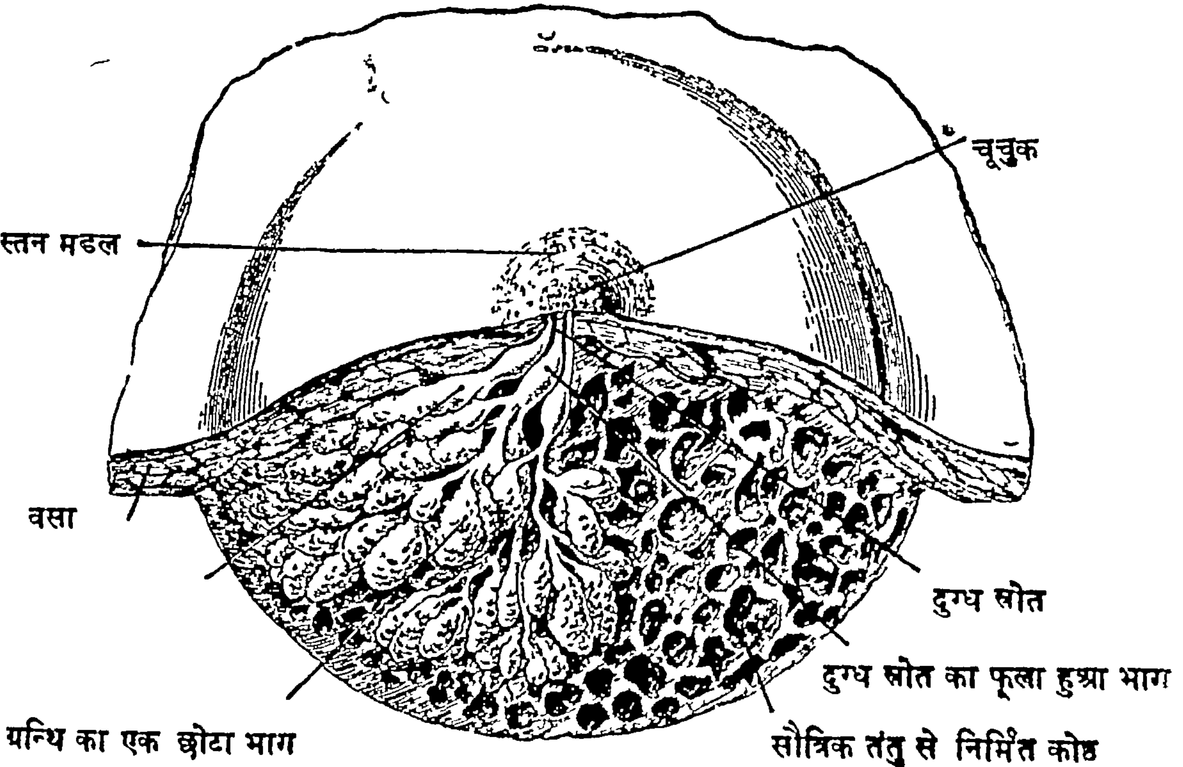
कुमारियों में स्तन छोटे होते हैं; ज्यों ज्यों कन्या जवान होती है और उसकी जननेन्द्रियां बढ़ती हैं त्यों त्यों ये ग्रन्थियां भी बढ़ती हैं। जब स्त्री गर्भवती होती है और जब वह अपने स्तनों से शिशु को दुग्ध पिलाती है तब ये ग्रन्थियां बड़ी हो जाती हैं।

कुमारी (जिस स्त्री ने कभी गर्भ न धारण किया हो) के स्तनमंडल का रंग हलका और कुछ गुलाबी मायल होता है; गर्भ के दूसरे मास में स्तनमंडल बड़ा हो जाता है और उस का रंग गहरा हो जाता है, अंत में वह कृष्ण वर्ण हो जाता है। जब स्त्री शिशु को दुग्ध पिलाना बंद करती है तब स्तन मंडल का रंग फिर हलका पड़ने लगता है परन्तु उतना हलका कभी नहीं होता जैसा कि गर्भवती होने के पूर्व था।

ग्रन्थि की स्थूल रचना चित्र ११४ में दर्शाई गई है।

† कक्षतल के मध्य से उरस्थल के पार्श्व पर खींची गई लम्ब रेखा

चित्र ११४ दुग्ध ग्रन्थि की स्थूल रचना (Luschka from Gray's Anatomy)



अध्याय ३०

आर्तव*

जब कन्या जवान होने लगती है तब उस की योनि से प्रति मास एक लाल तरल बहने लगता है; इस को **आर्तव** या **ऋतु** कहते हैं। आर्तव निकलने को कन्या का **रजस्वला** या **ऋतुमती** होना कहते हैं। आर्तव का पहिली बार निकलना **रजोदर्शन** कहलाता है। रजोदर्शन इस बात का चिह्न है कि कन्या अब जवान होने लगी है। रजोदर्शन के साथ साथ यौवन के और भी चिह्न दिखाई देने लगते हैं जैसे स्तनों का बढ़ना, कामाद्रि पर बालों का उगना। कन्या की मानसिक दशा में भी विचित्र परिवर्तन होने लगते हैं।

---

*सामान्यतः आर्तव, रज, ऋतु और शोणित ये चारों शब्द एक दूसरे के तुल्यार्थ माने जाते हैं। प्राचीन शास्त्रकारों ने रज और वीर्य या शुक्र और शोणित के संयोग से संतानोत्पत्ति भी मानी है। अब हम जानते हैं कि संतानोत्पत्ति वास्तव में शुक्रकीट और डिम्ब के परस्पर संयोग से होती है। अब प्रश्न यह उठता है कि उपरोक्त बात को जानते हुए (कि शुक्रकीट और डिम्ब के संयोग से उत्पत्ति होती है) आज कल रज और शोणित शब्दों के क्या अर्थ मानें? 'रज' और 'शोणित' शब्दों को आर्तव के तुल्यार्थ समझें या 'डिम्ब' के तुल्यार्थ? हमारी सम्मति में तो इन शब्दों को 'आर्तव' के तुल्यार्थ मानने की अपेक्षा 'डिम्ब' के तुल्यार्थ मानना ज़्यादा अच्छा मालूम होता है। सब से अच्छा तो शायद यह हो कि नवीन वैद्यकग्रन्थों में मासिक स्राव के लिये केवल 'आर्तव' और 'ऋतु' शब्दों का प्रयोग हो, 'डिम्ब' और 'रज' दोनों एक ही चीज़ मानी जावें और 'शोणित शब्द का बिलकुल प्रयोग न हो, इस से संदिग्धार्थता के होने की संभावना न रहेगी।

रजोदर्शन किस आयु में होता है

भारतवर्ष में रजोदर्शन १२, १४ वर्ष की आयु में होता है; कभी कभी १२ वर्ष के पूर्व भी हो जाता है। और कारणों को छोड़ कर रजोदर्शन इन बातों पर निर्भर है :—

१ जल-वायु—शीतप्रधान देशों में (जैसे यूरोप) ग्रीष्म प्रधान देशों की अपेक्षा रजोदर्शन देर में होता है (१४-१५ वर्ष की आयु में)।

२. सभ्यता, सामाजिक अवस्था, रहने सहने का ढंग, शिक्षा प्रानाली और परिस्थिति—जिन जातियों में लड़कियां बचपन से ही विवाहादि की बातें सुनती रहती हैं उन में रजोदर्शन शीघ्र होता है। चंचल मिज़ाज लडकियोंको भी रजोदर्शन शीघ्र होता है। अमीर घरों की लडकियों को जिन्हें शारीरिक परिश्रम तो कम करना पड़ता है परन्तु पौष्टिक और उत्तेजक भोजन खूब मिलता है ग़रीब घरों की लडकियों की अपेक्षा रजोदर्शन जल्दी हुआ करता है। निर्बल और अस्वस्थ लड़कियो को रजोदर्शन देर में होता है।

१२-१४ वर्ष की आयु से ४५-५० वर्ष की आयु तक स्त्री प्रति मास रजस्वला होती रहती है। जब गर्भस्थिति हो जाती है तब आर्तव बंद हो जाता है। और जब तक वह गर्भवती रहती है तब तक बंद रहता है। सामान्यतः वे स्त्रियां जो अपने बालक को अपने स्तनों से दुग्ध पिलाती है प्रसव के पश्चात् भी कई महीने तक रजस्वला नही हुआ करती।

४५ और ४६ वर्षों के बीच में आर्तव निकलना स्वाभाविक तौर से बंद हो जाता है ; इस को **रजोनिवृत्ति** कहते हैं।

रजोदर्शन से रजोनिवृत्ति तक उपरोक्त कालों को छोड कर (जब आर्तव बंद हो जाता है) स्त्री रजस्वला होती रहती है; सामान्यतः वह केवल इसी काल में गर्भधारण करने के योग्य होती है। असामान्य दशा में गर्भ रजोदर्शन के पूर्व या रजोनिवृत्ति के पश्चात् भी रह जाता है।

आर्तव कितने कितने दिन पीछे निकलता है

दो आर्तवों के बीच में बहुधा २८ दिन का अंतर रहा करता है। किसी किसी स्त्री को एक या दो दिन कम या अधिक लगते हैं। स्राव ३-४ दिन रहता है; कम से कम एक दिन और अधिक से अधिक ६ दिन लगा करते हैं। ६ दिन से अधिक स्राव का ठहरना बहुधा रोग का साक्षी है। बहुत थोड़े थोड़े दिनों के पीछे स्राव का होना (जैसे एक मास में दो बार होना) भी बुरा है।

आर्तव क्या चीज़ है

आर्तव रक्तमय स्राव होता है जो गर्भाशय से निकलकर आता है। रक्त में श्लेष्म मिली रहती है जिसके कारण वह शीघ्र जमने नहीं पाता। आर्तव की प्रतिक्रिया क्षारीय होती है और उसका रंग स्याही मायल लाल। श्लेष्म के अतिरिक्त उस में गर्भाशय तथा योनि के पृष्ठों की गिरी हुई सेलें भी होती है। उसमें खटिक यौगिक साधारण रक्त की अपेक्षा कुछ अधिक परिमाण में होते हैं।

आर्तव का परिमाण सब स्त्रियों मे एक सा नहीं होता। उस का परिमाण एक छटांक से तीन या चार छटांक तक कहा जा सकता है।

आर्तव कैसे निकलता है

आर्तव निकलने से पहिले गर्भाशय की श्लैष्मिक कला अधिक रक्तमय हो जाती है। अधिक रक्त के कारण कला पहिले से मोटी हो जाती है। अब रक्त केशिकाओं में से रक्त निकलकर कला में जगह जगह इकट्ठा हो जाता है। जगह जगह रक्त के इकट्ठे होने से श्लैष्मिक कला मुलायम और कुछ पिलपिली सी हो जाती है। फिर रक्त श्लैष्मिक कला में से हो कर बाहर निकलता है। कहीं कहीं पृष्ठ की सेलें रक्त के दबाव से गिर जाती हैं। जब रक्त निकल जाता है तो श्लैष्मिक कला सिकुड़ कर पूर्व दशा को प्राप्त होती है। गिरी हुई सेलों की जगह नई सेलें बन जाती हैं।

आर्तव निकलने के दिनों में शेष जननेन्द्रियों में भी कुछ परिवर्तन हुआ करता है। डिम्ब ग्रन्थि, डिम्ब प्रनालियां और योनि अधिक रक्तमय हो जाते हैं और उन का रंग गहरा हो जाता है। गर्भाशय का परिमाण भी कुछ बढ़ जाया करता है।

आर्तव निकलने के दो चार दिन पहिले से जब तक वह निकलता रहता है उस समय तक बहुत सी स्त्रियों की मानसिक और शारीरिक अवस्था में भी कुछ परिवर्तन हुआ करता है। आलस्य और अरुचि तो साधारण बातें हैं; कमर और कूल्हों और पेड़ू में कुछ भारीपन मालूम हुआ करता है; इन दिनों में कुछ स्त्रियों का स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है। कुछ स्त्रियों को विशेषकर उन को जो चंचल मिज़ाज होती हैं और जिन को अजीर्ण और क़ब्ज़ रहा करता है या जो अमीरी के कारण किसी प्रकार का शारीरिक व्यायाम

न करने के कारण स्थूलशरीर हो जाती हैं या जिन को जोशीली पुस्तकों और उपन्यासों के पढ़ने का अधिक शौक होता है रजस्वला होते समय पेड़ू, कमर और कूल्हों में बड़ी पीड़ा होती है और उनके हाथ पैर टूटा करते हैं।

मासिक स्राव क्यों होता है

इस प्रश्न का ठीक उत्तर न प्राचीन शास्त्रकार दे पाये और न अभी तक नवीन वैज्ञानिक दे सके। आजकल इस विषय में कई मत प्रचलित हैं। ऐसा मालूम होता है कि मासिक स्राव के शायद एक से अधिक प्रयोजन होंगे।

मासिक स्राव का डिम्ब के परिपक्व होने से कुछ सम्बन्ध अवश्य मालूम होता है क्योंकि मासिक स्राव अधिकतर तब ही होता है कि जब परिपक्व डिम्ब डिम्ब प्रनाली में आता है या आने वाला होता है। रजोदर्शन से पहिले बहुधा डिम्ब परिपक्व नहीं होते और रजोनिवृत्ति के पश्चात् डिम्ब ग्रन्थि सिकुड़ कर छोटी होने लगती है और डिम्ब का निकलना बंद हो जाता है; इन दोनों कालों में आर्तव बंद हो जाता है। मासिक स्राव का एक प्रयोजन यह भी मालूम होता है कि उस से गर्भाशय की श्लैष्मिक कला इस योग्य बन जावे कि उस में गर्भ चिपक सके।

परीक्षाओं और निरीक्षणों से यह बात सिद्ध हो गई है कि मासिक स्राव के पश्चात् का जो पक्ष होता है उस में स्त्री के गर्भवती होने की उस मास के शेष दिनों की अपेक्षा अधिक संभावना होती है; ज्यों ज्यों दिन गुज़रते जाते हैं और नये मासिक स्राव का काल निकट आता जाता है त्यों त्यों गर्भस्थिति की संभावना कम होती जाती है। इस से

यह स्पष्ट है कि गर्भाधान संस्कार के लिये मासिक स्राव बंद होने के पश्चात् के दस पंद्रह दिन उत्तम हैं। जब स्राव हो रहा हो उन दिनों में मैथुन करना न केवल एक मलिन क्रिया है प्रत्युत उस से दोनों व्यक्तियों के स्वास्थ्य को हानि भी पहुंचती है।

प्रति मास एक डिम्ब डिम्ब प्रनाली में पहुंचा करता है; यदि ठीक समय पर उस का शुक्रकीट से संयोग हो जावे तो गर्भस्थिति हो जाती है। यदि गर्भस्थिति न हो तो डिम्ब कुछ समय पश्चात् जीवित नही रहता।

गर्भस्थिति के पश्चात् स्त्री रजस्वला नहीं होती, गर्भ धीरे धीरे बढ़ता है और जितने दिनों के अंतर से वह स्त्री रजस्वला होती है उस से दस गुने दिनों में वह बच्चा जनती है। बहुत सी स्त्रियों का आर्तवकालांतर २८ दिन का होता है इसलिये बहुत से बालक २८×१०=२८० दिन में जने जाते हैं। यदि कालांतर २७ या २९ दिन का हो तो बालक २७० या २९० दिन में जन्म लेंगे।

मैथुन

इस क्रिया द्वारा पुरुष का शुक्र स्त्री की योनि में पहुंचता है। शिश्न मुंड और भगनासामुंड में सांवेदनिक कण होते हैं। जब यथा समय और विधि पूर्वक मैथुन होता है तो शिश्नमुंड योनि की दीवारों से रगड़ खाता है और भगनासा शिश्न के आरंभिक भाग से टकराता है (विटप सन्धि के पास के भाग से जब समस्त शिश्न योनि में प्रवेश कर जावे)। इस रगड़ का असर नाड़ियों द्वारा मस्तिष्क को पहुंचता है। इस रगड़ से स्त्री और पुरुष दोनों को एक विशेष प्रकार का आनंद

प्राप्त होता है। योनि की दीवारें एक श्लेष्ममय रस से तर रहती हैं ; यह रस कुछ तो उन दो ग्रन्थियों में बनता है जो योनिद्वार के पास योनि की दीवारों में होती हैं ; कुछ यह ऊपर से गर्भाशय की ग्रीवा की श्लैष्मिक कला से आता है। कभी कभी श्लेष्म अधिक बनता है; साधारण लोगों का मिथ्या विचार है कि यह चीज़ "स्त्री का वीर्य" है ; सत्य तो यह है कि इस वस्तु में संतानोत्पादक शक्ति नहीं होती ; इस का काम केवल योनि की दीवारों को तर रखना है जिस से शिश्न की रगड़ से योनि की श्लैष्मिक कला को कोई हानि न पहुंचे।

शिश्नमुंड गर्भाशय के मुख के समीप पहुंचता है या उस से मिल जाता है ; थोड़ी देर पीछे शुक्र बड़े वेग के साथ मूत्रबहिर्द्वार से बाहर निकलता है और गर्भाशय के मुख के पास ही योनि में गिरता है ; कभी कभी गर्भाशय इस शुक्र को उसी समय भीतर चूस लेता है। शुक्र निकलने पर मैथुन क्रिया का अंत होता है ; रक्त के लौट जाने के कारण शिश्न शिथिल हो जाता है। जब मैथुन ठीक ठीक होता है तो दोनों व्यक्तियों को एक विशेष प्रकार की संतुष्टता और तृप्ति प्राप्त होती है।

मैथुन का अभिप्राय केवल संतानोत्पत्ति है और संतानोत्पत्ति स्वजातीयरक्षा का मुख्य साधन है। जो काम स्वरक्षा या स्वजातीयरक्षा के लिये परमावश्यक हैं उन के साथ एक विशेष प्रकार का आनंद मिला रहता है ; इस आनंद को प्राप्त करने के लिये हम उन कामों को अवश्य करते हैं और सृष्टि का काम चलता रहता है। जितनी आवश्यक कोई

क्रिया होती है उतनी ही प्रबल उस काम के करने की इच्छा प्राणियों में होती है। स्वजातीय रक्षा एक परमावश्यक कार्य है इस कारण मैथुन की इच्छा दोनों व्यक्तियों में अत्यंत प्रबल रक्खी गई है; वास्तव में कभी कभी वह इतनी प्रबल होती है कि व्यक्ति अपने कर्तव्य को भूल जाता है और बुरे से बुरे काम करने के लिये तैय्यार हो जाता है और स्वरक्षा के नियमों का भी उल्लंघन करता है।

अधिक मैथुन से दोनों व्यक्तियों का स्वास्थ्य बिगड़ता है; उस को आनंद प्राप्ति का साधन समझना एक बड़ी भूल है।

गर्भाधान

योनि और गर्भाशय में शुक्राणु कई दिन तक जीवित रह सकते हैं। गर्भाशय से ये धीरे धीरे डिम्ब प्रनाली में पहुंचते हैं। शुक्राणु को डिम्ब से विशेष अनुकर्षण होता है, इस कारण जिस डिम्ब प्रनाली में डिम्ब होता है उसी में शुक्राणु घुसते हैं। केवल प्रबल शुक्राणु ही डिम्ब तक पहुंच पाते हैं, ये डिम्ब से चिपट जाते हैं और डिम्ब के चारों ओर लगी हुई सेलों में से हो कर उस के भीतर घुसने की कोशिश करते हैं [चित्र ११५ में (१)]। गर्भाधान के लिये केवल एक ही शुक्राणु की आवश्यकता समझी जाती है; इन बहुत से शुक्राणुओंमें से जो सब से प्रबल होता है वही डिम्ब के भीतर घुस पाता है। शुक्राणु और डिम्ब के संयोग को **गर्भाधान** कहते हैं गर्भाधान से जो चीज़ बनती है वही **गर्भ** है।

हर एक मैथुन क्रिया में शुक्र गर्भाशय के भीतर नहीं पहुंचता; वह बहुधा योनि से बाहर निकल जाता है। जब शुक्र भीतर रुके तब ही गर्भाधान हो सकता है। चूंकि गर्भाधान

के लिये केवल एक ही शुक्राणु की आवश्यकता है इसलिये शुक्र का ज़रा सा भाग भी भीतर रह जावे तब भी गर्भस्थिति हो जाया करती है। गर्भाशय, योनि और डिम्ब प्रनाली में शुक्राणु कई दिन तक जीवित रह सकते हैं इसलिये यह आवश्यक नहीं है कि जिस दिन मैथुन हो उसी दिन गर्भाधान भी हो ; अतः गर्भाधान मैथुन से कई दिन पीछे भी हो सकता है।

शुक्राणु अम्ल के प्रभाव से मर जाते हैं ; जब रोग के कारण स्त्री की योनि में अम्ल रस रहता है तब गर्भस्थिति नहीं हो सकती। आर्तव बंद होने के पश्चात् के दस पंद्रह दिनों में गर्भाधान के होने की और दिनों की अपेक्षा अधिक संभावना रहती है। जब दोनों व्यक्ति स्वस्थ और ठीक आयु वाले हों और गर्भाधान के इच्छुक हों, तब गर्भाधान शीघ्र हो जाता है।

सामान्यतः एक शुक्राणु का एक डिम्ब से संयोग होता है और एक गर्भ बनता है ; स्त्री एक दफ़े में एक ही बच्चा जनती है। कभी कभी एक ही साथ या कुछ दिनों के अंतर से दो शुक्राणुओं का दो डिम्बों से संयोग हो जाता है, तब दो गर्भ उत्पन्न होते हैं और स्त्री एक साथ या थोड़ी देर या कुछ दिनों के अंतर से दो बच्चे जनती है। कभी कभी दो से अधिक बच्चे भी पैदा होते हैं। मनुष्य में जब एक से अधिक बच्चे एक साथ पैदा होते हैं तो वे या तो शीघ्र मर जाते हैं या निर्बल रहते हैं।

कभी कभी दो शुक्राणुओं का एक डिम्ब से संयोग हो जाता है। ऐसे गर्भ से जो बच्चा उत्पन्न होता है उसके दो शरीर होते हैं जो आपस में जुड़े रहते हैं। ये अद्भुत बालक बहुधा अधिक काल तक नहीं जिया करते।

अध्याय ३१

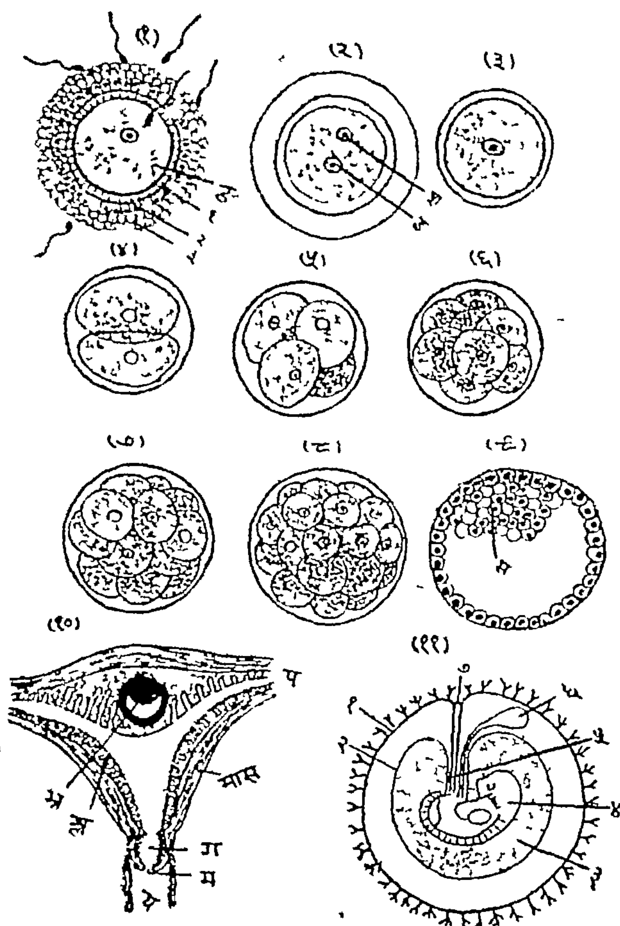
गर्भविज्ञान

गर्भाधान अर्थात् शुक्राणु और डिम्ब का संयोग अधिकतर डिम्ब प्रनाली में हुआ करता है ; कभी कभी गर्भाशय में भी हो जाता है शुक्राणु की मींगी (शिर) डिम्ब की मींगी से मिल जाती है और उस का जीवनमूल (शिर को छोड़ कर शेष भाग) डिम्ब के जीवनमूल में मिल जाता है; दोनों के मेल से बनी हुई सेल को **गर्भ-सेल** या **भ्रूण-सेल** कहते हैं [देखो चित्र ११५ में (१) (२) (३)]।

डिम्ब प्रनाली से चलकर भ्रूण-सेल शीघ्र ही गर्भाशय में आ जाती है और वहां श्लैष्मिक कला से चिपक जाती है। डिम्ब वेष्ट की सेलें [चित्र ११५ के (१) में १, २,३] गर्भाधान के पश्चात् भी कुछ दिनों तक बनी रहती हैं।

अब भ्रूण-सेल बीच में से फट जाती है और एक सेल से दो सेलें बन जाती हैं (चित्र ११५ में ४) ; फिर दो सेलों से चार सेलें बन जाती हैं (५) ; चार से आठ (६) और आठ से सोलह और सोलह से बत्तीस (७, ८) । फटने का यह सिलसिला जारी रहता है जिस के कारण एक छोटा सा गोल सेल--समूह बन जाता है (८) । इस सेल-समूह को **कलल** कहते हैं । जो सेलें कलल के बाहर के भाग में हैं वे उन सेलों की अपेक्षा जो उसके भीतरी भाग में हैं कुछ छोटी होती हैं। बाहर की सेलें भीतर की सेलों के चारों ओर एक प्रकार का वेष्ट बनाती हैं।

चित्र ११५ भ्रूण का वर्धन।



(१) गर्भाधान, ड=डिम्ब; १,२,३=डिम्ब वेष्ट। (२) श=शुक्राणु की मींगी, ड=डिम्ब की मींगी। (३) एक सेल का गर्भ। (४) दो सेलों का गर्भ। (५) चार सेलों का गर्भ। (६) आठ सेलों का गर्भ। (७) सोलह सेलों का गर्भ। (८) कलल। (९) बुदबुद; स=सेल। समूह। (१०) भ्र=भ्रूण, प=डिम्ब प्रनाली श्ल=श्लैष्मिक कला, ग=जरायु

ग्रीवा , म=जरायु का बहिर्मुख य=योनि । (११) १=अंकुरविशिष्ट आवरण, २=अंतरावरण ३=गर्भोदक ४=भ्रूण ५=नाल ६=पोषक पदार्थ की थैली ।

फिर इस कलल के भीतर एक खोखला स्थान बन जाता है ; धीरे धीरे इस स्थान में कुछ तरल इकट्ठा होने लगता है जिसके दबाव से बाहर की सेलें भीतर के सेल-समूह से परे हट जाती हैं (चित्र ११५ में ९ ; स =सेलसमूह) इस अवस्था और आकार का गर्भ **बुद्बुद** कहलाता है ।

एक सेल से इतनी सेलें बन गईं । प्रश्न उठता है कि इनके बनने के लिये सामान कहां से आया ? इसका उत्तर यह है कि गर्भाशय की श्लैष्मिक कला में एक गढ़ा बन जाता है जिसमें यह भ्रूण चिपक जाता है; कला में जो रक्त और लसीका रहता है उसी से भ्रूण की सेलों के बढ़ने के लिये सामान मिलते हैं ।

बुद्बुद के भीतर जो सेलसमूह है उससे गर्भ का शरीर बनता है और उसको ढांकने वाली झिल्लियों का भी कुछ भाग बनता है ; बाहर की जो सेलें हैं वे गर्भ के बनाने में कोई सहायता नहीं देतीं, उनसे केवल उसको ढांकने वाली झिल्लियां ही बनती हैं ।

गर्भाशय की श्लैष्मिक कला में परिवर्तन

गर्भधारण करने के पश्चात् यह कला मोटी होने लगती है , उसकी नल्याकार ग्रन्थियां अधिक लम्बी हो जाती हैं । श्लैष्मिक कला भ्रूण को चारों ओर से ढांक लेती है-देखो चित्र ११५ में (१०) ; यह समझना चाहिये कि भ्रूण के चारों ओर श्लैष्मिक कला का एक वेष्ट बन जाता है । अब गर्भाशय की कला **गर्भ कला** कहलाती है । जब गर्भ गर्भाशय से

बाहर निकलता है तब इस कला का अधिक भाग उखड़ कर बाहर निकल जाता है ; इस कारण इस कला को **पतनशील गर्भ कला** भी कहते है। इस उखड़ी हुई कला के स्थान में फिर नई कला बन जाया करती है।

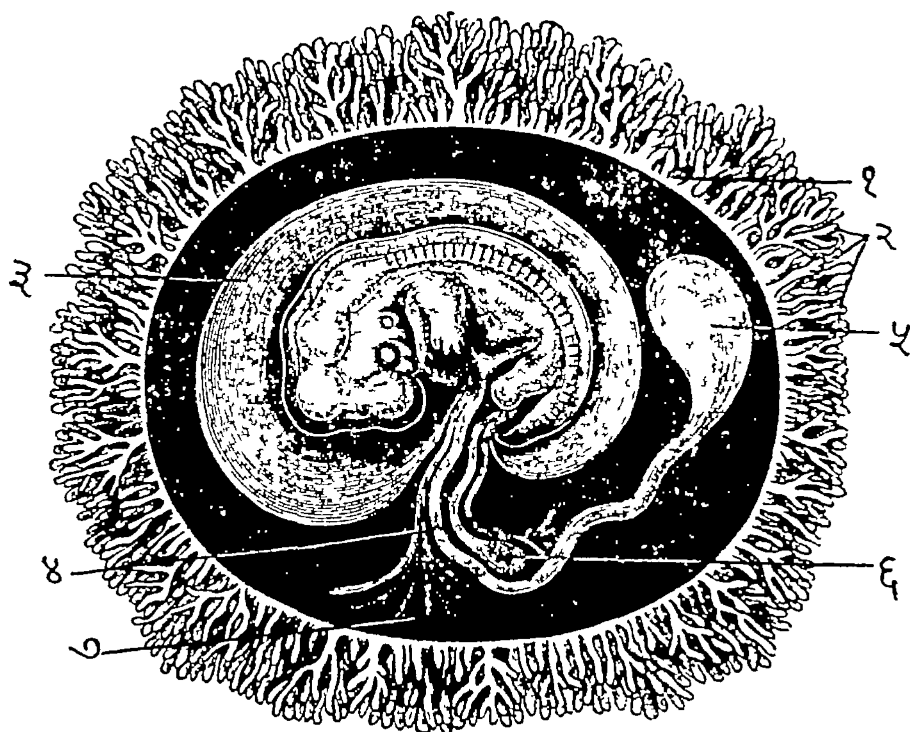
धीरे धीरे भ्रूण बड़ा होता है। उसके ऊपर सेलों तथा सौत्रिक तंतु से निर्मित दो आवरण बन जाते हैं। एक आवरण बाहर होता है और पतनशील गर्भ कला से मिला रहता है ; इसको **भ्रूण बाह्यावरण** (चित्र ११५ के ११ में १) कहते है। दूसरा आवरण इसके भीतर होता है ; इसको **भ्रूण अन्तरावरण** (चित्र ११५ के ११ में २) कहते हैं।

बाह्यावरण धीरे धीरे बढ़ कर मोटा हो जाता है और उसके बाह्य पृष्ठ पर बहुत से छोटे छोटे बाल जैसे अंकुर निकल आते हैं (चित्र ११५ में ११ ; चित्र ११६ में १, २)। इन अंकुरों द्वारा भ्रूण के लिये गर्भाशय के लसीका से पोषक पदार्थों का आचूषण होता है।

ज्यों ज्यों भ्रूण बड़ा होता है वह गर्भाशय के भीतर स्थान घेरता है। चित्र ११५ (१०) से विदित है कि भ्रूण अभी तक गर्भाशय की एक ही दीवार से लगा हुआ है और शेष दीवारें से बचा हुआ है ; जिस स्थान पर भ्रूण लगा रहता है वहां बाह्यावरण के अंकुर अधिक और घने बनते हैं, शेष स्थानों में ये छोटे और कम होते हैं। दूसरे मास के पश्चात् उस स्थान को छोड़ कर जहां भ्रूण दीवार से लगा हुआ है शेष स्थानों में अंकुर बनने बन्द हो जाते हैं और जो अंकुर बन चुके थे वे सिकुड़ कर छोटे होने लगते हैं और अन्त में जाते रहते हैं

और बाह्यावरण अंकुरहीन हो जाता है। परन्तु जहां भ्रूण लगा हुआ है वहां के अंकुरों की संख्या बढ़ जाती है और वे अधिक लम्बे और बड़े हो जाते हैं। गर्भ कला के इस भाग में छोटे छोटे गढ़े या आशय बन जाते हैं जिनके भीतर रक्त भरा रहता है। इन रक्तपूर्ण गढ़ों में बाह्यावरण के अंकुर डूबे रहते हैं।

चित्र ११६ ६ सप्ताह का गर्भ।



(Haeckel's Evolution of Man)

१=भ्रूणबाह्यावरण, २=अंकुर, ३=अंतरावरण, ४=नाल, ५=पोषक पदार्थ की थैली, ६=नाभिपुट (अंत्र पुट), ७=कमल के बनने का स्थान।

चौथे पांचवे सप्ताह में भ्रूण और उसके अन्तरावरण के बीच में कुछ द्रव इकट्ठा होने लगता है; इसको **गर्भोदक** कहते हैं (चित्र ११५, ११ में ३; चित्र ११६ में ३) गर्भोदक के दबाव से अन्तरावरण बाह्यावरण से जा मिलता है और उससे खूब चिपट जाता है। ६–८ मास तक गर्भोदक की मात्रा धीरे धीरे बढ़ती रहती है। नौवे मास में कोई सेर सवा सेर गर्भोदक इकट्ठा हो जाता है।

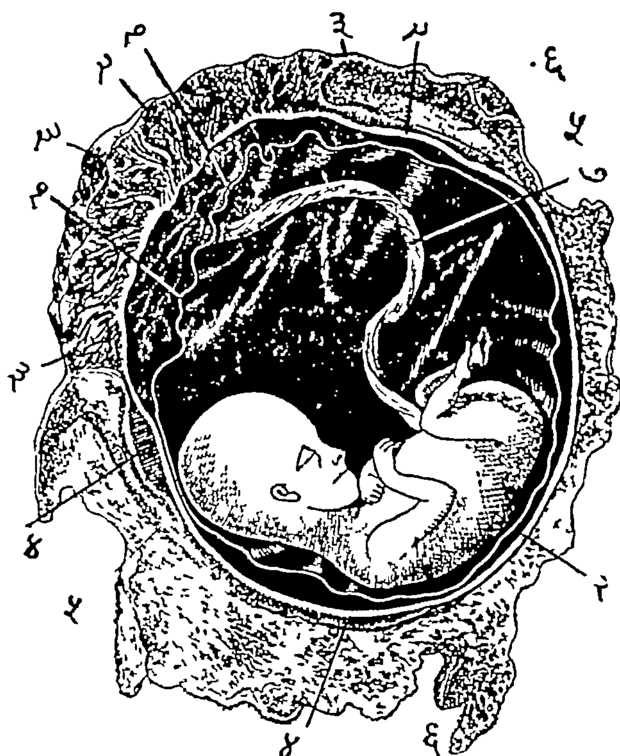
पहले गर्भकला का वह भाग जो भ्रूण के ऊपर है शेष गर्भकला से अलग रहता है, इसलिये गर्भाशय में गर्भ और उसकी दीवारों के बीच में कुछ अन्तर रहता है जैसा कि चित्र ११५ में १० से विदित होता है। भ्रूण के बढ़ने से उसके ऊपर की गर्भकला शेष गर्भकला के समीप पहुंचती जाती है और तीसरे मास में ये दोनों एक दूसरे से मिल जाती हैं; अब भ्रूण और गर्भाशय की दीवारों के बीच में कोई स्थान शेष नहीं रहता (चित्र ११७) गर्भोदक के दबाव से गर्भकला पतली हो जाती है और उसकी ग्रन्थियां जाती रहती हैं। गर्भाशय का मुख श्लेष्म के इकट्ठे होने से बन्द हो जाता है और बाहर से उसमें कोई चीज़ नहीं जा सकती।

नाल

भ्रूण गर्भाशय की दीवार से एक रज्जु द्वारा लटका रहता है; इस रज्जु को **नाल** या **नाभि नाल** कहते हैं। नाल एक ओर भ्रूण की नाभि से लगा रहता है और दूसरी ओर गर्भाशय से (कमल से); देखो चित्र ११७ में ७; चित्र १२६ में न; चित्र ११६ में ४। नाल कई नलियों के पास पास रहने

से बनता है (चित्र ११६) ; उस के मुख्य अव्यव दो धमनियां और एक शिरा होते हैं (चित्र १२६ ; चित्र ११६) इन

चित्र ११७ तीन मास का गर्भ (वास्तविक परिमाण)



(Haeckel's Evolution of Man)

१=भ्रूणांतरावरण २=भ्रूण वाहह्यावरण, जहां कमल वना है वहां यह आवरण अकुरविशिष्ट है (३) , शेष भाग अकुरहीन हैं।

३=कमल ; ४=यहां कहीं कहीं अकुरों के शेष भाग अभी मौजूद हैं।

५=गर्भ कला का वह भाग जो भ्रूण के ऊपर है ६=गर्भकला का वह भाग जो गर्भाशय की दीवार से लगा है। गर्भकला के दोनों भाग (५ और ६) अब एक दूसरे से मिल गये हैं और गर्भाशय में अब कोई स्थान शेष नहीं है। ७=नाभि नाल।

के अतिरिक्त और भी कई चीज़ें होती हैं (चित्र ११६, चित्र ११५)। ये सब चीज़ें एक लसदार पदार्थ से आपस में मिली रहती हैं और इन सब के ऊपर अंतरावरण का गिलाफ़ चढ़ा रहता है। नाभि नाल की लम्बाई सामान्यतः उतनी ही होती है जितनी कि भ्रूण की, कभी कभी यह बहुत छोटा या बहुत लम्बा भी होता है। रक्तवाहिनियां कमल में पहुंचकर अनेक सूक्ष्म शाखाओं में विभक्त हो जाती हैं। बाह्यावरण के हर एक अंकुर में ये छोटी छोटी शाखाएँ रहती हैं।

कमल (चित्र ११६ में ७, ११७ में ३, १२६ में क)

उस स्थान को जहां से भ्रूण नाल द्वारा गर्भाशय से लटका रहता है **कमल** कहते हैं, यह कमल गर्भकला से जिस से अंकुर विशिष्ट आवरण चिपटा रहता है बनता है। कमल में रक्त से भरे हुए बहुत से छोटे छोटे स्थान होते हैं, बाह्यावरण के अकुर इन्हीं रक्तपूर्ण स्थानों में डूबे रहते हैं। अकुरों के भीतर सूक्ष्म रक्त वाहिनियां रहती हैं।

कमल सामान्यतः गर्भाशय के गात्र में या तो ऊपर की ओर (ऊर्ध्वांश में) या उसकी अगली या पिछली दीवार में बनता है। कभी कभी वह गर्भाशय के अंतर्मुख के निकट बन जाता है, यहां बनना अच्छा नहीं क्योंकि प्रसवकाल अधिक रक्त के बहने से जननी की जान जोखो में रहती है।

गर्भाशय में भ्रूण का पोषण कैसे होता है

चौथे सप्ताह तक भ्रूण के बाह्यावरण में रक्तवाहिनियां नहीं बनतीं, इस समय तक भ्रूण आवश्यक पदार्थों को गर्भाशय की श्लैष्मिक कला के रक्त और लसीका से आचूषण क्रिया द्वारा ग्रहण किया करता है।

चौथे सप्ताह के पश्चात् गर्भकला में रक्त से भरे हुए गढ़े बनने लगते हैं और साथ साथ भ्रूण के वाह्यावरण में रक्तवाहिनियां भी बनने लगती हैं जिनमें रक्त बहता है। इन रक्त वाहिनियों में गर्भकला के गढ़ों के रक्त से आवश्यक पदार्थों का आचूषण होता है, रक्तवाहिनियों द्वारा ये पदार्थ भ्रूण के गात्र में पहुंचते हैं।

तीसरे मास में कमल अच्छी तरह बन जाता है, अब नाल की रक्तवाहिनियां केवल कमल के स्थान से ही पौष्टिक पदार्थों को ग्रहण करती हैं। माता के रक्त (जो गढ़ों में भरा रहतो है) और अकुरों की रक्तवाहिनियों के रक्त के बीच में रक्तवाहिनियों की पतली दीवारें और उनके ऊपर का वाह्यावरण रहता है, इन दीवारो तथा आवरण से निर्मित परदा इतना सूक्ष्म होता है कि उस में से घुले हुए पदार्थों का आचूषण भली प्रकार हो सकता है।

जब तक बच्चा गर्भाशय में रहता है तब तक वह स्वांस नही लेता, फुप्फुस अपना काम नहीं करते। फुप्फुस रक्तशोधक यंत्र हैं, इनके द्वारा शरीर ओषजन ग्रहण करता है और कओ$_2$ त्यागता है; जब ये काम ही नही करते तो बच्चे के रक्त में ओषजन कैसे पहुंचती है और कओ$_2$ कैसे बाहर निकलती है? जैसे पोषण का कार्य कमल द्वारा होता है वैसे ही श्वासोच्छ्वास का कार्य भी इसी अंग द्वारा होता है। जितनी ओषजन की आवश्यकता होती है उतनी माता के रक्त में से नाल की रक्तवाहिनियों में आ जाती है और जितनी कर्बनद्विओषित बाहर निकलनी होती है वह माता के रक्त में चली जाती है।

भ्रूण के शरीर में सेलों के काम करने से बहुत से मलिन पदार्थ भी बनते हैं, ये भी माता के रक्त में पहुंच जाते हैं।

कमल के कार्य

१. यह भ्रूणधारक अंग है, इस के द्वारा भ्रूण माता के शरीर से जुड़ा रहता है।

२. कमल द्वारा भ्रूण का पोषण होता है।

३. वह भ्रूण के लिये फुप्फुसों का काम करता है, अर्थात् कमल भ्रूण का श्वासोच्छ्वास यंत्र है।

४. उसी के द्वारा भ्रूण अपने मलिन पदार्थों को त्यागता है अर्थात् कमल रक्तशोधक यंत्र का काम देता है।

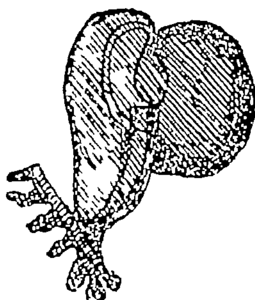
नाल में दो धमनियां और एक शिरा होती हैं। धमनियों द्वारा रक्त भ्रूण के शरीर से कमल में पहुंचा करता है, शिरा द्वारा शुद्ध रक्त जिसमें पौष्टिक पदार्थ रहते हैं कमल से भ्रूण के शरीर में वापस जाया करता है [देखो चित्र १२९ और १३०)।

गर्भ का वृद्धि क्रम

३-४ सप्ताह का गर्भ (चित्र ११९-१२०)

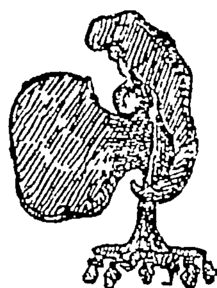
लंबाई लगभग $\frac{१}{३}$ इंच, भार $१\frac{१}{४}$ से $१\frac{१}{२}$ माशा तक, परिमाण चींटी के बराबर, एक सिरा मोटा होता है यहां शिर बनेगा, दूसरा सिरा पतला और नोकीला होता है इधर नाल लगा है और यहां टांगें बनेंगी। मुख के स्थान पर एक दरार दिखाई देती है। आंखों की जगह दो काले तिल हैं। शाखाओं के स्थान में नन्हें नन्हें उभार देख पड़ते हैं।

चित्र ११८ बारह पद्रह दिन का गर्भ । लम्बाई $\frac{१}{१२}$ इंच

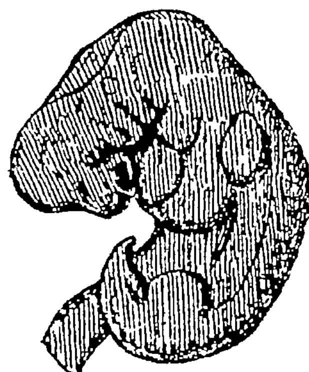


पोषक पदार्थ की थैली

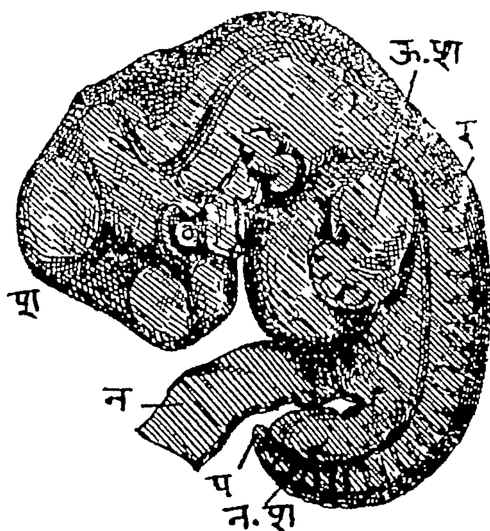
चित्र ११६, १८-२१ दिन का गर्भ । लम्बाई $\frac{१}{६}$ इंच



चित्र १२०, २७ से ३० दिन तकका गर्भ । लम्बाई $\frac{१}{३}$ इंच



चित्र १२१, ३१-३४ दिन का गर्भ । लम्बाई $\frac{१}{२}$ इंच के लगभग



चित्र १२२ : आयु ४२-४५ दिन : लंबाई $\frac{2}{3}$ इंच



६ सप्ताह का गर्भ

(चित्र ११६ और १२२)

लंबाई $\frac{1}{2}$ से १ इंच तक : भार ३ से ५ माशे तक। शिर और वक्ष अलग दिखाई देने लगे हैं ; शिर में चेहरा भी साफ़ साफ पहचान पड़ता है। नासिका, मुख, आंखों और कानों के छिद्र बन गये हैं। शरीर के मध्य में दोनों ऊर्ध्व शाखाएं दिखाई देती हैं ; हाथ में अंगुलियां बन गई हैं। अधो शाखाएं मलद्वार के पास हैं। कमल बनना आरंभ हो गया है। भ्रूण के बाह्य और अंतः आवरण अभी एक दूसरे से अलग हैं। भ्रूण के अक्षक और अधो हन्वस्थि के अस्थिविकाश केन्द्र उदय हो गये हैं।

दो मास का गर्भ (चित्र १२३)

लंबाई १$\frac{1}{2}$ इंच के लगभग ; भार ८ से २० माशे तक। आदि नासिका, ओष्ठ और आंखें देख पड़ती हैं। जननेन्द्रियां बनने लगी हैं परन्तु भ्रूण स्त्री है या पुरुष यह अभी नहीं कहा जा सकता। शाखाएं जो पहले धड़ से लगी हुई थीं अब उस से अलग हटी हुई दिखाई देती हैं। मलद्वार का चिह्न

चित्र १२३ ; आयु ६० दिन के लगभग लम्बाई १ इंच

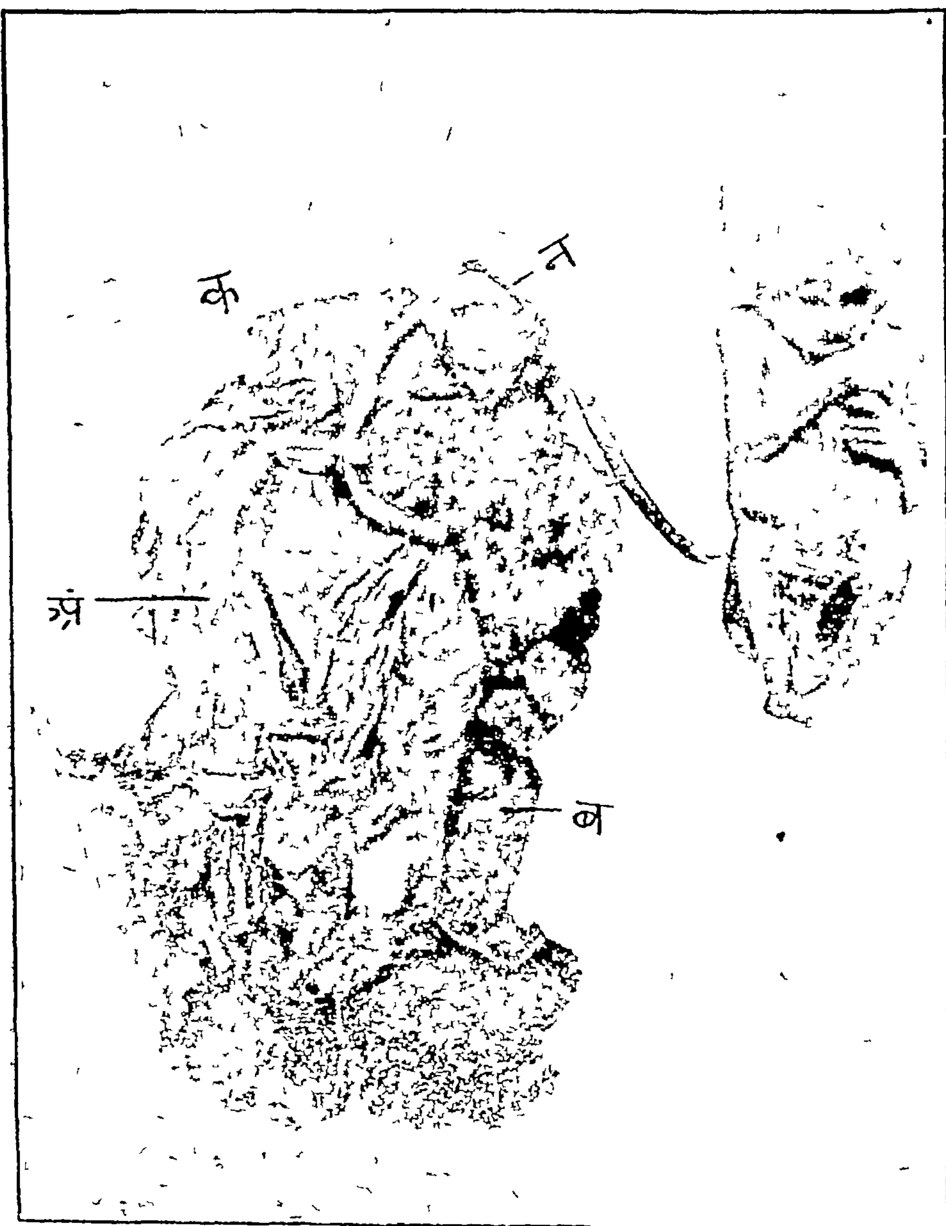


दिखाई देता है। आदि फुफ्फुस, सोहा, उपवृक्क देख पड़ते हैं। अंत्र का वह भाग जो नाल में चला गया था अब उदर में चला आता है। कमल के स्थान में भ्रूण के दोनों आवरण एक दूसरे से मिलने वाले है। नाल में वल या ऐंठन पड़ने लगे है। इन अस्थियों में अस्थिविकाश केन्द्र उदय हो गये है :—ललाटास्थि; पर्शुका, शाखाओं की लम्बी अस्थियों के गात्र ; करभ ; प्रपाद, स्कन्ध और नितंब अस्थियां।

३ मास का गर्भ (चित्र ११७, १२४)

लंबाई (टांगों को छोड़ कर) २-३ इंच; भार २½ छटांक के लगभग; शिर बहुत बड़ा होता है; पलक और ओष्ठ जुडे रहते हैं। अंगुलियां अलग अलग दिखाई देती हैं। भगनासा या शिश्न दिखाई देता है ; स्त्री है या पुरुष अब इस बात मे कोई संदेह नहीं रहता। थाइमस वा उपवृक्क ग्रन्थियां बन गई हैं। हृदय का क्षेपक कोष्ठ बन गया है। भ्रूण के ऊपर की गर्भकला गर्भाशय की शेष गर्भकला से मिल गई है (चित्र

चित्र १२४, ३ मास का नारी भ्रूण ($\frac{13}{14}$ × वास्तविक परिमाण)



११७)। कुछ और अस्थिविकाश केन्द्र उदय हुए हैं:—पश्चात् अस्थि, जतूकास्थि; नासास्थि, शंखास्थि। भ्रूणबाह्यावरण के अंकुर कमल के स्थान को छोड़कर और स्थानों से लुप्त होने लगे हैं। चित्र १२४ असली नारी भ्रूण का फोटो है; यह भ्रूण किंगज्योर्ज मेडिकल कौलेज के अनाटौमी विभाग में है; यह चित्र छोटे फोटोग्राफ़ से बड़ा कराया गया है इस कारण स्पष्टता कुछ कम हो गई है। इस भ्रूण की लम्बाई शिर से मलद्वार तक ३$\frac{1}{4}$ इंच के लगभग है; अधो शाखा की लम्बाई २ इंच है, ऊर्ध्व शाखा की लम्बाई २$\frac{1}{4}$ इंच है। क=कमल। ब=कमल का वाह्य पृष्ठ; यह बाह्यावरण के अंकुरों के कारण खुरदरा होता है। अं=भीतरी पृष्ठ, यह अंतरावरण से बनता है और चिकना और चमकदार है। न=नाल।

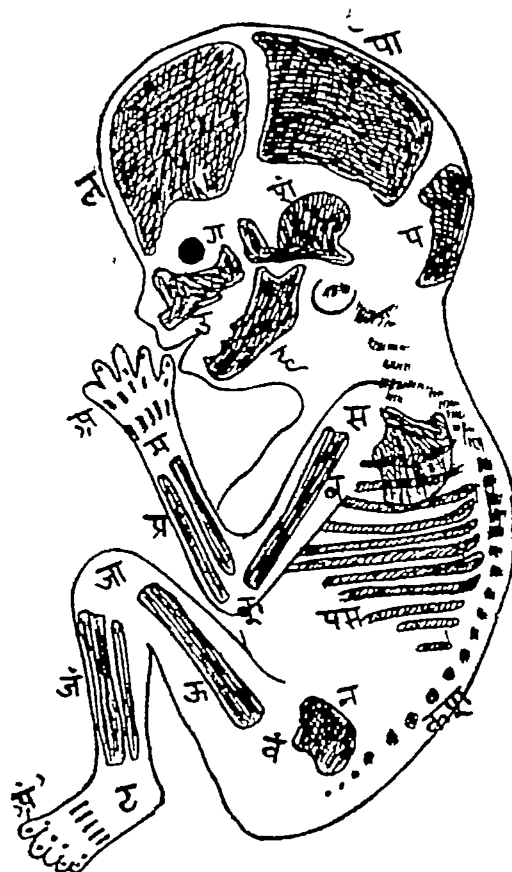
४ मास का गर्भ (चित्र १२६ में १५; चित्र १२५)

लंबाई २$\frac{1}{2}$ इंच के लगभग (टांगों को मिलाकर लंबाई ६ इंच के लगभग)। शिर की लंबाई कुल शरीर की लंबाई से चौथाई है। टटरी पर और कई और स्थानों में रोवां सा दिखाई देने लगा है। गर्भ का लिंग स्पष्ट है। हाथों और पावों में कुछ गति होने लगी है। नख बनने लगे हैं।

५ मास का गर्भ

शिर से पेड़ो तक लंबाई १० इंच के लगभग; भार $\frac{1}{2}$ सेर, सब शरीर पर बारीक बाल हैं। त्वचा पर एक चिकनी वस्तु बनने लगी है; इस वस्तु के कारण गर्भोदक भ्रूण को उपचर्म

चित्र १२५ चौथे मास के गर्भ का अस्थि पंजर (After Dixon)



व्याख्या —ल=ललाटास्थि ; पा= पार्श्विकास्थि , ग=गंडास्थि ; श=शंखास्थि , प=पश्चात् अस्थि ; ह=अधो हन्वस्थि ; उ=ऊर्ध्व हन्वस्थि ; कश=कशेरुका ; पस=पर्शुका ; व=प्रगंडास्थि ; प्र=प्रकोष्ठास्थि , अ=अंगुल्यस्थियां , न=नितंबास्थि ; ऊ=ऊर्वस्थि, ज=जंघास्थियां, अ=पादांगुल्यस्थियां ।

इस चित्र से यह स्पष्ट है कि लम्बी अस्थियों के सिरे जहां संधियां होती है बिलकुल कारटिलेज के है । खोपरी की अस्थियों के बीच में अभी अंतर हैं ; इन अंतरों में झिल्ली रहती है। स, कृ, म, व, जा, ट इन सब स्थानों में कारटिलेज ही है ।

को हानि नहीं पहुंचाता और इसके शरीर में प्रवेश नहीं कर सकता। यकृत अच्छी तरह बन गया है। अंत्र में कुछ मल इकट्ठा होने लगा है। शिर अब भी शेष शरीर के मुकाबले में बड़ा है। भ्रूण अब अच्छी तरह गतियां करने लगा है और माता इन गतियों को स्पष्ट रीति से प्रतीत करती है। नख साफ़ दिखाई देते हैं।

६ मास का गर्भ

शिर से ऐड़ी तक लंबाई १२ इंच; भार १ सेर के लगभग। त्वचा में सलवटें पड़ी हुई हैं कहीं कही त्वचा के नीचे वसा आ गई है। पलक अभी जुड़े हुए हैं; कनीनिका के सामने एक झिल्ली रहती है; भ्रु और पक्ष्मन् बनने लगे हैं। शिर के बाल और स्थानों की अपेक्षा अधिक लम्बे हैं। अंड उदर में वृक्क के पास हैं।

७ मास का गर्भ

लंबाई १४ इंच और भार १$\frac{१}{२}$ सेर के लगभग। अब त्वचा के नीचे पहले से अधिक वसा है। पलक एक दूसरे से अलग हो जाते हैं; कनीनिका के सामने रहने वाली झिल्ली लुप्त होने लगी है। अंड जो पिछले मास में उदर में वृक्क के पास थे अब कुछ नीचे उतर आए हैं और वंक्षण के पास पहुंचने वाले हैं शिर पर कोई $\frac{१}{४}$ इंच लम्बे बाल होते हैं। अंत्र में मल इकट्ठा हो गया है। इस मास के अंत में जने हुए बालक का यदि विशेष साधनों से पालन किया जावे तो उस का जीवित रहना संभव है; ऐसे बालक बहुधा मर ही जाया करते हैं।

८ मास का गर्भ

लंबाई १६—१७ इंच ; भार २ सेर के लगभग। वसा के इकट्ठा होने के कारण त्वचा की झुर्रियां जाती रही हैं। अब रोवां दिखाई नही देता। अंड अब वंक्षण में आ पहुंचे हैं। इस मास में जना हुआ बालक होशियारी से पालने पर जी सकता है।

९ मास का गर्भ

लम्बाई १८ इंच तक होती है भार $2\frac{1}{4}$–$2\frac{1}{2}$ सेर के लगभग। ऊर्वस्थि के नीचे के सिरे में अस्थि विकाशकेन्द्र उदय हो गया है। अंड बहुधा अंडकोष में पहुंच जाते हैं।

१० मास का गर्भ

लंबाई २० इंच के लगभग ; भार $3\frac{1}{4}$–$3\frac{1}{2}$ सेर के लगभग। शरीर पूरा बन गया है। हाथ की अंगुलियों के नख पोरवों से आगे निकले हुए हैं ; पैर की अंगुलियों के नख पोरवों तक ही रहते हैं, आगे नहीं बढ़े रहते। टट्टरी के बाल कोई १ इंच लम्बे होते हैं। अंड अंडकोष में हैं। नाल शरीर के मध्य से कोई $\frac{1}{2}$ इंच नीचे लगा हुआ है। यदि बालक जीवित उत्पन्न होता है तो वह ज़ोर से चिल्लाता है और यदि उस के ओष्ठों के बीच में कोई चीज़ दी जावे तो वह उस को चूसने की कोशिश करता है।

भ्रूण की आयु की उस की लम्बाई से निसबत

१. पांच मास तक के भ्रूण की लम्बाई इस प्रकार निकाली

चित्र १२६ । भिन्न भिन्न आयु के भ्रूण (वास्तविक परिमाण)



From Haeckel's Evolution of Man

अंकों से भ्रूणों की आयु (सप्ताह में) मालूम होती है
जैसे २=दो सप्ताह , १५=१५ सप्ताह

जा सकती है:—जिस मास के भ्रूण की आयु जाननी हो उस अंक का वर्ग करने से आयु शतांशमीटर में मालूम हो जावेगी; उदाहरण:—तीन मास के भ्रूण की लंबाई $३^{२} = ३ \times ३ = ९$ शतांशमीटर ; ४ मास के भ्रूण की लंबाई $४^{२} = ४ \times ४ = १६$ शतांशमीटर ।

२. पांच मास के पश्चात् लंबाई जानने के लिये मास के अंक को ५ से गुणा करना चाहिये ; लब्ध = भ्रूण की लंबाई शतांशमीटर में, उदाहरण:—७ मास के भ्रूण की लम्बाई $७ \times ५ = ३५$ शतांशमीटर । विविध आयु के भ्रूणों की औसत लंबाई इस तालिका में दी जाती है:—

लंबाई (सहस्रांशमीटर)	आयु (सप्ताह)	लंबाई (सहस्रांशमीटर)	आयु (मास)
३	२ $\frac{१}{२}$–३	१४०	४
५	३–३$\frac{१}{२}$	२२०	५
८	४–४$\frac{१}{२}$	३२०	६
२०	६–६ $\frac{१}{२}$	३७०	७
३०	८–८ $\frac{१}{२}$	४२०	८
८०	१२–१२$\frac{१}{२}$	४६०	९

गर्भाशय के परिमाण में परिवर्तन

ज्यों ज्यों भ्रूण बढ़ता है त्यों त्यों गर्भाशय भी बड़ा होता जाता है। पहिले तीन मास तक उस का परिमाण इतना ही होता है कि वह वस्तिगह्वर से ऊपर नही आता और भगसंधि से ऊपर उदर की दीवार में से वह स्पर्श नहीं किया जा सकता। तीसरे मास के अंत में उस का ऊर्ध्वांश भगसंधि से ऊपर उठने लगता है और होशियारी से टटोलने पर उदर की दीवार में से स्पर्श किया जा सकता है।

चौथा मास:—ऊर्ध्वांश भगसंधि और नाभि के बीच में पहुंच जाता है।

पांचवां मास:—गर्भाशय का ऊपर का सिरा नाभि से २ अंगुल (१ $\frac{१}{२}$ इच) नीचे रहता है।

छठा मास:—अब ऊर्ध्वांश नाभि तक पहुंच जाता है।

सातवां मास:—ऊर्ध्वांश नाभि से ३ अंगुल (२ $\frac{१}{४}$ इच) ऊपर रहता है।

आठवां मास:—ऊर्ध्वांश नाभि और उरोस्थि के नीचे के सिरे के बीच में रहता है।

नौवां मास:—अब वह उरोस्थि के नीचे के सिरे तक पहुंच जाता है।

दसवां मास:—इस मास में गर्भाशय कुछ नीचे को सरक जाता है और उसी स्थान में पहुंच जाता है जहां वह आठवें मास में था।

गर्भाशय की लम्बाई

सप्ताह	१६	२०	२४	२८	३२	३६	४०
लंबाई (इंचो में)	४	४.४	६.६	७ .८	८.७	९.३	१०

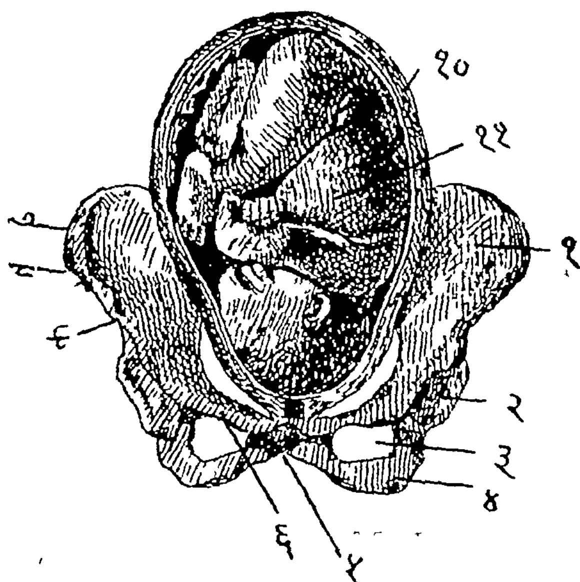
दसवें मास में गर्भाशय की लंबाई १० इंच होती है परन्तु भ्रूण की लम्बाई २० इंच होती है: फिर भ्रूण गर्भाशय में कैसे रहता है ?

इस का उत्तर यह है कि भ्रूण गर्भाशय में सीधा नहीं रहता ; और उसके हाथ पैर फैले नही रहते। उस की स्थिति ऐसी होती है कि वह कम से कम स्थान में आ सके। उस का शिर आगे को वक्ष पर झुका रहता है ; रीढ़ आगे को मुड़ी रहती है। दोनों जांघें उदर पर और टांगें जांघों पर मुड़ी रहती हैं। दोनों भुजा वक्ष पर और एक दूसरे के ऊपर मुड़ी रहती हैं। मुट्ठियां बंद रहती हैं। हथेली और अंगुलियों में (पोरवों को संधियों के सामने) जो रेखाएं पड़ी रहती हैं वह गर्भावस्था में त्वचा के मुड़ जाने से ही बनती हैं। कुल गर्भ संकुचित अवस्था में रहता है ; शरीर के मुडे रहने के कारण भ्रूण की शकल अंडाकार दिखाई देती है (देखो चित्र १२७)।

भ्रूणांडाकार की लम्बाई इस प्रकार होती है :—

सप्ताह	२६	२८	३०	३२	३४	३६	३८	४०
भ्रूणांडाकार की लम्बाई (इंचो में)	७ २	७ ६	७.९	८.३	८.८	९.२	९.५	९.६

चित्र १२७ भ्रूण की सङ्कुचित स्थिति (Jellet)

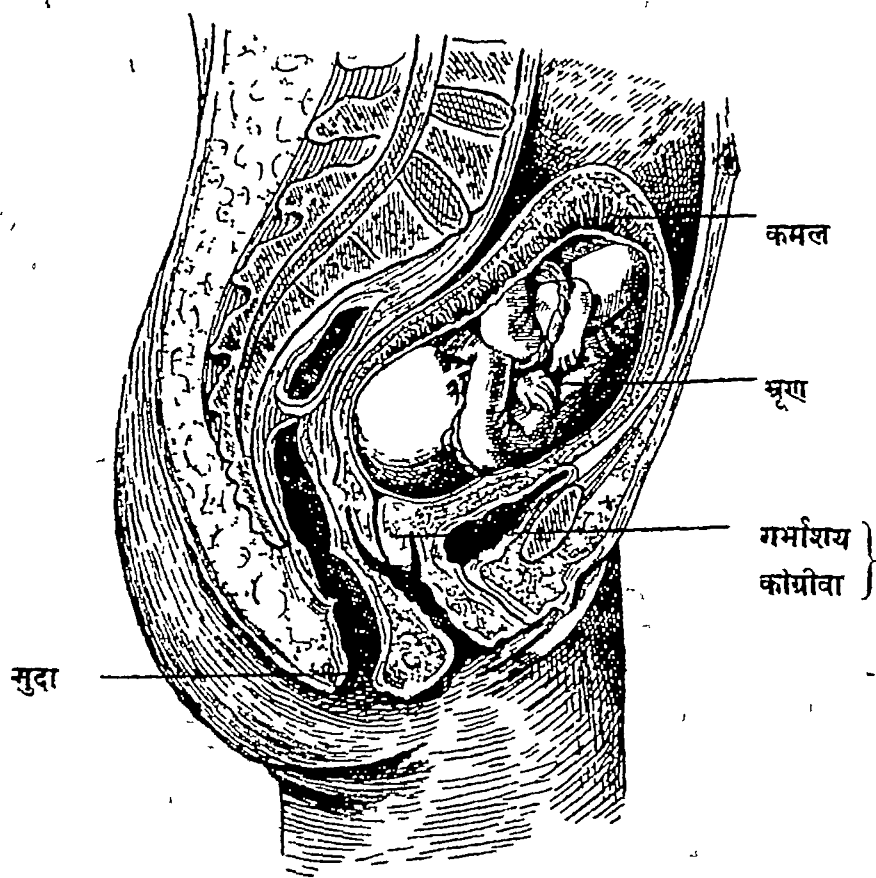


१=श्रोणि अस्थि २=वङ्क्षणोलूखल, यहा ऊर्वस्थि का शिर लगता है। ३=छिद्र ४=कुकुंन्दरास्थि का स्थूल भाग ५=भगसधि ६=भगास्थि का भाग ७=श्रोणि अस्थि का ऊपर का किनारा ; ८,९=ऊर्ध्व वा अधो कूट, १०=गर्भाशय ११=भ्रूण

यदि आप इन लम्बाईयों का गर्भाशय की लम्बाईयों से मुक़ाबला करें तो आप को ज्ञात होगा कि भ्रूणांडाकार की लम्बाई हर एक सप्ताह में गर्भाशय की लम्बाई से कम रहती है ; इस कारण भ्रूण गर्भाशय से लम्बा होने पर भी उस के भीतर अच्छी तरह रह सकता है।

गर्भ के पहले महीनों में जब भ्रूण छोटा होता है तब उस का शिर ऊपर को रहता है और धड़ नीचे को (गर्भाशय के मुख की ओर)। पिछले महीनों में शिर नीचे हो जाता है और चूतड़ ऊपर को (चित्र १२७)

चित्र १२८ छठे मास का गर्भ (Jellet)



प्रतिशत ९६ भ्रूणों की स्थिति इसी प्रकार होती है अर्थात् शिर नीचे रहता है और चूतड़ ऊपर को और वे शिर के बल ही जन्म लेते हैं; योनि से पहिले शिर निकलता है और चूतड़ पीछे निकलते हैं। कभी कभी शिर ऊपर रहता है और चूतड़ नीचे; तब बालक चूतड़ के बल जन्म लेता है अर्थात् सब से पहले चूतड़ बाहर आते हैं और शिर सब से

पीछे। कभी कभी प्रसव मे कंधे या पैर या हाथ भी पहले बाहर निकल आते हैं।

प्रसव के समय भ्रूण का जो भाग गर्भाशय के बहिर्मुख में पहले पहल अड़ता है अर्थात् जिस भाग के बल बच्चा जन्म लेगा वही उस गर्भ का उदय कहलाता है। शिर अड़ता है तो यह कहा जाता है कि शिरोदय है ; शिर में यदि मुख अड़ता है या टटोलने से मालूम होता है तो मुखोदय बतलाया जाता है ; इसी प्रकार शीर्षोदय (जब शिर का ऊंचा भाग दिखाई देता है, भ्रुउदय या ललाटोदय, स्फिक् उदय (स्फिक्=चूतड़) पार्श्वोदय, पादोदय होते हैं। शीर्षोदय सब से अच्छा होता है ; शेष प्रकार के उदय कष्टदायक होते हैं।

प्रसव

भ्रूण का माता के शरीर से बाहर निकल कर आना प्रसव कहलाता है। इस क्रिया में जननी को कुछ न कुछ पीड़ा बहुधा हुआ ही करती है। जो स्त्रियां हृष्ट पुष्ट होती हैं, जिन का स्वास्थ्य अच्छा होता है, जो किसी न किसी प्रकार का शारीरिक व्यायाम सदा करती रहती है, जिन के वस्तिगह्वर की अस्थियां अच्छी तरह से बनी हैं और वस्तिगह्वर विशाल है और उस के व्यास ठीक परिमाण के हैं, और जो शांति स्वभाव हैं उन को प्रसवपीड़ा कम होती है। जो स्त्रियां कमज़ोर होती हैं या जो थोड़ी उमर में (वस्तिगह्वर के अच्छी तरह बनने से पहले) बच्चा जनती हैं या जो बड़ी उमर में पहला बच्चा जनती हैं, जो अधिक अमीर होती हैं और कुशिक्षा के कारण किसी प्रकार का शारीरिक व्यायाम करना बुरा समझती हैं, जिनका वस्तिगह्वरचक्र तंग होता है या जिन

के वस्तिगह्वर की अस्थियां रोगों के कारण मुड़ जाती हैं; सभ्य जातियों की स्त्रियां जो प्रकृति के नियमों का अनेक विधियों से उल्लंघन करके अपने स्वास्थ्य को बिगाड़ना अपना धर्म समझती हैं; वा जो चंचल स्वभाव वाली होती हैं या जो प्रसव से बहुत डरती हैं—इन सब को प्रसव में अधिक दुःख होता है।

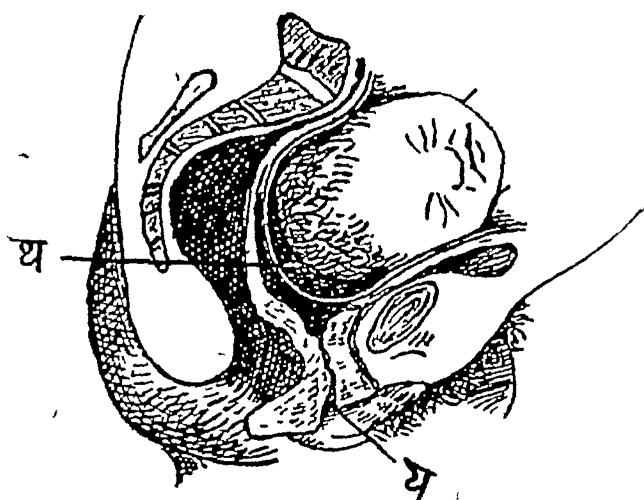
प्रसव के समय गर्भाशय का मांस संकोच करने लगता है। परन्तु वह एक दम नहीं सिकुड जाता; उस में धीरे धीरे थोड़ी थोड़ी देर के पीछे संकोच की लहरें उत्पन्न होती हैं और इन्हीं लहरों के साथ साथ जननी को पीड़ा होती है। मांस के संकोच से गर्भाशय की समाई कम होने लगती है। जो चीज़ें उस के भीतर हैं उनको स्थान चाहिये; गर्भाशय की समाई कम होने और उस की दीवारों का उन चीज़ों पर दबाव पड़ने के कारण वे उसमें से बाहर निकलना चाहती हैं। गर्भाशय के भीतर रहने वाली चीज़ें ऐसी है कि दबाव पड़ने पर उनका घनफल कम नहीं हो सकता। वायु से भरी हुई गेंद दबाने से दब जाती है क्योंकि वायु संकोचनीय पदार्थ है अर्थात् उसका घनफल दबाव पड़ने पर कम हो सकता है परन्तु यदि गेंद में जल भरा हो तो दो बातों में से एक बात होगी:—यदि गेंद में छिद्र है तो कुछ जल उसमें से बह कर निकल जावेगा; यदि छिद्र नही है तो अधिक दबाव पड़ने पर वह फट जायेगी क्योंकि उस के भीतर जो द्रव है उसका घनफल दबाव से कम नहीं किया जा सकता और जब गेंद की समाई कम होने लगी तब वह उसको फाड़ कर बाहर निकल आता है। ठोस चीज़ों का भी यही हाल होता है। गर्भाशय के भीतर बच्चे का शरीर है और तरल है; इनका घन-

फल दबाव से कम नहीं हो सकता : जब मांस के संकोच के कारण गर्भाशय की समाई कम होने लगती है तो ये चीज़ें उसके मुख में से होकर बाहर आने लगती हैं। यदि वस्ति-गह्वर की चौड़ाई कम हो जिस कारण बच्चा बाहर न निकल सके और गर्भाशय की समाई कम होती जावे तो उसकी दीवार कहीं से फट जावेगी और भ्रूण को हानि पहुंचेगी।

जब गर्भाशय की समाई कम होने लगती है तो गर्भोदक से भरी हुई झिल्ली एक थैली के रूप में गर्भाशय के मुख में अड़ जाती है। ज्यों ज्यों दबाव पड़ता है, मुख के आस पास का मांस जो पहले संकोच कर रहा था अब फैल जाता है और मुख धीरे धीरे चौड़ा हो जाता है (चित्र १२६)। थैली मुख में से होकर योनि के ऊपर के भाग में चली जाती है और स्पर्श की जा सकती है। गर्भोदक भरी थैली के दबाव से रास्ता इतना चौड़ा हो जाता है कि बच्चे का शिर बाहर निकल सके। जिस रास्ते से शिर निकल सकता है उसमें से होकर शरीर के किसी और भाग को (चूतड़ या धड़) निकलने में रुकावट नहीं हो सकती।

अब बच्चे का शिर गर्भाशय के फैले हुए मुख में आ अड़ता है। शिर के आगे तरल की थैली है (चित्र १२६ में थ) थैली तरल के दबाव को अधिक देर तक नहीं सह सकती और वह शीघ्र फट जाती है और गर्भोदक बह कर योनि से बाहर निकलने लगता है। झिल्ली के फटने से ज़रा सा रक्त भी निकला करता है। गर्भोदक से योनि और भग धुल जाते हैं और उसकी वजह से बच्चे को भी योनि में से निकलने में आसानी होती है।

चित्र १२६ गर्भोदक की थैली (Jellet)



थ=थैली , य=योनि । गर्भोदक की थैली जो शिर के नीचे है अपने दवाव से गर्भाशय के मुख को चौडा कर रही है और योनि के निकट जा पहुंची है ।

झिल्ली के फटने पर बच्चे का शिर, ग्रीवा, कंधे ऊर्ध्व शाखाएँ, उदर, चूतड़ और अधो शाखाएं सहज सहज बाहर आती हैं ।

बच्चे की नाभि से नाल लगा रहता है । नाल द्वारा वह कमल से जो अभी गर्भाशय से लगा हुआ है जुड़ा रहता है । नाल की लम्बाई बीस इंच के लगभग होती है । यदि आप उसको अंगुली से दवावें तो धमनियों का स्पन्दन मालूम होगा ।

जब शिर बाहर निकलता है तो दबाव के कारण वह भिचभिचा जाता है और उसकी आकृति ऐसी हो जाती है कि वह सुगमता से प्रसवपथ में से होकर निकल सके । खोपरी की अस्थियां अभी मुलायम होती हैं और उनकी

संधियां भी दृढ़ नहीं होतीं। दबाव के कारण पार्श्व, पश्चात् और ललाटास्थियों के पास पास के किनारे एक दूसरे के ऊपर चढ़ जाते हैं; मस्तिष्क भी अभी भली प्रकार नहीं बन पाया और उसकी दशा ऐसी है कि थोड़े से दबाव से उसको हानि नहीं पहुंचती। दबाव पड़ने से टटरी में रक्त इकट्ठा हो जाता है; यह स्थान बहुत उभरा हुआ और पिलपिला सा मालूम हुआ करता है। बच्चे के बाहर आने से कुछ देर पीछे रक्त लौट जाता है और उभार धीरे धीरे कम हो जाता है।

ज्यों ही बच्चा योनि से बाहर निकलता है त्यों ही वह ज़ोर से चिल्लाता है, इससे यह होता है कि वह स्वांस लेता है और वायु पहली बार उसके फुप्फुसों में प्रवेश करती है। यदि बच्चा चिल्लाये नहीं तो उसके मर जाने का डर रहता है। जब बच्चा मरा हुआ पैदा होता है तब भी वह नहीं चिल्लाता।

जन्म लेने के थोड़ी देर पीछे नाल में स्पन्दन बन्द हो जाता है। स्पन्दन बन्द होने पर (इससे पहले नहीं) नाल में दो बन्ध लगाने चाहियें एक बन्ध शिशु की नाभि से दो इंच की दूरी पर दूसरा माता के भग के पास। बन्ध लगाने के पश्चात् यह नाल दोनों बन्धों के बीच में परन्तु पहले बन्ध के पास से काट डालनी चाहिये। बन्ध लगाने के लिये शुद्ध डोरा और काटने के लिये शुद्ध चाकू या कैंची का प्रयोग करना चाहिये। डोरे और चाकू को शुद्ध करने की सहल विधि यह है कि उनको जल में थोड़ी देर उबाल लिया जावे; उबलते हुए जल की गरमी से रोगोत्पादक कीटाणु मर जाते हैं। धात्री को चाहिये कि वह नाल को छूने से पहले अपने हाथों को अच्छी तरह शुद्ध कर ले। नाल काटने के पश्चात् बच्चा माता के शरीर से अलग हो जाता है।

परिस्रव

नाल कटने के पश्चात् बच्चा माता के शरीर से अलग हो जाता है। कमल और भ्रूणावरण अभी गर्भाशय के भीतर ही हैं। सामान्यतः आध घन्टे के भीतर कमल गर्भाशय से अलग हो जाता है और फिर भ्रूणावरण सहित गर्भाशय से बाहर निकल आता है। इन दोनों चीज़ों के साथ साथ गर्भकला भी गर्भाशय से अलग हो जाती है। अब गर्भाशय में श्लैष्मिक कला का केवल वह भाग रह जाता है जो मांस से लगा हुआ है शेष सब भाग भ्रूणावरण के साथ उखड़ जाता है। बच्चे के जन्म लेने के पश्चात् जो लोथड़ा निकलता है उसको **परिस्रव** कहते हैं। परिस्रव के अवयव ये होते हैं:—कमल, भ्रूणावरण, गर्भकला और रक्त। जब ये झिल्लियां गर्भाशय से अलग होती हैं तब थोड़ा बहुत रक्त बहा करता है। यदि एक घन्टे के भीतर परिस्रव बाहर न आजावे या उसके बाहर निकलने के आसार दिखाई न दें, तब धात्री को उसके बाहर निकालने का यत्न करना चाहिये।

प्रसूता

बच्चा जनने के पश्चात् स्त्री प्रसूता कहलाती है और उस घर को जहां प्रसव हुआ है और जहां वह रहती है सूतिकागार कहते हैं। प्रसूता की परिचर्या किस प्रकार होनी चाहिये और सूतिकागार कैसा होना चाहिये इन बातों का वर्णन इस पुस्तक की सीमा से बाहर है इसलिये हम इस विषय को केवल एक दो बातें लिखकर समाप्त करेंगे।

प्रसव की पीड़ा और रक्त के बहने के कारण प्रसूता बहुत कमज़ोर हो जाती है और उस की स्वाभाविक रोगनाशक

शक्ति इस समय बहुत घट जाती है। इस कारण यदि उस की परिचर्या भली प्रकार और यथाविधि न हो तो उस को इस समय कई प्रकार के रोग सता सकते हैं। वास्तव में यह समय प्रसूता के लिये बहुत ही संकट और विषम है।

सूतिकागार स्वच्छ और वायुव्याप्त होना चाहिये ; सूर्य के प्रकाश के प्रवेश के लिये उस में खिड़कियां भी अवश्य होनी चाहियें। उस में किसी प्रकार का आड़कबाड़ न हो न वहां किसी प्रकार की दुर्गंध आती हो। जिस शय्या पर प्रसूता विश्राम करे वह टूटी फूटी न हो। बिस्तर बहुत स्वच्छ हो ; प्रसूता के पहनने के कपड़े भी साफ़ और सुथरे होने चाहियें। भग पोंछने के लिये मैले कुचैले कपड़े या गूदड़ का प्रयोग अत्यंत हानिकारक है। इस काम के लिये अत्यंत स्वच्छ धुला हुआ कपड़ा होना चाहिये। प्रसूता को उचित समय पर हलका शीघ्र पचने वाला पौष्टिक भोजन मिलना चाहिये। सूतिकागार के पास किसी प्रकार का शोर और भब्भड़ न हो ताकि उस की निद्रा में बाधा न पड़े। कोई काम ऐसा न करना चाहिये जिस से उसे रंज और फिकर पैदा हो।

प्रसव के पश्चात् गर्भाशय में परिवर्तन

परिस्रव निकलने के पश्चात् गर्भाशय धीरे धीरे अपने पूर्व परिमाण को प्राप्त होने लगता है। सामान्यतः १४–१५ दिनों में वह इतना छोटा हो जाता है कि वह वस्तिगह्वर में घुस जाता है। जब तक गर्भाशय वस्तिगह्वर में न पहुंच जावे उस समय तक स्त्री को बहुत चलना फिरना या शारीरिक परिश्रम न करना चाहिये। छठे सातवें सप्ताह में उस का

क़रीब क़रीब वही परिमाण हो जाता है जो गर्भधारण करने से पहले था।

गर्भाशय और योनि से १२—१४ दिनों तक थोड़ा थोड़ा द्रव बहा करता है। आरंभ में इस द्रव का अधिकांश रक्त होता है धीरे धीरे रक्त कम होता जाता है; तीन चार दिन पीछे इस स्राव का रंग भूरा सा हो जाता है; ६—७ दिन पीछे यह स्राव पीले से रंग का हो जाता है। इस स्राव में रक्त के अतिरिक्त गर्भाशय की कला की गिरी हुई सेलें और श्लेष्म भी होती हैं। स्राव में कुछ गंध आया करती है। यदि स्राव में सड़ाव की दुर्गंध आवे या उस की मात्रा शीघ्र ही कम हो जावे या वह बिलकुल बंद हो जावे तो इसकी चिकित्सा कराने में ज़रा भी बिलंब न करना चाहिये।

भ्रूण का रक्तसंचार* (चित्र १३० और १३१)

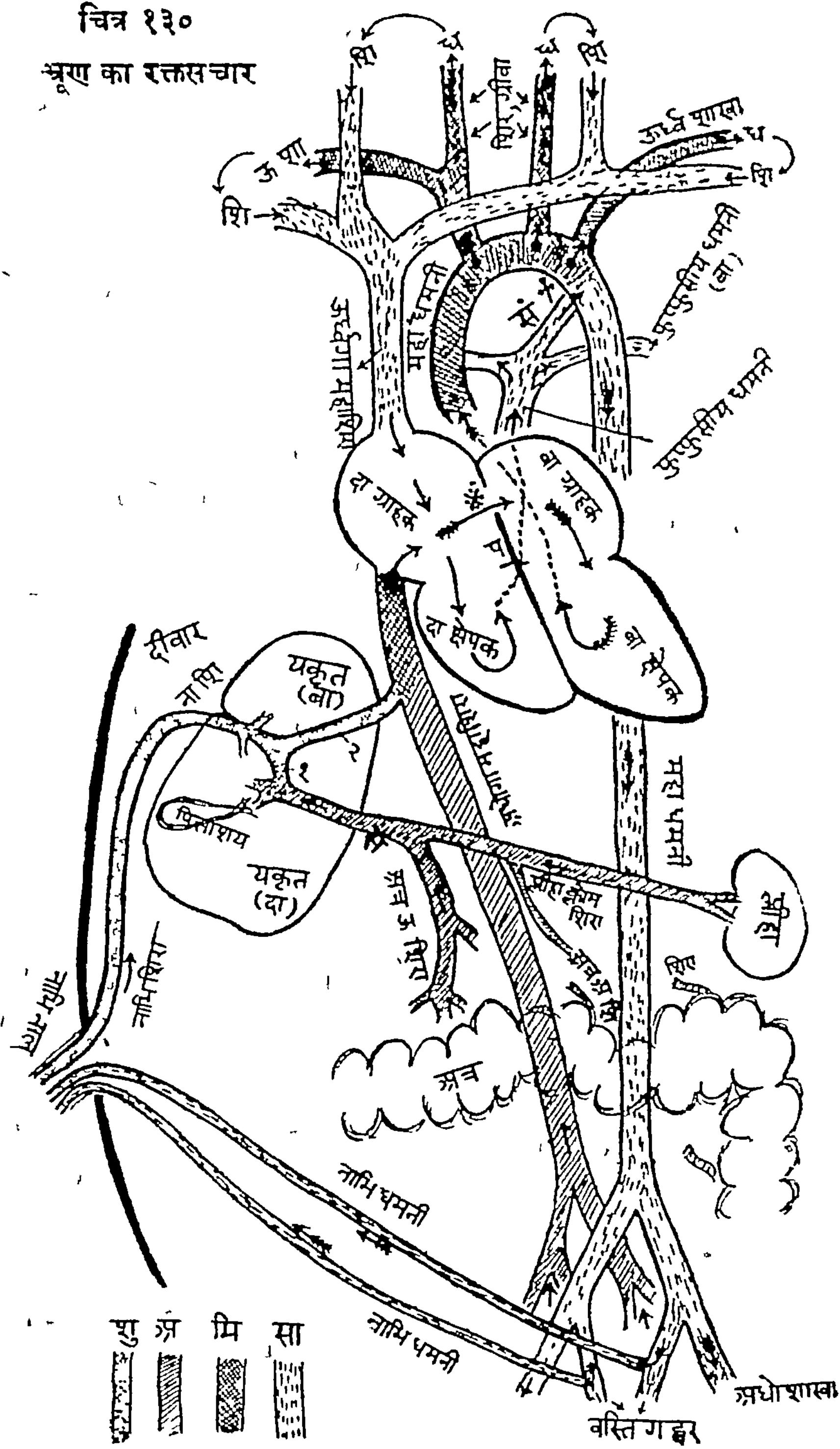
गर्भावस्था का रक्तसंचार जन्म लेने के पश्चात् के रक्तसंचार से भिन्न होता है। इस का कारण यह है कि गर्भाव-

* चित्र १३० की व्याख्या — जिधर को तीर की नोक है उधर ही को रक्त बहता है। जिन नलियों मे नन्हे बिन्दुक हैं (जैसे नाभि शिरा और शु) उनमें शुद्ध रक्त रहता है, जिन में तिर्छी समातर रेखाए हैं (जैसे अ, और अधोगामहा शिरा) उन में अशुद्ध रक्त रहता है, जहां खाने वने हैं (जैसे मि, और महाधमनी की महराव) वहा मिश्रित रक्त रहता है, जहां नन्ही रेखाएं वनी हैं (जैसे ऊर्ध्वगा महाशिरा, अधोगा महाधमनी) वहां का रक्त मिश्रित रक्त से कम शुद्ध परन्तु अधोगा महाशिरा के रक्त से अधिक शुद्ध रहता है।

प=ग्राहककोष्ठों के बीच का परदा, * = छिद्र, स=धमनी संयोजक। ध=धमनी, शि=शिरा।

चित्र १३०

भ्रूण का रक्तसंचार



स्था में भ्रूण के फुप्फुस काम नहीं करते और रक्त की शुद्धि कमल द्वारा होती है।

नाल एक ओर भ्रूणनाभि से लगा रहता है दूसरी ओर कमल से। उस में तीन रक्तवाहिनियां होती हैं दो धमनियां और एक शिरा। ये नाभि शिरा और नाभि धमनियां कहलाती हैं (चित्र १३१ में ध=धमनी, श=शिरा)। नाभिधमनियों द्वारा भ्रूणका अशुद्ध रक्त कमल में पहुंचता है और नाभिशिरा द्वारा शुद्ध रक्त कमल से लौट कर भ्रूण के शरीर में पहुंचता है (चित्र १३०)। भ्रूण की महाधमनी की अंतिम शाखाओं में से हर एक की दो बड़ी शाखाएं हो जाती हैं; इन में से एक शाखा वस्तिगह्वरस्थ अंगों का पोषण करती है दूसरी शाखा वंक्षण बंधन के नीचे होकर ऊरु में चली जाती है (चित्र १३० में वस्तिगह्वर और अधोशाखा)। वस्तिगह्वर वाली धमनियों से दो शाखाएं निकलती हैं ये नाभि धमनियां हैं (चित्र १३०, १३१)।

नाभिशिरा कमल से आरंभ होती है और नाल द्वारा नाभि में से हो कर उदर के भीतर घुसती है (चित्र १३०, १३१) और यकृत के अधोभाग में पहुंचकर कई शाखाओं में विभक्त हो जाती है। इन में से एक बड़ी शाखा संयुक्त शिरा से मिल जाती है (चित्र १३० में १), दूसरी शाखा अधोगामहाशिरा से जुड़ जाती है (चित्र १३० में २); शेष छोटी छोटी शाखाएं यकृत में घुस जाती हैं। इस प्रकार जो शुद्ध रक्त कमल से आता है उस का कुछ भाग संयुक्तशिरा द्वारा यकृत में पहुंचता है, कुछ सीधा यकृत में चला जाता है और कुछ भाग अधोगा महाशिरा में जाता है। जो शुद्ध रक्त

यकृत में जाता है वह याकृती शिराओं द्वारा अधोगामहाशिरा में पहुंचता है।

अब अधोगामहाशिरा में शुद्ध और अशुद्ध दोनों प्रकार का रक्त मिला हुआ है, शुद्ध रक्त नाभिशिराद्वारा आता है और अशुद्ध यकृत से और उदर और अधो शाखाओं से (चित्र १३०)। यह मिश्रित रक्त दाहिने ग्राहक कोष्ठ में पहुंचता है। **इस समय** दोनों ग्राहक कोष्ठों के बीच में रहनेवाले परदे में एक छिद्र होता है जिस के द्वारा दोनों ग्राहक कोष्ठ एक दूसरे से संबंध रखते हैं; अधोगामहाशिरा का मिश्रित रक्त ऊर्ध्वगामहाशिरा के रक्त से बिना मिले इस छिद्र में से होकर बाएं ग्राहक कोष्ठ में पहुंचता है (चित्र १३० में * ; प = परदा)। बाएं ग्राहक कोष्ठ से यह रक्त बाएं क्षेपक कोष्ठ में जाता है। ऊर्ध्वगामहाशिरा, का रक्त दाहिने क्षेपक कोष्ठ में जाता है। जब क्षेपक कोष्ठ सकोच करते हैं तो बाएं क्षेपक कोष्ठ का रक्त महाधमनी में और दाहिने क्षेपककोष्ठ का फुप्फुसीया धमनी में चला जाता है; फुप्फुसीया धमनी **इस समय** एक छोटी धमनी (चित्र १३० में सं) द्वारा महाधमनी की महराब से संबंध रखती है; यह धमनीसंयोजक महाधमनी से ऐसे स्थान पर जुड़ी हुई है कि जिस से ऊपर उस की तीन बड़ी शाखाएं निकल चुकी हैं (चित्र १३०)। जो रक्त बाएं क्षेपक कोष्ठ से महाधमनी को महराब में पहुंचता है वह हृदय में और तीन बड़ी धमनियों द्वारा शिर में और दोनों ऊर्ध्वशाखाओं में पहुंचता है और इन अंगों का पोषण करता है; शेष नीचे को अधोगामहा धमनी में चला जाता है। फुप्फुस इस समय काम नहीं करते इसलिये उनमें अधिक रक्त के जाने की आवश्यकता नहीं है; इस कारण जो रक्त

दाहिने क्षेपककोष्ठ से फुप्फुसीया धमनी में जाता है उस का अधिकांश धमनीसंयोजक द्वारा महाधमनी में चला जाता है और उस रक्त से जा मिलता है जो ऊर्ध्वशाखाओं तथा शिर की धमनियों में पहुंचने के पश्चात् शेष रह गया है। यह रक्त अधोगामहाधमनी की शाखाओं द्वारा शरीर के शेष अंगों का पोषण करता है ; उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि यह रक्त बहुत शुद्ध नहीं है। इस रक्त का कुछ भाग नाभि धमनियों द्वारा कमल में जाता है और वहां शुद्ध होकर और पौष्टिक-पदार्थ ग्रहण करके नाभिशिरा द्वारा लौट आता है। अधो-शाखाओं और उदर में महाधमनी की शाखाओं द्वारा पहुंचा हुआ रक्त अधोगा महाशिरा द्वारा दाहिने ग्राहक कोष्ठ में लौट जाता है ; यह शिरा रास्ते में नाभि शिरा से रक्त ग्रहण करती है। इस प्रकार रक्त चक्र सम्पूर्ण हो जाता है।

उपरोक्त वर्णन से ये बातें स्पष्ट हैं:—

१ यकृत में सब से शुद्ध रक्त पहुंचता है। गर्भस्थ बालक में यह एक परमावश्यक अंग होता है इस कारण इस को सब से शुद्ध रक्त मिलता है। जवान मनुष्य में यकृत का भार शरीर के भार का $\frac{१}{३६}$ वां अंश होता है,परन्तु शिशु में वह $\frac{१}{१८}$ वां अंश होता है अर्थात् वह बहुत बड़ा होता है।

२ शिर और ऊर्ध्व शाखाओं को यकृत से कुछ कम शुद्ध परन्तु और शरीर की अपेक्षा अधिक शुद्ध रक्त जाता है।

३ उदर और अधोशाखा को सब से कम शुद्ध रक्त जाता है ; इस रक्त का अधिक भाग एक बार ऊर्ध्व शाखाओं और शिर में हो आया है।

४. गर्भस्थ बालक और जवान मनुष्य के रक्तसंचालक अंगों में ये भेद होते हैं :—

(क) दोनों ग्राहक कोष्ठोंके बीच में रहनेवाला परदा अपूर्ण रहता है ; इस परदे में जो छिद्र होता है उस के द्वारा ये कोष्ठ एक दूसरे से सम्बन्ध रखते है (चित्र १३० में *)

(ख) फुप्फुसीया धमनी महाधमनी से सम्बन्ध रखती है ; इन दोनों को मिलाने वाली धमनी को धमनीसंयोजक कहते हैं (चित्र १३० में सं)।

(ग) भ्रूण के शरीर में दो नाभिधमनियां है और एक नाभिशिरा है। नाभिशिरा का संयुक्तशिरा और अधोगामहा-शिरा से संवध है।

चित्र १३१ नवजात शिशु



क = कमल ; न = नाल ; श = नाभि शिरा ; ध = नाभि धमनी ; वृ = वृक्क ; ह = हृदय . य = यकृत ; म = महाधमनी

अध्याय ३२

नवजात शिशु (चित्र १३१)

पैदा होते ही बालक श्वास लेता है और वायु पहली बार उस के फुप्फुसों में प्रवेश करती है। अब फुप्फुस रक्त की शुद्धि का काम करने लगते हैं इस कारण जो रक्त फुप्फुसीया धमनी से महाधमनी में जाया करता था वह अब वहां जाने के बजाय फुप्फुसों में ही जाता है। धमनीसयोजक सिकुड़ कर तंग होने लगती है और चौथे और दसवें दिनों के बीच में पूर्ण तौर से बंद हो जाती है और अब वह ठोस हो जाती है; इस बंद अर्थात् अप्रवेश्य धमनी को धमनीबंधन कहते हैं क्योंकि इस के द्वारा फुप्फुसीया धमनी महाधमनी से बंधी रहती है।

जन्म से दूसरे और पांचवें दिनों के बीच में नाभि शिरा और उस की शाखा भी बंद और अप्रवेश्य हो जाती है। नाभि-शिरा अब एक गोल रज्जु के समान हो जाती है और यकृत से नाभि तक लगी रहती है यही यकृत का गोल बंधन है (देखो पृष्ठ ७४)

दूसरे और पांचवें दिनों के बीच में नाभि धमनियां भी सूख कर रज्जु समान हो जाती हैं और उन में रक्त नही रहता अब इन का नाम नाभिबंधन हो जाता है।

ग्राहककोष्ठों के बीच के परदे में जो छिद्र है वह सामान्यतः दस दिन के भीतर बंद हो जाता है; कभी कभी एक सूक्ष्म छिद्र उमर भर बना रहता है।

चौथे और सातवे दिनों के बीच में नाल सूख जाता है और शरीर से अलग हो कर गिर पड़ता है। यदि काटते समय या सूख जाने से पहले उस में किसी प्रकार का मैल लग गया हो तो वह पक भी जाता है। नाल के पृथक हो जाने के पश्चात् उदर की दीवार में एक गढ़ा रह जाता है यही नाभि या सूंढ़ी है।

नवजात शिशु का भार ३-३ $\frac{1}{2}$ सेर के लगभग होता है। पहले वर्ष के अंत में भार तिगुना हो जाता है; दूसरे वर्ष में दो तीन सेर और अधिक हो जाता है। बालकों का भार उसी आयु की बालिकाओं के भार से कुछ अधिक हुआ करता है। यदि शिशु एक एक सप्ताह या पक्ष के पीछे तोला जावे तो इस बात का ठीक पता लग सकता है कि उस का वर्धन ठीक हो रहा है या नहीं। यदि कई सप्ताह तक तोल न बढ़े या कम होता जावे तो इस का कारण जानने में देर न करनी चाहिये।

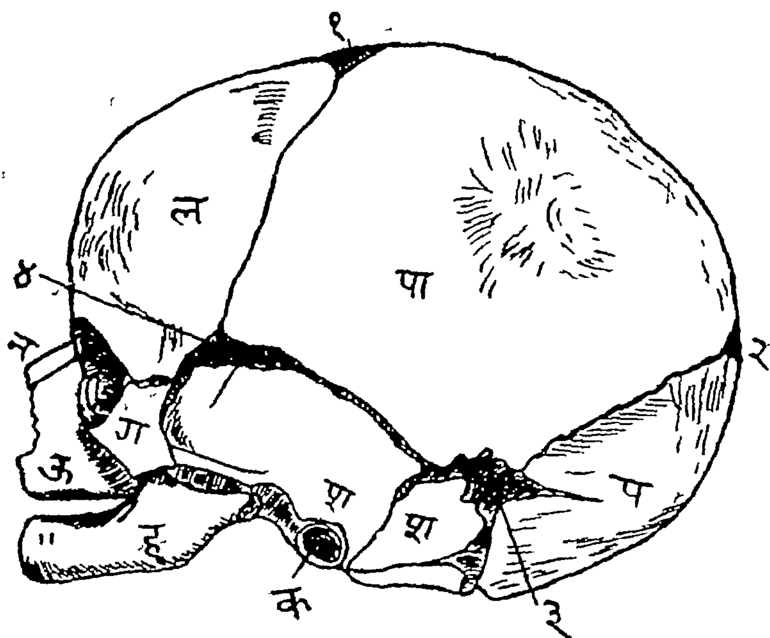
शिशु का कंकाल

कंकाल की अस्थियां अभी कोमल है, लम्बी अस्थियों के सिरे अभी कारटिलेज के है; कलाई की और पैर की कई अस्थियां अभी बननी भी आरंभ नहीं हुई। पाली भी अभी बिलकुल कारटिलेज की है। पुस्तक के पहले भाग के चित्र ३६ में नवजात शिशु की कुछ अस्थियां दर्शाई गई हैं।

खोपड़ी की अस्थिया भी अभी मुलायम है और पूरे तौर से नहीं बन पाई है। ६ स्थानों में तो अस्थि की जगह अभी झिल्ली ही है। दो स्थान खोपड़ी के ऊपर के भाग में मध्य रखा में हैं, चार स्थान उस के पार्श्वों पर है दो एक ओर और दो दूसरी ओर। जो ललाटास्थि और पार्श्विकास्थियो के बीच

में है उस को **पूर्व विवर (ब्रह्म रन्ध्रम्)**❀ कहते हैं; (चित्र १३२ में १) पश्चात् अस्थि और पार्श्विकास्थियों के बीच में **पाश्चात्य विवर (अधिपति रन्ध्रम्)** है (चित्र १३२ में २) जो विवर खोपड़ी के पार्श्व पर हैं वे **पूर्व पार्श्विक** और **पाश्चात्य पार्श्विक विवर** कहलाते हैं (चित्र १३२ में ३,४)।

चित्र १३२ नवजात बालक की खोपडी



१=ब्रह्म विवरम् २=अधिपति या शिव विवरम् ३=पूर्व पार्श्विक विवरम् ४=पाश्चात्य पार्श्विक विवरम् ल=ललाटास्थि , पा=पार्श्विकास्थि प=पश्चात अस्थि ; न=नासास्थि श=शंखास्थि , क=कर्णबहिद्वार ह=अधो हनु ; ऊ= ऊर्ध्वहनु गं=गंडास्थि

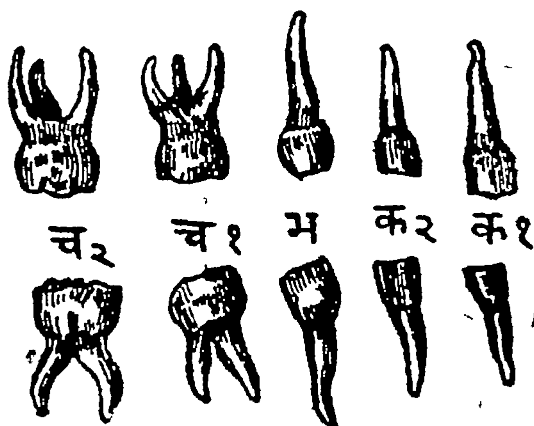
❀ ये प्राचीन नाम हैं। 'रन्ध्रम्' की अपेक्षा हम को 'विवर' शब्द अधिक शुद्ध मालूम होता है।

इन में से पूर्व विवर या ब्रह्मरंध्र चौखुंटा और सब से बड़ा होता है ; उस की लम्बाई १ $\frac{1}{2}$ इंच और चौड़ाई १ इंच के लगभग होती है; ज्यों ज्यों इस विवर के पास की अस्थियां बढ़ती हैं त्यों त्यों यह छोटा होता जाता है और झिल्ली की जगह अस्थि बन जाती है। दूसरे वर्ष के मध्य में वह विवर जाता रहता है। पाश्चात्य विवर और पार्श्विक विवर छोटे छोटे होते हैं और जन्म से एक दो मास पीछे जाते रहते हैं।

दंतोद्गम--दन्तोद्भेद

नवजात शिशु के दोनों हनुओं के भीतर २० पतनशील दांतों के शिखर मौजूद रहते हैं। धीरे धीरे ये दांत बढ़ते हैं और छठे सातवें मास में मसूढ़ों को छेद कर हनुओं से बाहर आने लगते हैं ; इन के बाहर निकलने को दंतोद्गम या दंतोद्भेद कहते हैं। सब से पहले नीचे के मध्यकर्त्तनक निकलते हैं, फिर ऊपर के मध्यकर्तनक, फिर ऊपर के बाह्य-कर्त्तनक, फिर नीचे के बाह्यकर्त्तनक। कर्त्तनकदंत निकलने

चित्र १३३ पतनशीलदंत



के पीछे ऊपर और नीचे के प्रथम चर्वणक (दो ऊपर और दो नीचे) निकलते हैं; तत्पश्चात् भेदकदंत या कीले निकलते हैं (दो ऊपर और दो नीचे)। सब से पीछे द्वितीय चर्वणक निकलते हैं। इस प्रकार दस दांत ऊपर होते हैं और दस नीचे। शिशु में केवल बीस ही दांत होते हैं:—आठ चर्वणक; चार भेदक, और आठ कर्त्तनक; तृतीय चर्वणक और अग्र-चर्वणक नहीं होते। ये सब दांत पतनशील हैं, छठे वर्ष में ये उखड़ कर गिरने लगते है और उन के स्थान में स्थायी दांत निकलते हैं।

पतनशील दंत के निकलने का समय

१. नीचे के मध्य कर्त्तनक	=	६ से ९ मास	तक
२ ऊपर के चारों कर्त्तनक	=	८ से १२ मास	तक
३. नीचे के बाह्यकर्त्तनक और अगले चार चर्वणक	=	१२–१४ मास	तक
४. भेदकदंत	=	१८–२४ मास	तक
५ पिछले चर्वणक	=	२४–३० "	"

१ वर्ष के शिशु के				६ दंत होने	चाहियें।	
$१\frac{१}{२}$ वर्ष	"	"	"	१२	"	"
२ वर्ष	"	"	"	१६	"	"
$२\frac{१}{२}$ वर्ष	"	"	"	२०	"	"

आत्शका शिशुओं में दंतोद्गम कुछ शीघ्र होता है। रिकेट्स* आदि रोगों में दंत कुछ देर में निकलते हैं।

* अंगरेज़ी भाषा

स्थायी दंत के निकलने का समय

प्रथम चर्वणक ,	४	=६	वर्ष
कर्त्तनक .	८	=७–८	वर्ष
अग्रचर्वणक ,	८	=६–१२	वर्ष
भेदक ,	४	=१२–१४	वर्ष
द्वितीय चर्वणक ,	४	=१०–१५	वर्ष
तृतीय चर्वणक .	४	=१७–२५	वर्ष

अधोदंत ऊर्ध्वदंत से पहले निकलते हैं। छठे वर्ष में हर एक हनु में २४ दंत होते हैं दोनों में ४८। इन में से २० पतनशील होते हैं और २८ स्थायी ; स्थायीदंत पतनशील दंत के नीचे रहते हैं या मसूढ़ों से ढ़के रहते हैं। २५ वर्ष की आयु में बहुधा हर एक हनु में १६ दंत होते हैं दोनों में ३२ ; कभी कभी बुद्धिदंत २५ और ४० वर्ष के बीच में निकला करते हैं।

अन्नमार्ग

आमाशय—नवजात शिशु के आमाशय की समाई $\frac{1}{2}$ छटांक के लगभग होती है ; तीन मास में यह कोई २ छटांक हो जाती है; छठे मास में ३ छटांक; एक वर्ष में ४$\frac{1}{2}$ छटांक के लगभग।

अंत्र—नवजात शिशु की क्षुद्र अंत्र की लम्बाई ६ फुट और वृहत् अंत्र की लम्बाई १$\frac{1}{2}$ फुट के लगभग होती है।

शिशु की गति

चौथे मास में शिशु चीज़ों के पकड़ने की कोशिश करने

लगता है। इस मास के लगभग उस का शिर धड़ पर सीधा टिकने लगता है।

सातवें आठवें मास में स्वस्थ शिशु कुछ समय तक अपने सहारे बैठने लगता है।

ग्यारहवें बारहवें मास मे वह थोड़ा सा सहारा मिलने पर खड़े होने की कोशिश करने लगता है।

चौदहवें पन्द्रहवे मास के लगभग वह चलना आरंभ करता है।

शिशु की ज्ञानेन्द्रियां

दृष्टि—नवजात शिशु के नेत्र इतने कोमल होते हैं कि वह अभी प्रकाश के तेज को नही सह सकते। तेज़ प्रकाश के प्रभाव से उस की आंखे तुरंत मिच जाती है। इस कारण कुछ सप्ताह तक उस को तेज़ प्रकाश से बचाना चाहिये। पहिले सप्ताह के अंत में उस की आंखें प्रकाश की ओर फिरने लगती हैं। नवजात शिशु के नेत्रों की पेशियां अभी ठीक ठीक और एक दूसरे के साथ काम नही करतीं, उस की आंखें जिधर घूमनी चाहियें उधर ठीक ठीक नहीं घूमती चौथे मास से उस की नज़र ठहरने लगती है और नेत्र की गतियां पहले की अपेक्षा अच्छी तरह होने लगती हैं। ६ मास की आयु का शिशु देखी हुई चीज़ों को कुछ कुछ पहचानने लगता है।

श्रवण—पैदा होने के २४ घंटे पीछे तक कभी कभी कई दिन तक शिशु को कुछ सुनाई नहीं देता। धीरे धीरे सुनने की शक्ति बढ़ती जाती है; फिर यह शक्ति इतनी प्रबल हो जाती है कि धीमे शब्द या आहट से भी वह जाग जाता है।

दूसरे तीसरे मास वह यह पहचानने लगता है कि शब्द किस दिशा से आता है; शब्द सुनकर वह अपना शिर उस दिशा की ओर मोड़ लेता है।

स्पर्श:—स्पर्श शक्ति कुछ न कुछ जन्म से ही मौजूद रहती है। ओष्ठों और जिह्वा की अपेक्षा जो चूसने के काम में आते हैं शेष शरीर में यह शक्ति कम होती है। तीसरे मास में यह शक्ति सब शरीर में उत्पन्न हो जाती है। गर्मी सरदी को वह खूब पहचान सकता है; जिह्वा में यह शक्ति सब से अधिक होती है। शिशु के माथे और कर्णांजली में स्पर्शज्ञान की शक्ति सब से ज़्यादा होती है।

स्वाद:—स्वाद पहचानने की शक्ति जन्म से ही बहुत अच्छी होती है। शिशु मीठी चीज़ों को अधिक पसंद करता है।

गंध—गंध पहचानने की शक्ति भी थोड़ी बहुत जन्म से ही होती है।

शब्दोच्चारण

पहले वर्ष के अंत में शिशु कुछ बोलने की कोशिश करने लगता है। दूसरे वर्ष के अंत में वह दो तीन शब्द मिलाकर बात कहने लगता है। सब से पहले वह मनुष्यों के नाम सीखता है; फिर चीज़ों के नाम सीखता है। यदि दो वर्ष का बालक कुछ बोलने न लगे तो इस का कारण जानना आवश्यक है।

अनुक्रमणिका वा परिभाषा

अनुक्रमणिका वा परिभाषा

हिन्दी	पृष्ठ	अंग्रेज़ी
नासा मध्य सुरंगा	२६५	Middle meatus of nose.
नासा रंध्र ..	२६०	Nostrils
नासा वंश	२६०	Bridge of nose
नासा सेतु	२६०	" "
नासिका	२६०	Nose
निकट दर्शनासामर्थ्य	२४६	Myopia
निकट दृष्टि	२४८	Hypermetropia
निश्चेष्ट	२११	Motionless, Paralysed.
नेत्रच्छद	२५२	Lid,
नेत्रच्छदिफलक	२२२	Orbital plate
नेत्रचालनी नाडी	१८१	Oculomotor nerve
नेत्रचालनी पेशी	२५०	Ocular muscle.
नेत्रनिमीलनी पेशी	२२१,२५२	Orbicularis Oculi
नेत्रफलक	२५१	Tarsal plate
नेत्राधरीय नाडी	२२१, २५१	Infraorbital nerve
नैतविका पेशी		Gluteus muscle
नैतविका महती	३२४	Gluteus maximus
नैतविका मध्यस्था		Gluteus medius
नैतविका लघवी		Gluteus minimus
प		
पतनशील गर्भकला	३७१	Decidua
पटहनाभि	२८३	Umbo
पर्शुकान्तरिक नाडी	१९०	Intercostal nerve
पर्य्याण्डिका	३२६	Tunica vaginalis
परावर्तित क्रिया	२२५	Reflex action
परिस्रव	३६५	Secundines, afterbirth